





## COLLECTION OF VARIOUS

- > HINDUISM SCRIPTURES
- > HINDU COMICS
- > AYURVEDA
- > MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

I creator of  
hinduism  
server!



## COLLECTION OF VARIOUS

- > HINDUISM SCRIPTURES
- > HINDU COMICS
- > AYURVEDA
- > MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

I creator of  
hinduism  
server!



# ध्यानयोग-प्रकाश

लेखक-६००-

श्रीमद्योगी लक्ष्मणानन्दस्वामी

प्रकाशक

मं० लखीराम शर्मा

मैनेजर वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद



४ ओडम् ॥

# द्युग्नियोगशकाह्वः ।

७५३५१५५५८५६६६६६

वेदवेदांगादिसच्छास्त्रप्रमाणालड्कतः  
स्वर्गनिविति—श्रीमद्योगिलक्ष्मणानन्द  
स्वामिना सम्प्रदितः

४० लखीराम शर्मणः प्रवृष्टेर्क  
शर्मा मैशीन प्रिन्थिङ अन्नार्थी  
मुद्रितः ।

प्रकाशकः—

मैनेजर वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद ।

अस्य अन्यस्याधिकारः प्रकाशयित्रा

स्वाधीन पव रक्षितः ।

डेट शुक्र सप्तमी सं १९७६ ।

हनीयवार १०००] मूल्यम् ५॥)

## मूचनाएँ ।

( १ ) प्रूफरीडर की गुलती तथा प्रेस के अध्यक्ष श्रीमान् पं० शङ्करदत्तजी शर्मा के राजनैतिक कार्य करते हुए जेल-जाने से प्रन्थ में कितनी ही श्रुटियाँ रह गई हैं जैसे २४६ से २५७ के दो फार्म आप देखेंगे परन्तु तो भी वह फार्म हमने ठीक कराकर लगवा दिये हैं इसी प्रकार २०४ की जगह १०४ छुप गया है ऐसी दशा में हम पाठकों से प्रार्थना करते हैं कि हमारे प्रेमी पाठक ठीक करके पढ़नेका कष्ट डठाईंगे और हमें इन श्रुटियों के लिये कमा करेंगे ।

### विनीत प्रार्थी

#### प्रकाशक

( २ ) इस प्रेस में संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी डर्क में बुकवर्क व जाववर्क जैसे रजिस्टर, बिल, रसीद, मीमो, प्रशंसापत्र, विवाहादिपत्र; लेटरपेपर, लिफाफा, कार्ड, विज़िटिंग कार्ड, बुन्डी आदि हर प्रकार के कार्य अति उच्चम फेन्सी शुद्ध और सस्ते हर किस्म की स्याही से रंग विरंगे छापे जाते हैं । एक घार अवश्य आज्ञामायश कीजियेगा ।

मैनेजिंग प्रोप्राइटर

शर्मा मैशीन प्रिंटिंग प्रेस मुरादाबाद

## ग्रन्थसङ्केताः

जिन ग्रन्थों के प्रमाण से यह "ध्यानयोगप्रकाश" नामक पुस्तक रचा गया है, उन सबकी प्रतीकों के संकेत नीचे लिखे अनुसार जाने।

ग्रन्थों के नाम तथा अङ्क ।

संकेत ।

ऋग्वेद = ( अष्टक, अध्याय वर्ग, मरडल, अनुवाक, सूक्त और मन्त्र )	}	ऋ०अ०अ०व०म०अ०स०म०
--	---	------------------

यजुर्वेद = ( अध्याय, मन्त्र )	}	यज० अ० म०
-------------------------------	---	-----------

अथर्ववेद = ( काण्ड, अनु- वाक, वर्ग, मन्त्र )	}	अथर्व०का०अ०व०म०
---	---	-----------------

योगदर्शन श्री पतञ्जलि मुनिकृत = ( पाद, सूत्र )	}	यो० पा० सू०
---	---	-------------

श्री ध्यासदेवकृत योगभाष्य	}	ध्या० भा०
---------------------------	---	-----------

श्रीस्वामी दयानन्द सर-	}	भ० प०
------------------------	---	-------

वस्ती प्रणीत—	}	भ० प०
---------------	---	-------

(१) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—	}	भ० प०
---------------------------	---	-------

(उपासना तथा मुक्ति विषय)	}	भ० प०
--------------------------	---	-------

जो सम्बत् ४३४ चिक्रमी में	}	भ० प०
---------------------------	---	-------

भासिक अङ्गे में छुरी थी भूमिका	}	भ० प०
--------------------------------	---	-------

पृष्ठ )	}	भ० प०
---------	---	-------

(२) सत्यार्थप्रकाश छितीयावृत्ति	}	स० प०
---------------------------------	---	-------

का जो सन्दर्भदर्शी में छुपा था	}	स० प०
--------------------------------	---	-------

( प० पृष्ठ, समुल्लास )	}	स० प०
------------------------	---	-------

ता आरम्भ	आ० दि०
दैश उपनिषद् ( मन्त्र )	ई० उ० मन्त्र
केन „ ( केन खण्ड, मन्त्र )	केन उ० रां० मं०
कठ „ ( चल्ली, मन्त्र )	कठ उ० घ० मं०
प्रश्न „ ( प्रश्न, मन्त्र )	प्रश्न उ० प्र० मं०
मुण्डक,, ( मुण्डक, खण्ड, मन्त्र )	मु० उ० सु० ख० मं०
तैत्तिरीय „ ( चल्ली, अनुवाक, मन्त्र )	तै० उ० घ० अ० मं०
इवेताश्वतर „ ( अध्याय श्लोक )	इवेता० उ० अ० श्लो०
न्याय दर्शन—( अध्याय, आन्हिक, सूत्र )	न्या० अ० आ० सू०
वैशेषिकदर्शन ( अध्याय, आन्हिक, सूत्र )	वै० अ० आ० सू०
सांख्यदर्शन ( अध्याय, सूत्र )	सांख्य० अ० सू०
भगवद्गीता ( अध्याय, श्लोक )	भ०गी० अ० श्लो०

टिपणी—वेदोक्त प्रमाणों में सर्वत्र श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती छात घेदभाष्य का ही आथर्व लिया गया है।

१५६ के बजाय १६५ छृपा हैं पृष्ठ २०४ के बजाय १०४ छृप गया है २५७ के बजाय पुनः २४६ ही छृपा हैं आगे वह ही सिलसिला है सो ठीक करके पढ़ियेगा।

# ध्यानयोगप्रकाश का सूची

विषय	पृष्ठ
ध्यानयोग नामक प्रथमोऽध्यायः	१—८०
प्रार्थना—	१
उत्थानिका	७
अनुवन्धचतुष्टय ( विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध )	८—१५
उपक्रम	१५
सूषितविद्या	१८
जगत् का कारण	१९
द्व्यागड्चक	२०
सोलह कला—	२४
पञ्चकलेश	२८
पांच मिथ्याज्ञान	३८
शक्तियां ओर अशक्तियां २८	३९
नव तुष्टियां	४१
= सद्वि } अणिमादि अष्ट सिद्धि	४१
शांकरमतानुकूल अष्ट सिद्धि	४०
षड्डृष्टक	४३
पिण्डचक्र	४१
पांच प्रकार के असत्ता भयक्तरं दुःख	४४
सूषितविनक्रम	४४
सूषि के २५ तत्त्व } सूषि के ३४ कारण तत्त्व } द्रव्यों के नाम और शुण	५० ५१

## विषयसूची ।

प्रारंभिक विद्या	५३
ऋगुचक	५४
तेतीस वेचता	५५
देहादिसाधनविद्यीन जीव अशक्त है	५६
ध्यानयोग की प्रधानता	५७
योगविषयक ईश्वराद्धा	५८
ब्रह्मज्ञानोपाय	५९
शरीर का स्थररूप में वर्णन	६०
जीव का कर्त्तव्य	६१
इन्द्रियादि ब्रह्मपर्यन्त वर्णन	६२
योगानुष्ठानविषयक उपदेश की आवश्यकता	६३
<b>कर्मयोग नाम द्विनीयाध्याय</b>	<b>८०—८१</b>
कर्म की प्रधानता	८०
पुरुषों को योगानुष्ठान की आका	८१
स्त्रियों को योगानुष्ठान की आका	८२
योगव्याख्या	८३
योग क्या है और कैसे प्राप्त होता है	८४
विस्त की वृत्तियाँ	८५
प्रथम वृत्ति	८५
विपर्ययवृत्ति	१००
विकल्पवृत्ति	१०१
लिङ्गावृत्ति	१०२
स्मृति वृत्ति	१०३
वृत्तियाम प्रथम	१०४
वृत्तियाम द्वितीय	१०५
ईश्वर का सज्जण और महस्त	१०६

## विषयसूची ।

श्रुतियाम तृतीय	
प्रणव ज्ञाय का फल	१०६
नव योगमल	१०८
योगमलजन्य विष्णवतुष्टय	१११
श्रुतियाम चतुर्थ	११३
श्रुतियाम पञ्चम	११४
प्राणायाम का सामान्य वर्णन	११४
अष्टांगयोग का वर्णन } अष्टांगयोग का फल } योग के आठों अंग } [१] यम प४प्रकारके } [२] नियम प४ प्रकार के	११७
यमों के फल	१२०
नियमोंके फल	१२३
यम नियमों के सिद्ध करने की सरलयुक्त	१२६
(क) शुणव्रय के लक्षण	१२७
[क] शुणव्रय को संभिर्याँ	१३०
(ग) चित्त की प४ अवस्था	१३२
[घ] चित्त के ३ स्वभाव	१३४
( ३ ) आसन की विधि	१३५
दृढ़ आसन का फल	१३६
[ ४ ] प्राणायाम क्या है } प्राणायामविषयक प्रार्थना }	१३७
प्राणायामचतुर्विध की व्याख्या	१३८
प्राणायामचतुर्विध की सामान्य विधि संक्षिप्त	१४१
प्राणायाम प्रथम की आदिम विधि ( धो घारणा )	१४२

## विषयसूची ।

१ प्रथम की अन्तिम विधि	१४३
प्राणायाम प्रथम की सम्पूर्ण विस्तृत विधि पुनरुक्त	१४४
प्राणायाम प्रथम के समस्त ग्यारहों अंगों का प्रयोजन	१४६
[ १ ] आसन का प्रयोजन	१४६
[ २ ] जिह्वा को तालुमें लगाने का प्रयोजन	१४६
श्वेतप्रणिधान अर्थात् समर्पण [ भक्ति ] योग } की पूर्ण विधि	१४७
चमक दर्शन [ रोशनी का निवेद्य ]	१५०
ध्याता ध्यान ध्येय आदि त्रिपुष्टियाँ	१५४
( ४ ) प्राण आदि वायु के आकर्षण का प्रयोजन तथा उसको ऊपर चढ़ाने और नीचे उतारने की कथा	१५५-१५६
( ५ मूलनाड़ी को ऊपर की ओर आकर्षण करने का प्रयोजन }	१५७
( ६ ) चित्त और इन्द्रियों को ध्यान के स्थान में स्थिर रखने का अभिग्राय }	१५८
( ७ ) प्रणव का मानसिक ( उपांशु ) जाप शोषण २ एक रस करने का अभिग्राय }	१६०
( क ) आवरण, लयता और निद्रा वृत्तियोंके ज्ञान की आवश्यकता }	१६१
( ख ) निद्रा में जीव और मन की स्थित ]	१६२
( ८ ) प्रणवजाप की विधि ]	१६२
( ९ ) ब्रह्माण्डादि तीन स्थान की धारणाओंका प्रयोजन ]	१६४
( १० ) प्राण को कम से ठहरा २ कर धोरे व भीतर दें जाने का अभिग्राय }	१६४

## विषयसूची ।

( १ ) अपने आत्मा को परमात्मा में लगा देने वेणुना स  
अभिप्राय

### ( क ) सप्त व्याहृति मन्त्र

प्राणायाम द्वितीय की विस्तृत विधि	१६६
प्राणायाम तृतीय की विस्तृत विधि	१७०
प्राणायाम चतुर्थ की विस्तृत विधि	१७२

धीं व्यासदेव तथा स्वामी दयानन्द	}	१७६
सरस्वती सम्पादित चारों प्राणायामों	}	
की विधि	}	
आश्चर्यदर्शन से चकित होकर योग के	}	
सिद्ध होने का निश्चय करना देवासुर	}	१८५-१८६
संग्राम	}	

प्राणायाम चीर्याकिर्णक अर्थात् ऊर्जरेता होने की विधि	१८७
प्राणायाम गर्भस्थापक अर्थात् गर्भाधानविधि	१८८
प्राणायामों का फल	१९१

( ५ ) प्रत्याहार	२०२
प्रत्याहार का फल	२०३
साधनचतुष्पथ मुक्ति के	२०४
पञ्चकोशव्याख्या	२०५

अवस्थात्रय	२१५
( १ ) शरीरत्रय ( वा शरीर चतुर्विधि )	२१७
( २ ) मुक्ति का द्वितीय साधन—चैराग्य	२१९
( ३ ) तृतीय साधन—शम्भादि प्रकसम्पत्ति	२२०
( ४ ) चतुर्थ साधन—मुमुक्षत्व	२२१

## विश्वसूची ।

नाम तृतीयाध्याय	२२१, ३३८
बन्दना	२२१
प्रार्थना [ मानस शिवसंकलण सहित ]	२२४, २२५
( ६ ) धारणा ( वेदोक्तप्रमाण सहित )	२३०
( ७ ) ध्यान	२४०
( ८ ) समाधि के लक्षण तथा भेद	२४०
समाधिका आनन्द समाधिविषयक मिथ्या विश्वास	} २४३
समाधि का फल	२४४
संयम	२४५
संयम का फल —	२४६
संयम इन्द्रियों की दिव्य शक्तियों में	२४७
संयम धनञ्जय वायु में	२५०
संयम सूत्रात्मा वायु में	२५१
वासनायाम की व्याख्या	२५२
शब्द की उत्पत्ति शब्द स्वरूप फल और लक्षण	२५४, २५५
शब्दवक्ता का माहात्म्य	२५६
( वासनायाम की विधि सर्वभूतशब्दशान )	२५८
ओक्तप्राप्ति की विधि विद्या और अविद्या के उपयोग से	२५९
( क ) विद्या और अविद्या चार २ प्रकार की	२५५
( ख ) सम्भूति और असम्भूति उपासना का निषेध	२५७
मोक्षप्राप्तिकी विधि सम्भूति और असम्भूतिके उपयोगसे	२५८
( ग ) विद्या और अविद्या के विपरीत	२५९
उपयोग में हानि	}
( घ ) अविद्याजन्य पांच क्लेश	२५०

## विषयसूची ।

मोक्षप्राप्ति अद्विद्यादि कल्पना के नाश से	२५२
मोक्षप्राप्ति अद्विद्या के रूप वीज के नाश से } मोक्षप्राप्ति बुद्धि और जीव की शुद्धि से } मोक्षप्राप्ति विवेक नाम ज्ञान से }	
मोक्ष का लक्षण	२५३
मोक्ष विषयक वेदोक्त प्रमाण } मोक्षप्राप्ति [ मुक्त ] जीवों को अग्निमादि } मोक्ष का अधिकारी अधर्मी नहीं होता } आत्मघाट—जीवात्मज्ञान } परमात्मज्ञान } विज्ञानोपदेश—योगी का कर्त्तव्य } उपास्य देव कौन है } शुरु शिष्य का कृत्य } योगी के गुण } परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये } ब्रह्मविद्या का उपदेश करने की आवा } शुरु शिष्य का परस्पर वर्ताव } याग सब आश्रमों में साधा जा सकता है } वेदोक्त तीर्थ } अग्निहोत्रादि वहों का अनुष्ठान संन्याशम् } से अतिरिक्त तीनों आश्रमों में कर्त्तव्यधर्म है } } २५४	
मानस ज्ञानवज्ञ	२५५
ब्रह्मचर्य	
ब्रह्मविद्या का अधिकारी कौन है और कौन नहीं } आद्वार विषयक उपदेश } २५६	
	२५७
	२५८
	२५९
	२६०
	२६१
	२६२
	२६३
	२६४
	२६५
	२६६
	२६७
	२६८
	२६९
	२७०
	२७१
	२७२
	२७३
	२७४
	२७५
	२७६
	२७७
	२७८
	२७९
	२८०
	२८१
	२८२
	२८३
	२८४
	२८५
	२८६
	२८७
	२८८
	२८९
	२९०
	२९१
	२९२
	२९३
	२९४
	२९५
	२९६
	२९७
	२९८
	२९९
	३००
	३०१
	३०२
	३०३
	३०४
	३०५
	३०६
	३०७
	३०८
	३०९
	३१०
	३११
	३१२
	३१३
	३१४
	३१५
	३१६
	३१७
	३१८
	३१९
	३२०
	३२१
	३२२
	३२३
	३२४

विषयसूची ।

वदाने का उपदेश	३२७
योगभ्रष्टमनुष्य पुनर्जन्म में भी योगरत होता है	
भरण समय का ध्यान	३३१
मरण समय की प्रार्थना	३३२
योगी के उपयोगी नियम	३३३
ग्रन्थसमाप्तिविषयक प्रार्थना	३३५
निजबृत्तान्त	३३८



\* ओ३म् \*

तत्सत्परब्रह्मणे परमात्मने सच्चिदानन्देश्वराय नमः

### अथ—

द्वयानयोगप्रकाशः

॥१॥ ॥२॥ ॥३॥ ॥४॥ ॥५॥

तत्र ज्ञानयोगा नाम प्रथमोऽद्यायः

आदौ प्रार्थना

ओं—विश्वानि देव सवितरुरितानि परासुव ।

शब्दं तन्न आसुव ॥ १ ॥

योऽम् शान्तिः ३ ॥

यजु० अध्याय ३० मं० ३ ॥

अर्थः—हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! परमकारुणिक ! हे,  
अनन्दविद्य ! परद्वज्ञपरमात्मन ! [देव] आप विद्याविज्ञानार्क  
प्रकाशक तथा सकल जगद्विद्याद्योतक और सर्वानन्दप्रद हैं ।

तथा [सवितः] हेजगत्पिता । आप सूर्यादि आखिल उष्टि  
के कर्ता सर्वेश्वर्यसम्पन्न, सर्वशक्तिमान् और चराचर जगत्  
के आत्मा हैं । इस कारण हम सबलोग श्रद्धा, भक्ति प्रेम आदि  
अंपनी सम्पूर्ण माल्यालिक सामग्री से सचिनय अर्थात् अत्यन्त  
आधीनतापूर्वक अभिमानादि दुष्ट गुणों को त्याग कर शुद्ध  
अत्मा और अन्तःकरण से बाहराव यही प्रार्थना आप से  
करते हैं कि हमारे [विश्वानि दुरितानि] सम्पूर्ण दुःखी  
और दुष्ट गुणों को [परा सुवः] कृपया नष्ट कर दीजिये ।

यद्यद्रम् ] कल्याण, जो सब दुःखों, दुर्गुणों से रहित तथा अभीष्टपूर्णनन्दादि भोगों और श्रुभिर्गुणों से युक्त है। [तन्न आसुव] वह हमको सब प्रकार सब और से और सर्वदा के लिये सम्प्रदान करके हमारी सम्पूर्ण आशा फलित और इस लोगों को दृतार्थ कीजिये। और युक्त अल्पक्ष को इस अन्ध के निर्माण करने दी योग्यता से प्रयुक्त कीजिये। और [ शान्तिः ३ ] विविध संतापों से पृथक् रखिये कि निर्विघ्न यह अन्ध समाप्त होकर मुमुक्ष जनों का हितकारी हो।

## ॥ श्लोक ॥

व्रथाऽनन्तमनादि विश्वद्वृदजं सत्यं परं शाश्वतम्,  
विद्या यस्य सनातनी निगमभूद्वैधर्यं विध्वंसिनी ।  
वेदाख्या विमला हिता हि जगते वृश्यः सुभाग्यप्रदा,  
तन्नत्वा निगमार्थध्यानविधिना योगप्रस्तु तन्तन्यते ।

अर्थ—जिस परमात्मा की वेद नामिका निरूल विद्या धरमार्थ अर्थात् स्वरूप से सनातनी, निश्चय धरके जंगत् की हितकारिणों मनुष्यों को सम्पूर्ण देशवर्य भोगों से युक्त सौभाग्य सम्पत्तिदायिनी तथा सफल वैधम्यजन्य वेद विश्वद्रमतमतान्तरों की विध्वंस करने वाली है, उस अनन्त अनादि

टिप्पणी \* [ भद्रम् ] मोक्षसुख तथा व्यवहारसुख दोनों से परिपूरित, सर्वकल्याणमय जो सुख है, उसको भद्र कहते हैं अर्थात् एक तो सासारिक सुख, जो सत्य विद्या की प्राप्ति से अभ्युदय अर्थात् सुख का जाप होना। दूसरा, विविध दुःख से अत्यन्त निवृत्ति होकर निशेयस और सच्चा सुख = मोक्ष का प्राप्त होना [ ऋू० भू० पृ० ३ ]

खण्डिकर्ता, अग्नन्मा, सत्यस्वरूप और सन् धैयना से  
अत्यन्त प्रेम और भक्तिभाव से विनय पूर्वक आये। तत् ज्ञान  
निगम जो वेद उसका सारभूत तत्त्व अर्थ जो परमात्मा उस-  
की प्राप्ति कराने वाली और ध्यानरूपी सरल विधि से सिद्ध  
होने वाली जो योगविद्या है उसका मैं वर्णन करता हूँ। अत-  
एव आप मेरे सहायक हुजिये ।

परमात्मा उसकी प्राप्ति कराने वाली और ध्यान रूपी  
सरल विधि से सिद्ध होने वाली जो योग विद्या है। उसका  
मैं वर्णन करता हूँ अतएव आप मेरे सहायक हुजिये ।

॥ श्लोक ॥

सर्वात्मा सच्चिदानन्दोऽनन्तो यो न्यायकृच्छुचिः ।

भूयैक्तरां सहायो नो दयालुः सर्वशक्तिसन् ॥ २ ॥

[आ० चि०]

अर्थ—हे सब के अन्तर्यामी आत्मा परमात्मन्। आप  
सत् चित् और आनन्दस्वरूप हैं तथा अनन्त, न्यायकारी  
मिर्मल [सदा पवित्र]दयालु और सर्वसामर्थ्ययुक्त हैं, इत्यादि  
अनन्त शुणविशेषविशिष्ट जो आप हैं सो मेरे सर्वथा सहायक  
हुजिये जिससे कि मैं इस पुस्तक के बनाने के निमित्त समर्थ  
हो जाऊँ ।

ओ३८८ शन्नो मित्रः शं बहणः शन्नो भवत्वर्थमा ।

शन्नः इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विश्वगुरुक्रमः ॥ नमो ब्र-  
ह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं  
ब्रह्म बदिष्यामि । ऋतं बदिष्यामि । सत्यं बदिष्यामि ।  
तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु अवतु माम् अवतु ब्रह्मारम् ॥  
ओ३८८ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

तीयोपनिषदि शिक्षाध्याये प्रथमानुचाकः  
 [ अर्थम् ] हे सर्वगच्छक, सर्वाधार, निराकार पर-  
 मेश्वर ! [ नः+मित्रः+शम् ] ब्रह्मविद्या के पढ़ने, पढ़ाने, सी-  
 खने, सिखाने, हारे गुरु शिष्यों, स्त्री पुल्पों पिता पुत्रों आदि  
 सम्बन्ध वाले, हम दोनों के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष  
 सम्बन्धी सुखों की प्राप्ति के लिये सब फे सुष्टुप्त आप तथा  
 हमारा प्राण वायु आप के अनुग्रह से कल्याणकारी हो। [ वरु-  
 णः+शम् ] हे स्वीकरणीय विष्णुश्वर ! आप तथा हमारा  
 अपान वायु सुखकारक हो।

[ अर्थमा+नः+शम्+भवतु ] हे न्यायकारी यमराजपरमा-  
 त्मन् ! आप तथा हमारा चक्षुनिद्रिय+हमारे लिये+सूख-  
 प्रदं+हों।

[ इन्द्रः+नः+शम् ] हे सर्वेश्वर्यसम्पन्न ईश्वर ! आप तथा  
 हमारी दोनों भुजा हमारे सांसारिक और पारसाथिक दोनों  
 प्रकार के सुखों अर्थात् समग्रै शर्वर्य भोगों की प्राप्ति के निमित्त  
 सुखकारी सकलैश्वर्यदायक और सर्ववलदायक हों।

[ बुहस्पतिः+“नः+शम्” ] हे सर्वाधिष्ठाना विद्यासागर  
 बुहस्पते ! आप सच्चिदान् ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मवित् आपजन ब्रह्मविद्या  
 की प्राप्ति के लिये+हमको विद्याविज्ञान प्रद हों।

[ विष्णुः+उरुकमः+नः+शम् ] हे सर्वव्यापक+महापरा-  
 म उरुकम परमेश्वर ! हमको आए अपनी दया करके योगि-  
 कुरु रूप वलः वीर्य और पराकम प्रदान कीजिए कि जिस  
 के द्वारा मोक्ष सुख प्राप्त करके हम दोनों आप की व्याप्ति  
 में सर्वत्र अव्याहतगतिपर्वक स्वच्छानुसार आप के ही  
 निष्केवल आधार में रमण और भ्रमण करते हुए असृत सुख  
 को भोगते रहे ।

[ नमो+ब्रह्मणे ] हे पसवोंरिविराजमन के धूमुला सब  
बहुन् ! आपको हमारा नमस्कार प्राप्त हो ।

[ वायो+ते+नमः ] हे अनन्तवीर्य सर्वशक्तिमन्त्रीश्वर !  
आप का हम सचिनय प्रणाम करते हैं । क्योंकि—[ त्वम्+एव  
+प्रत्यव्रम्+ग्रहण+असि ] आप ही हमारे पूज्य सेवनीय और  
अन्तर्यामीरूप से प्रत्यक्ष इष्टदेव और सब से बड़े हो, इसलिये  
[ त्वाम्+एव+प्रत्यक्षम्+ग्रहण+वदिष्यामि ] मैं समस्त भक्तों,  
जिनका या मुमुक्षु जनों के लिए अपनी वाणी से यही उपदेश  
करूँगा कि आप ही पूर्णद्वाष और उपास्यदेव हैं । आप से  
मिन्न ऐसी अन्य कोई नहीं इसी बातको मनमें धारण करके-

[ ग्रृह्णतं+वदिष्यामि ] मैं बेदादि सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से,  
ही इस ग्रन्थ के विषय का यादा-थय कहूँगा और—[ सत्यं+  
वदिष्यामि ] मन कर्म और वचन से जो कुछ इस ग्रन्थ में  
कहूँगा, सो भव सत्य ही सत्य कहूँगा ।

[ तत्+भास्म+अवतु ] इसलिये मैं सानुनय प्रार्थना करता  
हूँ कि इस ग्रन्थ की पूर्णि के लिए आप मेरी रक्षा कीजिए ।

[ तत् वक्तारम्+अवतु ] अब मैं बारंचार आप से यही  
निवेदन करता हूँ कि उक्त मुझ सत्यवक्ता की कृपया सर्वथा  
ही रक्षा कीजिए, जिसने कि आप के आवापालनसूप सत्य  
कथन में मेरी दुष्कृति स्थिर होकर कभी विरुद्ध न हो । ओऽम्  
शांतिः शांतिः शांतिः ॥

अतपत्र हमारा आप से अनिश्चय करके यही विनेय है कि  
हम सब लोगों [ उक्त शुरु शिष्यादिकों ] के तापेवय नहीं हो  
केर हमारा कल्याण हो ।

ओऽम्—भू—भुवः—स्वः ॥ मत्सवितुर्वरेण्यम्  
भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रतोदयात् ॥

“ हे+मनुष्याः+यथा+वयम् ” = हे मनुष्यों !  
जैसे हम लोग भूः = [ कर्मविद्याम् ] = कर्मकाण्ड की विद्या  
[ कर्मयोग ] वा यजुर्वेद भुवः = [ उपासनाविद्याम् ] = उपा-  
सनाकाण्ड की विद्या [ उपासनायोग ] वा साम वेद स्वः =  
[ ज्ञानविद्याम् ] = ज्ञानकाण्ड की विद्या [ ज्ञानयोग ] वा  
ज्ञानवेद और इस त्रयी विद्या का साररूप ब्रह्मविद्या अथर्ववेद  
वा [ विज्ञानयोग ] “अधीन्य” = संग्रह पूर्वक पदोक्ते “तस्य”  
देवस्य = [ कमनीयस्त् ] + सवितुः = सकलैश्वर्यं प्रदेश्वरस्य  
यः + नः + धियः + प्रचोदयात् [ प्रेरयेत् ]

उस कामना करने के योग्य + समस्तैश्वर्यं के देने वाले  
परमेश्वर के कि जो + हमारी + ध्रामणवती बुद्धियों को धर्म,  
आर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए शुभ कर्मों में  
लगाता है ।

तत् = इन्द्रियैरप्राप्तं परोक्षम् ]

उस इन्द्रियों से न ग्रहण करने योग्य परोक्ष [ परमगूढ  
और सूदम ]

घरेण्यम् = स्वीकर्तव्यम् = स्वीकार करने योग्य, उग्र—  
भर्ग = सर्वदुःखप्रणाशकं तेजःस्वरूपम्

“शौर” सर्वदुखों के नाशक

तेःस्वरूप का

धीमहि = ध्यायेम = ध्यान करते हैं ।

तथा यूमन्येतद्यथायत = वैसे हम लोग भी इसी का  
ध्यान किया करो ।

भादार्थः—जो मनुष्य कर्म, उपासना और ज्ञान सम्बन्धि-  
विद्याओं का सम्पूर्ण प्रहण करके सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त  
परमात्मा के सार्थ अपने आत्मा को युक्त करते हैं, तथा अधर्म

अनैश्वर्य और दुःख रूप मलों को हुड़ा के धूमना से...  
और सुखों को प्राप्त होते हैं। उनको अन्तर्यामी जन्मनियर्त  
आप ही धर्म के अनुयान और अधर्म का त्याग कराने को  
सदैव चाहना है।

अतः हे महाविद्यावाचोऽधिष्ठिते ! वृहस्पतें ! आप से मेरी  
यही प्रार्थना है कि आप अवश्य मेरी बुद्धि को शिल कीजिए  
जिससे कि मैं “ध्यानयोग प्रकाश” नामक इस ग्रन्थ के ग्रन्थन  
कर सुन्द को सरलता से पार कर सकूँ ।

## उत्थानिका ।

प्राणिप्राप्त तात्त्वय से पृथक् रहकर आनन्द में मन रहने  
की इच्छा रखते हैं, किन्तु अज्ञानत्वय उस सबसे सुख को  
प्राप्त करने का योग्यित उपाय न जानकर, अनुचित कर्मों  
में प्रवृत्त हो जाते हैं उपाय “ध्यानयोग” है, जिसका वर्णन  
इस पुस्तक में किया जाता है, सुख, सांसारिक और पारम-  
गिरि भेद भेद दो प्रकार का है। दोनों ही सुख “ध्यानयोग ”  
से प्राप्त होते हैं। इसही शाश्वत को मन में धारण करके प्रथम  
वेदमन्त्र द्वारा परमेश्वर से यही प्रार्थना की है कि हे परमज्ञा-  
रुणिरु परमपिता हमस्तो भद्र नाम दोनों प्रकार के सुखों से  
परिपूरित कीजिए ।

सांसारिक सुख सांसारिक शुभ कर्मों का फल है। और  
पारमार्थिक सुख परमार्थ सम्बन्धी कल्याणकारी कर्मों का  
फल है। सो दोनों ही पुरुषार्थ पूर्वक करने से उप्रफलदायक  
होते हैं। \*

\*टिप्पणी—जिस से आन्मा शान्ति, संतुष्टि, निर्भय, हृस,  
हर्षित और आनन्दित होकर सुख माने, उस को सुख जानो

( = )

अथ अनुवन्धचतुष्यवर्णनम्  
सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।  
शास्त्रादौतेन वक्तव्यः संबन्धं सप्रयोजनः ॥१॥

१ विषय, २ प्रयोजन, ३ अधिकारी, और ४ सम्बन्ध, इन चार वस्तुओं का नाम अनुवन्ध चतुष्य है प्रत्येक ग्रन्थ वा कार्य के ये ही चारों प्रधान अवश्य होते हैं अर्थात् इनके विना किसी कार्य का प्रवन्ध ठीक नहीं होता । इन में से कोई सा एक भी यदि न हो वा अश्वात हो अर्थात् यथार्थ रूप में स्पष्ट से न जाना वा समझा गया हो तो वह ग्रन्थ वा कार्य खंडित सा जाना जाता वा रहता है । अर्थात् उसका फल वा प्रयोजन यथावत् सिद्ध नहीं होता, इस लिये इन का जाता देन् अतीव आवश्यक हुआ । जैसा कि उपरोक्त श्लोक में कहा है कि:-

श्रोता सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं भोतुं प्रवर्तते ) सुनने वाला सिद्ध अर्थ ( मुख्य प्रयोजन ) तथा सिद्धसम्बन्ध [ मुख्य संबन्ध ] को सुनने के लिये प्रवृत्त होता है ( तेन शास्त्रादौ सप्रयोजनः सम्बन्धः वक्तव्यः ) इस लिये शास्त्र के आदि में प्रयोजनसंहितं सम्बन्ध को कहना उचित है ॥

और जिस से आत्मा को संकोच, भय, लज्जा, शोक सम्नाप अप्रसन्नता, अशुभन्ति आदि प्राप्त हो, वहाँ जानो दुःखं वा दुःखं का हेतु है । अतः विषय लम्पट जो विषयानन्द में सुख मानते हैं, वह सच्चा सांसारिक सुख नहीं है, किन्तु सांसारिक व्यवहारों का धर्म युक्त वर्तमान सांसारिक सुख का हेतु जानो, जिस से आत्मा दुःख होता है और परिणाम में शुभ फल प्राप्त होता है ।

**श्रीर्थात्** फिसी ग्रन्थ के अध्ययन अध्यापन [ श्रवण भावण [ सुनने सुनाने ] वा तदनुसार आच्चना स... करने के लिये श्रोता आदि मनुष्योंको प्रवृत्ति दृचि वा उत्कठा तथ यही यथावत् होती है जब कि वे अच्छे प्रकार जान लें कि अमुक ग्रन्थ क्या है उस का विषय क्या है, उस। विषय का प्रयाजन वा फल क्या है तथा उस के अनुसार अपना वर्त्तमान [ आच्चरण ] रखने वाला कौन और कैसा हाना चाहिये और उस का सम्बन्ध क्या है। इन चारों वातों का भली भाँति वोध हुवे विना, वह शास्त्र दृचि कारक नहीं होता। इस हेतु स प्रथम अनुवन्धचतुष्टय का वर्णन कर देना आवश्यक जाना गया, सो क्रमशः कहा जाता है ॥ अनुवन्ध चार हैं विषय प्रयोजन, अधिकारों और सम्बन्ध ॥

( १ ) विषय सम्पूर्ण वेदादिशास्त्रों के अनुकूल जो “ध्यान योगप्रदाश, नामक यह आत्मविद्या [ ब्रह्मविद्या वा योगविद्या ] को वोध कराने वाला ग्रन्थ है, इस करके प्रतिपादित [ प्रतिपाद्य ] जो ब्रह्म उस परब्रह्म की जो प्राप्ति सौ ही इस ग्रन्थ का विषय है। श्रीर्थात् इस ग्रन्थ के आश्रय से प्रथम अपने श्रेष्ठों का नाम जीवात्मा का ज्ञान तदुपरान्त अन्त में परमात्मा नाम ब्रह्म का ज्ञान साक्षात् होता है [ जिस को ब्रह्म प्राप्ति भी कहते हैं ] यही अन्तिम परिणामरूप ब्रह्मप्राप्ति-प्रधान विषय जानो ॥

( २ ) प्रयोजन—उक्त ब्रह्मप्राप्ति नामक विषय को फल सब दुःखों की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति श्रीर्थात् मोक्ष सुख हैं। जिस सत्य सुख की इच्छां सब प्राणी करते हैं और और जिस सुख के परे अधिक कोई सुख नहीं। यही सुख की परम अवधि है। अतः मुक्त होकर मोक्ष सुख का प्राप्त होते

हा मुख्य प्रयोजन है। पेसे महान् उत्कृष्ट फल के ध्यानयोगप्रकाशात्म्य,, ग्रन्थ को सब को आथर्य धीं अवलम्बन करना उचित है॥

## ॥ अधिकारिभेदनिरूपणम् ॥

( ३ ) अधिकारी—वद्यमाण साधन चतुष्टय में कहे चारों साधनों से युक्त जो कोई मनुष्य [ स्त्री वा पुरुष ] होता है, वही मोक्ष और ब्रह्म प्राप्ति का परमोत्तम [ श्रेष्ठ ] अधिकारी माना जा सकता है। सो मोक्ष की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु वा ब्रह्म की प्राप्ति रूपव्योज में नत्पर जिज्ञासु को उत्तम अधिकारी बनने के लिये प्रबल प्रथत्व और अत्यन्त पुरुषार्थ पूर्वक साधन चतुष्टय वा अनुष्ठान निरन्तर और निरास हो कर करना अतीव उचित है॥

ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु नथा मुमुक्षु को योगाभ्यास करना उचित है। पूर्ण योगी होने के निमित्त उसको पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिये और उस पूर्ण अधिकारी में प्रधानतया इतने लक्षण होने चाहिये, जो नीचे लिखे हैं।

अद्वावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् । यो० पा०  
१ सू० २० ॥

अर्थात् ( १ ) अद्वा—परमात्मा में विश्वास पूर्वक हङ्ग भक्ति और मेर भाव तथा वेदादि सत्त्वं शास्त्रों और आप विद्वानों के उपदेशादिक वाक्यों में निर्मान्तम और अटल विश्वास रखने को अद्वा कहते हैं ॥ १ ॥

( २ ) वीर्य—उक्त अद्वा के अनुओर आचरणादि करने में लीब्र उत्साह, उत्करण वा हेत्वं पूर्वक पुरुषार्थ इर्थोत् अनेक

विज्ञ उपस्थित होनेपर भी प्रयत्नकृप उद्योगको न स्थागना संतुष्टि उद्योगी और साहसी होकर योगाभ्यास के अनुष्टुप्म में निरन्तर तत्पर रहना वीर्य कहाता है । ऐसे पुरुषार्थ से योगवीर्य योग का सामर्थ्य वा बल ] ग्रास होता है, इसी कारण इस पुरुषार्थ को वीर्य कहते हैं ॥

( ३ ) स्मृति—जो शिक्षा वा उपदेश गुरुमुख वा विद्वानोंसे प्रहण किया हो; उसका यथावत् स्मरण रखना, भूलना नहीं और वेदादि सत्य शास्त्रोक्त अधीत व्रत्यविधा को भी याद रखना स्मृति कहाती है ॥

( ४ ) समाधि—समाहित चित्त अर्थात् चित्त की साधानता वा पकाग्रता समाधि कहाती है ॥

( ५ ) प्रज्ञा—निर्मल बुद्धि जिस से कि कठिन विषय भी शीघ्र समझमें अःसके तथा उस में किसी प्रकार का संशय संशय, शंका वा आनन्द न रहें पेसी विमल ज्ञानकारिणी बुद्धि को प्रज्ञा जानो ॥

## अनुबन्धचतुष्टय ।

तीव्र अद्वावान् जिक्षासु को ही योगबल नाम वीर्य प्राप्त होता है ॥ १ ॥ उक पुरुषार्थ युक्त उत्साही योगी अर्थात् योग बल प्राप्त मुमुक्षु को तद्विवरणक स्मृति भी रहती है ॥ २ ॥ स्मृति की यथावत् स्थिति होने पर चित्त आनन्दमय होकर साधान होजाता है अर्थात् समाधि भी प्राप्त होती है ॥ ३ ॥ यथाचत् समाधि का परिणाम प्रज्ञा है अर्थात् सत्यासत्य को निर्णय करके वस्तु को यथार्थ रूप से जान लेने का जो विवेक है उस विवेक का साधन रूप जो अन्तःकरण की विमल शुद्धि और निश्चयात्मिक वृत्ति है उस वृत्ति का नाम प्रज्ञा है और

प्रक्षा का साधन लमाधि हैं तात्पर्य यह है कि लमाधि प्राप्त होने से विवेक [ यथार्थज्ञान ] की सत्ता होती है जिस विवेक द्वारा निरन्तर योगभ्यास करते रहने से असम्प्रहात समाधि प्राप्त होती है जिसमें जीवात्मा को निजस्वरूप का यथार्थ निर्भान्त ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

पूर्वोल्लस्तुत्रगत इन्द्रेपाम् पद का अभिप्राय यह है कि जीवन्मुक्त अर्थात् श्रेष्ठकोटि के योगियों से भिन्न मध्यम कनिष्ठ आदि योगशता वा कक्षा वाले अथवा नव शिक्षित योगियों में मुमुक्षुत्व की सम्भावना तब हो सकती है कि जब वे लोग उक्त श्रद्धा आदि लक्षणों से युक्त होजावें अतः उम को इच्छित है कि विद्वानों के संग से उपदेशों का अभ्यास करके उक्त लक्षणों से युक्त होकर मुमुक्षु जिज्ञासु वा योगपने की योग्यता वा अधिकार प्राप्त करें अर्थात् अधिकारी बनें ॥

पातंजल योगशास्त्रानुसार तीन प्रकार के अधिकारियों के १८ भेद इस रीती से होते हैं कि योगसाधन के उपाय तीन प्रकार के हैं । १ मृदु २ मध्य और ३ अधिमात्र । अतः न न योगिजन वा अधिकारी तीन ही प्रकार के हुए ॥१. मृदु-पाप अधिकारी २ मध्योपाय अधिकारी और ३ अधिमात्रोपाय अधिकारी ॥

फिर संवेग नाम किया हेतु दृढ़ तरसंस्कार अर्थात् जन्मान्तरीय संस्कार जन्म कियाकी गति के मृदु मध्य मन्य और तीव्र भेद से तीन प्रकार इन अधिकारियों में होते हैं ॥ अतः पूर्वोक्त तीन प्रकार के प्रत्येक अधिकारी के संवेग भेद से तीन तीन भेद होने से नव प्रकार के अधिकारी होते हैं फिर अधिकारियों के पुरु गर्थ के तीव्र और अतीव भेदभाव से दो दो भेद होकर नव के द्विगुण नाम अठारह भेद हो जाते हैं ॥ यथा—

- । १ सृदूयाय सृदुसंवेग अतीव्र अधिकारी  
 । २ नृदूपाय सृदुसंवेग तीव्र अधिकारी
- १ । ३ सृदूपाय मध्यसंवेग अतीव्र अधिकारी  
 । ४ सृदूपाय तीव्रसंवेग तीव्र अधिकारी  
 । ५ सृदूपाय तीव्रसंवेग तीव्र अधिकारी  
 । ६ सृदूपाय तीव्रसंवेग तोव्र अधिकारी  
 । ७ मध्योपाय सृदुसंवेग अतीव्र अधिकारी -  
 । ८ मध्योपाय तीव्रसंवेग तीव्र अधिकारी  
 । ९ मध्योपाय मध्यसंवेग अतीव्र अधिकारी  
 । १० मध्योपाय मध्यसंवेग तीव्र अधिकारी
- २ । ११ मध्योपाय तीव्रसंवेग अतीव्र अधिकारी  
 । १२ मध्योपाय तीव्रसंवेग तीव्र अधिकारी  
 । १३ अधिमात्रोपाय सृदुसंवेग अतीव्र अधिकारी  
 । १४ अधिमात्रोपाय सृदुसंवेग तीव्र अधिकारी-
- ३ । १५ अधिमात्रोपाय मध्यसंवेग अतीव्र अधिकारी  
 । १६ अधिमात्रोपाय मध्यसंवेग तीव्र अधिकारी  
 । १७ अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेगः प्रतीव्र अधिकारी  
 । १८ अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग तीव्र अधिकारी

संक्षेप से मुख्य २ ये अठारह भेद कहे गये हैं, किन्तु पूर्वोक्त योग सूत्रानुसार श्रद्धा, दीर्घ, स्नृति, समाधि प्रणा आदि अधिकारियों के लक्षण भेद, साधन चतुष्प्रयोक्त साधनोपसाधनों के भेद तथा वर्ण भेद सत्य रज तम आदि चौगुण्यभेद, सत्संगजन्यभेद तापत्रय चाशान्तित्रयभेद, इत्यादि शारीरिक, मानसिक और आत्मिक गुणों के भेद, भावाऽग्राव, न्यूनाधिक्य तारतम्य, समता, विषमता आदि अनेक कारणों करके अधि-

कारी जनों के अगणित भेद होते हैं, वे सब इन ही इन भेदों के अन्तर्गत वा अवान्तर भेद जानो।

( ३ ). सम्बन्ध-पूर्वोक्त ब्रह्मग्रसिनामक “ विषय ” तथा उसके फल वा प्रयोजन नामक पूर्वोक्त “ मोक्षसुख ” इन दोनों का “ ध्यानयोगप्रकाश ” ग्रन्थ के साथ प्रतिपाद्य प्रतिपादक सम्बन्ध हैं।

ब्रह्म ( ईश ) और अधिकारी ( जीव ) का अनुकरण से उपास्य उपासक, सेव्य सेवक, पूज्य पूजक, प्राप्य प्रापक ध्येय ध्यता, ज्ञेय ज्ञाता, प्रमेय प्रमाता, व्यापक व्याप्य, जनक, जन्य और पिता पुत्र आदि सम्बन्ध हैं।

विषय और अधिकारी का प्राप्य प्रापक सम्बन्ध है।

इसी प्रकार प्रयोजन और अधिकारी का भी प्राप्य प्रापक ही सम्बन्ध है।

अधिकारी और ग्रन्थ का दुष्ट वोचक, ज्ञाता ज्ञापक, प्रमाता प्रमाण सम्बन्ध है।

अर्थात् अधिकारी जब ग्रन्थोक्त वाक्यों के प्रमाण से पूर्ण (ज्ञान) प्राप्त करके परमात्मा की उपासना करता है, तब उस ( अधिकारी जीव ) को ग्रन्थोक्त इष्ट दिष्य ब्रह्म तथा अभीष्ट प्रयोजन ‘मोक्षसुख’ की यथावत् प्राप्ति होती है।

उक्त वौध ( ज्ञान ) अधिकारी को गुरुकृपा विना यथार्थ रूप से नहीं होता अर्थात् गुरु और शिष्य का अध्यापक अध्येता ज्ञापक ज्ञाता, पिता पुत्र, सेव्य सेवक, पूज्य पूजक, सम्बन्ध है।

उक्त सब पदार्थों और उनके सम्बन्ध को यथावत् समझ कर अन्वित करना जिज्ञासु ( मुसुक्त ) को अंति उचित है।

## उपक्रम ।

वेद प्रचार हैं - ऋग, यजुः, साम, और अथर्व, किन्तु वास्तव में वेद विद्या तीन ही हैं । चौथी जो अथर्व वेद विद्या है, सो पूर्व के तीन वेदों का ही सारांशरूप तत्व है । अतः वेदव्रय भी कहा जाता है । उक्त तीन वेदों के काण्ड भी तीन ही हैं । अर्थात् ज्ञान, कर्म और उपासना; चौथा काण्ड विज्ञान कहाता है सो इन ही तीन काण्डों का सार तत्व है अर्थात् उपासना-काण्ड के ही अन्तर्गत है । ये तीनों काण्ड तीनों वेदों में इस प्रकार विभक्त हैं कि—

( १ ) ज्ञान काण्ड ऋग्वेद है कि जिसमें ईश्वर से लेकर पृथिवी और दृणपर्यन्त समस्त पदार्थों की स्तुति और परिभाषा द्वारा ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् का वोध (ज्ञान) कराया है जिस ज्ञान के प्राप्त होने के क्रम में प्रवृत्ति और योग्यता होती है ।

( २ ) कर्मकाण्ड यजुर्वेद है, जिस में सम्पूर्ण धर्मयुक्त सांसारिक और पारमार्थिक कर्मों का विधान है, जिनका फल उपासना है ।

( ३ ) उपासना-काण्ड सामवेद है, जिसका फल विशेषज्ञान (विज्ञान) अर्थात् ब्रह्मविद्या है । जिसका परिणाम ब्रह्मज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति है । सो ब्रह्मविद्या ही उपासना काण्ड का तत्व साररूप अङ्ग अथर्ववेद वा प्रसा-विद्या जानो । इस आशय से ही इस “ ध्यानयोग-प्रकाश ” ग्रन्थ के तीन अध्यायों में योगविद्या (ब्रह्मविद्या) को तीन खण्डों में विभक्त किया है । अर्थात्—

( १ ) प्रथमाध्याय में “ज्ञानयोग” कहा है । जिसमें संसारस्थ और देहस्थे पदार्थों का संक्षिप्त वर्णन है । इस “ज्ञान-

योग ” को ही “ सांख्ययोग ” “ ज्ञानकाण्ड ” और  
“ वृत्तग्रन्थविद्या ” जानो ।

- ( २ ) दूसरे अध्याय में “ कर्मयोग ” का विधान है । जिसके अनुष्ठान से मुमुक्षुजनों को उत्तमाधिकार की प्राप्ति होती है । “ कर्मयोग ” का ही “ कर्मकाण्ड ” वा “ तपायोग ” और यजुर्वेदसम्बन्धी विद्या जानो ।
- ( ३ ) तीसरे अध्याय में “ उपासनायोग ” की व्याख्या है जिस के दो अंग है—“ समाधियोग ” और “ विज्ञानयोग ”

“ संप्रदातसमाधि ” पर्यन्त “ उपासनायोग को समाधियोग ” जानो, क्योंकि अधिक वृद्धभक्ति प्रेम शङ्खा आदि पूर्वक पुरुषार्थीका फल “ सम्प्रशातसमाधि ” है और “ असम्प्रशात ” तथा “ निर्विकल्पसमाधि ” को विज्ञानयोग जानो, जिसमें कि विशेषण अर्थात् आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार ( ज्ञान ) होता है । विज्ञानयोग को ही विज्ञानकाण्ड वा परविद्या जानो, जोकि वेदान्तादि पट्टशास्त्रों में ले केवल योग-शास्त्र द्वारा सिद्ध होती है । अतः योगशास्त्रान्तर्गत ध्यानयोग किया ही प्रधान परा विद्या प्रसिद्ध है, जिससे कि सुक्षि प्राप्ति होती है ।

### अथ ज्ञानयोगः

अब ब्रह्मज्ञान तथा मोक्षप्राप्तिहेतुक योगादि पठदर्शनान्तर्गत द्वादश उपनिषद तनामक वेदान्तशून्यों में से श्वेतांश्वत-राख्य उपनिषद्के अनुसार आरम्भ करके वेदादि सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से अलड़कृत ज्ञान योग को ( जिसको ज्ञानकाण्ड वा सांख्ययोग भी कहते हैं) व्याख्या की जाती है । यही ज्ञान-

योग वेदचतुष्यान्तर्गत प्रृथग्वेद का प्रधान विषय है कि जिस के आश्रय से जगत् के उपादानकारण प्रकृति तथा प्रकृति के कार्य इष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों का घोघ प्राप्त करके प्रकृति पुनर्य के मन्दभाव को जान कर परमात्मा का निश्चयात्मक विश्वास जय होता है, तब जिहासु की रुचि श्रद्धा भक्ति प्रेम अपने कल्याणकर्त्ता परमात्मा के साक्षात् स्वरूप को जानने की ओर झुकती है और तब ही जन्म भरण जरा व्याधिमय ताप-घ्रय के विनाशक योगाभ्यासत्त्व उपाय या पुरुषार्थ पूर्वक प्रयत्न करने की इदं प्रवृत्ति भी होती है। एतन्निमित्त प्रथम उक्त रोचक विषय का ही वर्णन करना उचित जाता गया।

इस ही उचितवर्द्धक विषय को प्रधान (प्रथम शेषि) जान कर अनेक ब्रह्मयांदी ऋषिजन निज कल्याण के अभिलाप रसाने वाले जिहासु जनों की आशा पूर्ण करने के अभिप्राय से ही श्वेताश्वतरोपनिषद् के आदि में वद्यमाण प्रकार से निर्णय करने को सन्नद्ध हुए थे।

## ओ३म् ब्रह्मवादिनो वद्यन्ति ।

उक्त श्वेताश्वतरादि ब्रह्मनिष्ठ महर्षिगण ने एक समय किसी स्थान में एकत्र उपस्थित होकर वद्यमाण दो श्लोकों को मैं १६ प्रश्न स्थापित किये।

जगत्	का	कारण	१	२
			३	४
			५	६
			७	८
			९	१०
			११	१२
			१३	१४
			१५	१६

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः;  
जीवाम केन रुच सम्प्रतिष्ठाः।  
अशिष्टिः केन सुखेतरेषु,  
वत्मिहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ १ ॥  
श्वेताऽ उप० श्र० १ श्लोक १ ॥

[ हे ब्रह्मविदः ] हे ब्रह्म के जानने वाले भद्र पुरुषों !

( १ ) ( कारणं+ब्रह्म+किम् ) कारण ब्रह्म क्या है ।

( २ ) ( कुतः+जातोः+स्म ) किसने हम सब उत्पन्न किये हैं ।

( ३ ) ( केन+जीवाम् ) यह सब लोग किस से जीते हैं ।  
अर्थात् हमारा प्राणाधार, प्राणप्रद वा जीवनहेतु कौन  
वा क्या है कि जिसकी सत्ता से हम जगत् की स्थि-  
तिदशा में जीवित रहते हैं ।

( ४ ) ( कव+च+संप्रतिष्ठाः ) और प्रलयावस्था में कहाँ वा  
किस आधार पर हम सब स्थित रहते हैं ।

( ५ ) ( केन+अधिष्ठिताः+सुखेतरेषु+व्यवस्थाम्+वर्त्तमाहे )  
और किस के+नियत किये हुवे हम सब लोग+सुखों  
और दुःखों में+नियम को+वर्त्तते हैं अर्थात् हमारे  
सुख वा दुःख के भोगों को प्राप्त कराने की ऐसी व्य-  
वस्था कौन करता है कि जिसका उल्लंघन न करने  
पराधीनता से हम भोगते हैं । इस व्यवस्था का  
नियामक कौन है ।

१      २      ३      ४

काल, स्वभावो नियतिर्व्यच्छाः,

५      ६      ७

भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ॥

=      =      =-१०

संयोगपृष्ठां नत्वात्मधावा—

११

दात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥

स्वेताऽउप० अ० १ श्लो० :

पूर्वश्लोकगत ५ प्रश्न स्थापित करने फिर अन्य प्रश्न इस प्रकार स्थापित किये कि क्या वद्यमाण पदार्थों में से कोई एक २ पदार्थ या उनके समूह का मेल जगत् का कारण ब्रह्म है वा कोई और है । अथात्— ०

- ( १ ) ( कालः ) क्या काल ही सृष्टि का कारण ब्रह्म है ।  
 ( २ ) ( स्वभावः ) क्या पदार्थों का नियत धर्म वा स्वाभाविक गुण सृष्टि का कारण है ।

[ ३ ] [ नियतिः ] क्या प्रारब्ध वा सञ्चित कर्म ही कारण ब्रह्म है ।

[ ४ ] [ यदच्छा ] जब किसी कार्य का कारण किसी प्रकार से भी नियंत्रित नहीं होता, तब मनुष्य को लाचार होकर यही कहना पड़ता है कि यह ईश्वर की इच्छा से हुआ । ऐसे किसी आश्चर्यजनक, अप्रयास, अनायास वा अकस्मात् उपस्थित वा इन्द्रियगोचर हुए कार्य के अप्रक्षात्, अप्रत्यर्थ और परोक्ष [ शूङ् ] कारण को यदगच्छा कहते हैं, सो यह चौथा प्रश्न उठाया कि क्या यदगच्छा ही कारण ब्रह्म है वा कुछ और ।

[ ५ ] [ भूतानि ] धाक्षति, अप्, तेज, मरुत, व्योम, नामों से प्रसिद्ध पंचभूत ही कारण है ।

[ ६ ] [ योनिः ] यद्वा इन पाचों तत्वों की जननी [ सत्त्व रज, तम की साम्यवस्था ] जिसको प्रकृति कहते हैं, कारण ब्रह्म है ।

[ ७ ] [ पुरुषः ] वा जीवात्मा अथवा परमात्मा कारण ब्रह्म है ।

[ ८ ] [ एषां संयोगः ] अथवा उन पूर्वोक्त कालादि पुरुषान्त सातों पदार्थों का संयोग ही कारण क्या ब्रह्म है ।

[ न तु ] परन्तु इन आठों पक्षों में से कोई भी

पक्ष यथार्थ नहीं जाना जाता यद्यों कि कालादि योनि-  
पर्यन्त पूर्वोक्त छः पदार्थ तो फेनल जड़ ही हैं इनमें  
कोई स्वतन्त्र सामर्थ्य नहीं है । श्रापण—

[ १० ] [ आत्मभावात्-‘पुरुष एव कदाचित् फारणं ब्रह्म-  
स्यात् ॥ अर्थात् चेनत और व्यापक होने से कदा-  
चित् जीवात्मा वा परमात्मा ही कारणं ब्रह्म हैं;  
यह बात ‘आत्मभावात्’ पद से जताई गई ।

[ ११ ] [ आत्मा अपि प्रनीशः सुख दुःखदेतोः ॥ ) फिर विचार  
करने से जाना गया कि परमात्मा यथा जीवात्मा  
इन दोनों में से दुखदुःखादि भोगों का हेतु होने  
करके जीवात्मा तो पराधीन और असमर्थ है अर्थात्  
जीवात्मा सुख की आशा करता है और दुःख से बचा  
रहता है, तथापि परब्रह्म होकर अनमिलपित अनिष्ट  
दुःख भोग उसको भोगने ही पड़ते हैं और सर्वव्यापक  
भी नहीं है, इस लिये ऐसा प्रतीत पड़ता है कि इन  
सबसे प्रबल सबका नियन्ता सबका आपने वश में  
रखने वाला सर्वव्यापक और स्वतन्त्र अन्य ही कोई  
इसस्थिति का कारण है । ( इस चिन्त्यम् ) यह चित्त-र-  
णीय पक्ष है अर्थात् इस पर फिर अच्छे प्रकार ध्यान  
पूर्वक दृढ़ विचार करके निष्ठय करना चाहिये यह  
कहकर ध्यानयोगसमाधिद्वारा जो कुछ उक्तऋपिगण  
ने जिस प्रकार निष्ठय किया सो आगले श्लोक में  
कहा है ।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निंगूढाम् ।

यः कारणानि निखिलानि तानि  
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥३॥  
स्वेताः उप० अ० १ श्लो ३॥

( ते ध्यान योगानुगताः ) स्वष्टि की उत्पत्ति के प्रधान आदि कारण के खोजने रूप विचार में प्रयुक्त हुए उन ब्रह्म वादी योगी जनों ने ध्यान योग पर्वक चित्त की एकाग्र तदा-कारवृत्ति सम्पादित समाधिद्वारा ( स्वगुणैर्निर्गूढां देवात्म-शक्तिम् \* अपश्यन् ) उस अविन्त्य ईश्वर के निज गुणों कर के गूड ( गुप्त ) और केवल अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से जानने थे-ग्य, सब देवों के महादेव उस परमात्मा की आत्म शक्ति ( म-हान् सामर्थ्य ) को ज्ञानदृष्टि से निष्प्रय अनुभव करके पाह-चाना कि मुख्य कारण तो वही एक सब आत्माओं का आ-त्मा, अनन्तशक्ति वा सामर्थ्य धाता परमात्मा तथा उस की शक्ति ही है ॥

( यः+एकः+फालात्मयुक्तानि+ तानि+निखिलानि+कार-णानि+अधितिष्ठति ) जो-स्वयं असहाय अकेला ही कालादि जीवान्त-उन-सब-कारणों का अधिष्ठाता है ॥

\*टिष्यणी—देवात्मशक्तिम्, इस पद का दूसरा अर्थ यह भी है कि देवनाम परमात्मा, आत्मा नाम जीवात्मा और शक्ति नाम प्रकृति इन जीव, प्रकृति और ईश तीनों को जगत् का कारण जाना अर्थात् यह निर्णय किया कि परमात्मा तो का-लादि अन्य कारणों से भिन्न स्वतन्त्र सब का अधिष्ठाता और निमित्त कारण है। अन्य कारणों में से काल नियति ( प्रारब्ध ) यह छाड़ा और जीव ये चारों भी जगत् के निमित्त कारण तो हैं, परन्तु परमेश्वर के आधीन हैं। और प्रकृति तथा उस के कार्य पञ्चसूक्ष्म भूत ( तन्मात्र ) और पञ्चसूक्ष्म भूत तथा +

## निमित्त कारण ।

सबका अधिकारा,  
परतन्त्र, स्वतन्त्र, चेतन,  
चेतन और निमित्त  
और निमित्त कारण

परतन्त्र, जड़ और उपादान कारण

## उपादान कारण ।

परतन्त्र, जड़ और उपादान कारण  
( ६ ) योजि: ( क्रमस्थल आनादि कारण  
प्रकृति ) पञ्चतन्मात्र ( सूक्ष्ममूर्ते )

( ७ ) पृथिवी ।

चेतन जड़

( ३ ) काल  
( ४ ) नियति चा।  
( ५ ) ग्राहण ।  
( ६ ) यदृच्छा

( ७ ) जल  
( ८ ) अ॒रि  
( ९ ) वायु  
( १० ) आकाश  
( ११ ) स्वभाव  
( १२ ) संयोग ( जड़ चेतन निमित्त  
और उपादानादि सब तात्त्वणों  
का संयोग भी पंक्ति तेरहवाँ का  
कारण माना गया )

## ११ परमात्मा उचितात्मा

( २ )

अर्थात् पूर्व श्लोक में जो काल से लेकर पुरुषपर्यन्त कारण कहे हैं, उन सब को वही एक परमात्मा अपने नियमों के अनुकूल अपने ही आधीन रख कर उन से सृष्टि रचता है। अतः प्रधान गौण सब मिला कर सृष्टि की उत्पत्ति के १३ का रण हुए। उन के दो भेद हैं, एक तो निमित्त कारण और दूसरा उपादान कारण। चेतन ( वा स्वतन्त्र ) तथा जड़ ( वा परतन्त्र ) भाव से निमित्त कारणों के फिर भी दो भेद हैं, जो उपरोक्त कोष्ठक में पृथक्कर दिखाये गये हैं ॥

धर्मोन थोग द्वारा निश्चयात्मक बुद्धि पूर्वक जाने हुए जगत् के कारण की पुष्टि फिर भी द्वाटे अध्याय के आरम्भ में, ग्रन्थ की समाप्ति होने से पूर्व स्पष्ट कर के उन श्वेताश्वतरादिक महर्षियों ने व्रह्मविद्या जिह्वासुओं का विश्वास दृढ़तर निश्चित करने के लिये इस प्रकार की है कि—

स्वभावमेके क्वयो वदन्ति  
कालं तथाऽन्ये परिमुद्रमानाः ।  
देवस्यैव महिमा तु लोके,  
येनेदं भ्रान्त्यते व्रह्मचक्रम् ॥ ४ ॥  
श्वेता० अ० ६ श्लो० १

( येन इदं व्रह्मचक्रम भ्रान्त्यते ) जगत् के जिस कारण कर के यह व्रह्मचक्र धुमाया जाता है।

+स्वभाव और इन सब कारणों का संयोग, ये सब जड़ होने के कारण सर्वथा परतन्त्र ही हैं । इस प्रकार सब मिल कर जगदुर्जेना के व्योदय कोरण हुए । अत एव सारांश यही उन महर्षियों ने निकाला कि परमात्मा तथा उसकी महिमा ( सामर्थ्य वा शक्ति ) ही सर्वोपरि प्रधान कारण सृष्टि का है

( तम् पके परिमुहामनाः कवयः स्वभाव घदन्ति ) उस कारण को कोई २ अशानी परिष्ठतजन स्वभाव बताते हैं ।

( तथा अन्ये परिमुहामनाः ) ( कवयः ) कालम् ( घदन्ति ) तथा अशानान्धकार से आच्छावित संशयात्मक वा भ्रमात्मक चुन्दि से भोग्यित लोक में परिष्ठत नाम की उपाधि से सिद्ध अन्य लोग काल ही को जगत् का कारण बताते और मानते हैं ।

( तु = इति वितर्कं ) परन्तु वास्तव में इस विषय का मर्म वा यथार्थ वेद तो ब्रह्माण वरायण तत्वज्ञानी योगी जनों ने यही निष्ठय किया है कि—

( लोके देवस्थ महिमा एवास्ति “येन महिम्ना इदं ब्रह्मचक्रम् भ्राम्यते ” ) संसार में उस परवल्ल परमात्मा की केवल एक महिमा ही प्रधान कारण है कि जिस से यह समस्त ब्रह्म चक्र शुभाया जाता है ।

परमेश्वर की इस महिमा का महत्व अंगले वेद मन्त्र से भी सिद्ध है—

ओम्—एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पुरुषः ।

पादोस्य विश्वा भूतानि विपादस्या गृतं दिवि ॥  
यजु० अ० ३१ म० ३ ॥ भू० पृ० १२१ सृष्टिविषय

( अस्य = जगदीश्वरस्य ) इस जगदीश्वर का ( एतावान् ज्यश्याद्वश्यं ब्रह्माएडरपम् ) यह दृश्य और अदृश्य ब्रह्माएड ( महिमा = माहात्म्यम् ) महत्वसूचक हैं ( अतः = अस्मात् ब्रह्माएडात् ) इस ब्रह्माएड से ( पुरुषः = अर्थं परिपूर्णः परमात्मा ) तह सर्वत्र व्याप्त एक रत्न परिपूर्ण परमात्मा

( ज्यायान् = अतिशयेन प्रशस्तो महान् ) अति प्रशंसित और बड़ा है ।

( च+अस्य=अस्य परमेश्वरस्य च ) और इस परमेश्वर के ( विश्वा+भूतानि = सर्वाणि पृथिव्यादोनि भूतानि ) सब पृथिव्यादि चराचर जगत्

एकः पादः=एकोशः ) 'एक अंश है

( अस्य त्रिपादः+अमृतं+दिवि वर्तते = अस्य जगत्स्थापुः अयः पादाः यस्मिन् तत्त्वाशुरहितं घोतनात्मके स्वस्वरूपे वर्तते इस जगत्स्थापा का तीन अंश नाशुरहित महिमा घोतनात्मक अपने स्वरूप में हैं ॥

## अथ ब्रह्मचक्रवर्णनम् ।

तयेकनेमिं त्रिवृतं पोडशान्तम्,

शताद्धर्मिं विश्वति प्रत्यराभिः ॥

अष्टकः पद्मिर्विश्वरूपैकपाशम्,

त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोदम् ॥\*

श्वेताऽ उ० ऊ० १ श्लो० ५

( एकनेमिम् ) एक शुद्धि से बने हुए ।

( त्रिवृतम् ) सत्त्व रज तम् रूप दे परिधियों से घिरे हुए ।

( धोडशान्तम् ) सोलह पदार्थों में ही अन्त को प्राप्त हो जाने वाले

( शताद्धर्मम् = शत-अर्ध-ब्ररम् ) पद्मास अर्थों से सुगुमिकत जड़े हुए

( विश्वति प्रत्याराभिः ) वीस पद्मर्थों से सुदृढतापूर्वक अचल अटल लुके हुए

( अष्टकैषद्भिः ) छुः अष्टकों से जुड़े हुए )

( विश्वरूपैकपाशम् ) विश्वरूपंकामना ( तृष्णा ) मय एक ही वन्धन ( फन्दे ) में जकड़ कर थंडे हुए

( विमार्गभेदम् ) तीन मार्गों के भेदभाव से युक्त वा तीन भिन्न मार्गों में प्रूपने वाले

( द्विनिमित्तैकमोहम् ) दो निमित्तों तथा एक सोह में फंसे हुए

“ते+ब्रह्मचक्रम्—“ ( इत्यधिकः ) = उस व्रापक को “तं ध्यानयोगानुगता ब्रह्मवादिन+श्रपश्यन्”—इति पूर्व श्लोका लुबृत्तिः ध्यानयोगमें प्रवृत्त हुए उन ब्रह्मवादी महर्दियों ने अनुसंधान करके ज्ञानदृष्टि से निश्चित किया ।

\*इस श्लोक में ब्रह्मारण्डचक ( ब्रह्मचक्र व संसारचक ) का वर्णन है अर्थात् जगत् को रथ में पहिये के तुलय मानकर रूपकालङ्कार में उसकी व्याख्या की है ।

अब रूपकालंकार में वर्णित ब्रह्मचक्र के सांगोपांग सम्पूर्ण पदार्थों का सविस्तर विवरण किया जाता है ।

( १ ) ( नेमि = पुट्टी ) जैसे गाढ़ी के पहिये में सबसे ऊपरली बत्तुलखरड़ाकार गोलाई में झुके हुए काष्ठखरड़ों से लुड़ी हुई एक पुट्टी नामकपरिधि होती है, वैसे ही ब्रह्मचक्र में २ पुट्टस्थानों प्रकृति जानो, जिस को अब्धक, अव्याकृत, प्रधान, प्रकृति भी कहते हैं । सत्व रज तम की सामयावस्था भी इस ही को कहते हैं ॥ यही ब्रह्मचक्र की जो प्रकृतिनामनी नेमि है, सो यहतत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा, दश इन्द्रिय, पांच स्थूलभूत, पदार्थों की कि जो कमशः उत्तरोत्तर अपने से पूर्व २ के तथा पूर्व २ की श्येज्ञा स्थूल भी हैं; योनि नाम उत्पन्न करने वाली माता है; अर्थात् सत्व रज तम इन तीनों का जो अत्यन्त सूक्ष्मरूप में स्थित होना है, उसको प्रकृति कहते हैं । वही नेमि नाम से वहाँ वताई गई है ।

( २ ) ( त्रिवृतम् ) गाड़ी के पहिये की तीन परिधियाँ होती हैं। एक तो पुट्टी के ऊपर चढ़ी हुई लोहे की हाल, दूसरी पुट्टी और तीसरी पहिये के केन्द्रस्थानी नाभि ( नाह ) जो गाड़ी के कीलक नाम धुरे पर धूमा करती है श्रीरंजित में श्रेरे जड़े जाते हैं। उसी प्रकार ब्रह्मचक्र में भी तीन ही परिधियाँ जानो अर्थात् प्रकृति के पृथक् पृथक् तीनों गुण सत्त्व रजस् और तमस् ।

( ३ ) ( पोडशान्तम् ) रथ नाम गाड़ी के पहिये की पुट्टी पर जो हाल लगी है, वही उस पहिये को अन्तिम परिधि है उससे आगे पहिये का कोई अंग वा भाग नहीं होता, मानो वही रथ चक्र की परमावधि और उस ही के अन्तर्गत सारा पहिया रहता है। उस लोहे की हाल में कीले ऊँकी होती है, जिनसे कि वह पुट्टी पर जमी और चिपकी रहती हैं। उक्त कीलों के सदृश ही संसारचक्र नाम ब्रह्मचक्र की सोलह १६ कला हैं अर्थात् सम्पूर्ण विश्व वा ब्रह्मारण उन ही के अन्तर्गत है, उनसे बाहर कुछ भी नहीं। वे कला ये हैं ।

१६ पदार्थ	१६ पदार्थ	(१) प्राण	(६) मन
मतान्तर से	मतान्तर से	(२) अद्वा	(१०) अन्न
१० इन्द्रिय	१ विराट्	(३) आकाश (११) वीर्यपराक्रम	
२ मन	१ सूत्रात्मा	(४) वायु (१२) तप (धर्मात्माष्ठान)	
५ भूत	१४ लोक्	(५) अग्नि (१३) मन्त्र वेदविद्या	
	(भूवन)	(६) जल (१४) कर्म वेष्टा	
१६	१६	(७) पृथिवी (१५) लोक और अलोक	
		(८) दशाइन्द्रिय (१६) नाम	

- (४) ( शतार्दीरम्) रथचक्र में नाभि से पुढ़ीपर्यन्त व्यासार्दी-  
वत् अनेक और नाम काष्ठदण्ड लगे होते हैं, सो इस -  
ब्रह्मचक्र में भी ५० और गिनतये गये हैं, उन सबकी  
व्याख्या आगे की जाती है। यथा ( क ) पांच अविद्या  
वा मिथ्याज्ञान के भेद ५  
( ख ) अट्टाइस प्रकार की शक्तियाँ और अशक्तियाँ ८  
( ग ) नव प्रकार तुष्टियाँ ६  
( घ ) आठ प्रकारकी सिद्धियाँ ये सब मिलकर पचास  
अरे हैं ५० ८  
( क ) अविद्या के पांच भेद हैं। जो मतान्तर से दो  
प्रकारों में विभक्त हैं।

# पञ्चकलेश	=	पांच मिथ्याज्ञान :-
१ अविद्या		१ तमस्
२ अस्मिता	अथवा	२ मोह
३ राग	मतान्तर से	३ महामोह
४ द्वेष		४ तामिळ
५ अभिनिवेश		५ अन्धतामिळ

टिप्पणी# इन पांच कलेशों की व्याख्या आगे की जायगी।  
‡ (१) तमस्=मन, तुष्टि, अहंकार ये तीन और पांच  
तमात्रा प्रकृति के इन आठ क्रायों में (जो जड़ है) आत्मबुद्धि  
का होना अर्थात् इनको चेतन आत्मा जानना यह आठ प्रकार  
का तमस् है।

[१] अणिमा [२] महिमा [३] गरिमा [४] लघिमो [५] प्राप्ति  
[६] प्राकास्य [७] ईशत्व और [८] वशिन्व अर्थात्—

अणिमा = अपने शरीर को अणु के समान सूक्ष्म कर लेना ।

महिमा = " " वहुत बड़ा कर लेना ।

गरिमा = " " वहुत भारी कर लेना ।

लघिम = " " वहुत हल्का कर लेना ।

प्राप्ति = कोई पदार्थ चाहें किन्तु ही दूर हो, उसको छू सकना  
वा प्राप्त कर लेना । यथा चन्द्रमा को अंगुलि से छू वा  
पकड़ लेना ।

प्राकास्य = इच्छा का विद्यात न होना अर्थात् इच्छा का पूर्ण  
हो जाना ।

ईशत्व = शरीर और अन्तःकरणादि को अपने वश में करलेना  
तथा सभूर्ण ऐश्वर्य भोगों और भोतिक पदार्थों के  
प्राप्त कर लेने में समर्थ होना ।

वशिन्व = सब प्राणिमादि को अपने वश में ऐसा कर  
लेना कि कोई भी अपने वचन का उल्लङ्घन न कर  
सके यह आठ प्रकार का मोह बहुता है ।

( ३ ) महामोह = दश इन्द्रियों के दश दिग्गजों से भोगने योग्य  
परोक्ष [ अर्थात् मरण उपरान्त अन्य देह वा लोक में  
प्राप्तव्य ] वा अपरोक्ष [ वर्तमान देह से ग्रातव्य और ,

( २ ) मोह = अर्थात् उन अणिमादि योगसिद्धियों में जो देह  
छूटने के पश्चात् मुक्त जीवों को प्राप्त होती हैं, यह वि-  
श्वास रखना कि जीवित दशा में प्राचीन योगार्थों को  
प्राप्त हो चुकी हैं, अतः हमको भी प्राप्त होना सम्भव है ।  
इस भ्रम से आप अन्यों के धोखे में आजाना अथवा  
अन्यों को स्वयं ढाना । वे आठ सिद्धियाँ ये हैं—

भोक्तव्य ] भोगों की तृष्णा अत्यन्त मोहित होकरमें तीव्र उत्कण्ठा रखता और धर्मधर्म का विचार छोड़ कर उसके उपाय में अहर्निश तंत्पर रहना, यह दश प्रकार का महामोह है ।

( ४ ) तामिष्ठ = दशों इन्द्रियों के भोग जो दृष्टि और अदृष्ट होने के कारण दो २ प्रकार के पूर्व कहे गये हैं, उनको पूर्वोक्त ८ प्रकार की लिङ्गियों के साथ भोगने की इच्छा से प्रथत्व वा पुरुषार्थ करने पर भी जब ये भोग प्राप्त नहीं होते वा विष्णों के कारण सिद्ध नहीं हो सकते, इस प्रकार भोग अप्राप्त होने की दशा में क्रोध उत्पन्न होता है, उसको तामिष्ठ कहते हैं, जो आठ सिद्धियों तथा दश इन्द्रियों के विषयों से सम्बन्ध रखने के कारण ८८ प्रकार का कहाता है ।

( ५ ) अन्धतामिष्ठ = तामिष्ठ की व्याख्या में गिनाये गये १८ प्रकार के दृष्टि वा अदृष्ट भोगों की आशा रखने वाला पुरुष जब कोई भोग प्राप्त होने पर पूर्णतया नहीं भोगने पाता अर्थात् आधा वा चौथाई आदि अंशों में ही भोगने पर अथवा कोई भी भोग न प्राप्त होनेपर प्रत्याशा करते करते ही जब यरण समय निकट आजाता है तब उस पुरुष को बड़ा भारी पश्चात्ताप और शोक यह होता है कि मैंने इन भोगों की प्राप्ति की आशा में बड़े २ दारुण कष्ट सहे अत्यन्त परिश्रम भी किया परन्तु परिणाम में कुछ भी प्राप्त न हुआ, सिर धुनता हुआ, हाथ मलता हुआ और पल्लताता रह जाता है और हाहकार मचा कर खेता पीटता है । इस प्रकार के मिथ्याज्ञानजनन्य शोक को अन्धतामिष्ठ कहते हैं । अठारह प्रकार के

पूर्वोक्त भोगों से सम्बन्ध रखने के कारण अन्धतामिला  
भी १८ प्रकार का है।

इस विस्तार से अविद्या ( मिथ्या ज्ञान ) के ६२ भेद हो  
जाते हैं। यथा—

( १ ) तमस के भेद	॥
( २ ) सोह के भेद	॥
( ३ ) महासोह के भेद	१०
( ४ ) तामिला के भेद	१८
( ५ ) अन्धतामिला के भेद	<u>१८</u>
	२५

(मा) अद्वैतस प्राकार की शक्तियाँ और आशक्तियाँ थे ही—

लों नीचे कही १२ शक्तियाँ और आशक्तियाँ हैं उन के साथ है

प्राकार की दुष्टि और आठ प्राकार की स्थिति सभ गिलाफर १८ हैं।

संख्या	विषय	शक्ति	आशक्ति
१ श्रोत	शक्ति	शक्ति	शक्तिःशक्ति = विविह
२ तत्त्वा	कार्य	कार्य	कार्यशक्ति = दुष्टि वा पापहरोग वा सुन्न रोग
३ लघु	कूप	कूप	दर्शनशक्ति = शंखत
४ लिपा	रक्षा	रक्षा	रक्षनाइशक्ति = स्यात्तदिषेक (स्वाद व लान सरक्ता)
५ गविष्का	गम्भ	गम्भ	गविष्कारोग (गम्भ का घोथ न घोता)
६ चाप्	यज्ञ	यज्ञ	यज्ञाइशक्ति = दूषितव
७ दस्ता	आवान, ग्रहण	ग्रहण	दस्ताइशक्ति = वाक्यालहीनता, शाश्वते
८ पाद्	यान	यान	यानाइशक्ति = वास्तुत्व वा लोगप्राप्ति
९ उपक्ष	रक्ति, मूत्रयाग (विज्ञानव शक्ति) उच्चत्व	उत्तरण शक्ति	आनन्दाइशक्ति = दुष्टि संकाति
१० शुदा	गलताग	गलताग	गहनाइशक्ति = विषेष
११ मन	संकलन, विज्ञान	गवन शक्ति	गवनाइशक्ति = अव्यवस्थावस्थ उत्पादना आदि

( न ) \* नव प्रकार की तुष्टियों के होने से मनुष्य आलसी और निलत्साही होकर मुक्ति के साक्षां और मोक्षमार्ग से मन हटाकर छुड़ भी प्रयत्न नहीं करता । विरक्त सा बना हुआ अपने को संतुष्ट हुआ मान लेता है और सत्यासत्य का निर्णय भी नहीं करता । आगे आत्मा तथा परमात्मा को भी जानने की इच्छा से उपरत सा होजाता है ।

वे नवतुष्टि वे हैं—तुष्टियों का अभाव इनकी अशक्ति जानो ॥

( ८ ) प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होने पर अपने को तत्त्वज्ञानी वा कृतार्थ भानकर अथवा संसार को असार वा दुःख का हेतु ज्ञनकर विरक्त और सन्तुष्ट सा होजाना । यह प्रथम तुष्टि है ॥

( २ ) तीर्थयात्रा गंगास्नान आदि से मुक्ति हो जाने में पूर्ण विश्वास हो जाना पर संन्यासाश्रम आरक्ष करके वा पूर्णदेराम्य ग्रात करके, पूर्ण योगाभ्यास द्वारा मोक्ष प्राप्त करने में तथा जगत् के तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करने में प्रयत्न करना निष्फल, निष्प्रयोजन वा व्यर्थ समझ लेना अथवा कापाय वस्त्रादि सन्ध्यासु \* चिन्हों को ही धारण करके सन्तुष्ट होकर पुरुषार्थी छोड़ दैठना । यह द्वितीय तुष्टि है ॥

( ३ ) प्रारब्ध पर निर्भर रह कर समझले ना कि भाग्य में होगा तो मोक्ष मिल ही जायगा । इस मिथ्याविश्वास से पुरुषार्थ के करने में फलेन्ह उठाना वा गतिश्रम करना वृथा जान कर तुष्ट हो जाता । यह दूसरी तुष्टि है ॥

\* इन नव प्रकार की तुष्टियों में से प्रत्येक की दो दो शक्तियां जानो अर्थात् पदार्थ की प्राप्ति जिना ही सन्तुष्ट

[ ४ ] काल के भरोसे पर तुष्ट हो जाना कि जब जिस कार्य का अवसर आता है तब वह कार्य हो ही जाता है, अर्थात् काल को ही कार्य का प्रधलकारण मानकर तुष्ट हो जाना । यह चतुर्थ तुष्टि है ।

[ ५ ] विद्यों के भोग अशक्य समझ कर तुष्ट हो जाना यह पांचवीं तुष्टि है ॥

[ ६ ] सांसारिक भोगों के प्राप्त करने के लिये धनोपार्जन में अनेक असल्य फलेशों के कारण से ही सन्तुष्ट हो जाना । यह छठी तुष्टि है ॥

[ ७ ] जगत् में एक से एक बढ़कर अधिक भोग्य पदार्थों से युक्त मनुष्यों को देखकर इस प्रकार सोच विचार कर तुष्ट हो जाना कि इन पेशवर्यों का अन्न नहीं, चाहे जितनी इनकी वृद्धि की जाय तो भी सम्पूर्णपेशवर्ययुक्त वा जगत् में सब से बढ़ चढ़ कर हो जाना जब कठिन है तो इनका संग्रह करना ही व्यर्थ है । इस प्रकार वैराग्यवान् होकर तुष्ट हो जाना, सातवीं तुष्टि है ॥

रहना, यह एक प्रकार की सहनशक्ति हुई । दूसरी तुष्टि की शक्ति यह कहाती है कि पदार्थ मिलने पर भी त्याग देने वा अपेक्षा कर देने का सामर्थ्य प्रथमशक्ति को अनिच्छा वा अनुकरण वा अस्पृहा शक्ति कहते हैं और द्वितीय को परित्याग शक्ति ॥

+ कार्ड २ लोग संन्यास धारणमात्र से ही मोक्षप्राप्त हो जाने का विश्वास कर लेते हैं । यहाँ तक यदि किसी कारण वश संन्यास अद्दण न किया जा सका तो मरण समय आत्म संन्यास लेकर यह समझ लेते हैं कि सुक्ष्म हो जायेंगे ॥ होजाना यह तृतीय तुष्टि है ॥

[ = ] जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि में धृत की आहुति देने से  
 ° अग्नि उक्तरोत्तर प्रचरण और प्रवल होता जाता है, इस  
 ही प्रकार विषयों को भोगने से भी भोगतृप्त्या अधिक  
 ही होती जाती है, घटती नहीं। अर्थात् विषयवासना  
 से वृत्ति होना समझ कर उनसे पृथक् रह कर  
 तुष्ट होजाना, आठवीं तुष्टि है ॥

[ ६ ] विषय भोग के पदार्थों के संग्रह रक्षणादि में ईर्ष्या  
 छेष मत्सरता हिंसादि अन्य पुरुषों को दुःख पहुँचाने  
 रूप दोष देखकर विरक्त हो जाना, नमवी तुष्टि है ॥

[ ८ ] [आठसिद्धि] श्रीयुत स्वामी शंकराचार्य जो के मनानु-  
 सार आठ प्रकार की सिद्धियां ये हैं कि—'

[ १ ] जन्मसिद्धि

[ ५ ] आध्यात्मिकताप  
सहनशक्ति

[ २ ] शब्दज्ञानसिद्धि

[ ६ ] आधिभौतिकताप  
सहनशक्ति

[ ३ ] शास्त्रज्ञानसिद्धि

[ ४ ५, ६] चिनिधानाप सहनशक्ति

[ ७ ] विद्यासिद्धि

[ ४ ] आधिदैविकताप सहनशक्ति

[ = ] विद्यासिद्धि

[ १ ] इन शक्ति गति में से प्रथम का जन्मसिद्धि तो वह है कि  
 पूर्व जन्म संस्कारों की प्रबलतासे सहज ही में प्रकृत्यादि  
 पदार्थों का यथार्थज्ञान [ जिस को तत्त्वज्ञान कहते हैं ]  
 प्राप्त होजाना ॥

[ २ ] शब्दों का अभ्यास [ किये विना ही शब्दश्वरणमात्र से  
 अर्थज्ञान होजाना अर्थात् पशु पक्षी आदि सर्व भूर्तों  
 [प्राणियों] की वाणी को समझ लेना, यह दूसरी सिद्धि  
 है । इसको सर्वभूतशब्दज्ञान कहते हैं । यही शब्दज्ञान-  
 सिद्धि का तात्पर्य है । यह भी पूर्वजन्म के संस्कार की  
 प्रबलता से होती है ।

[ ३ ] तीसरी शास्त्रज्ञान सिद्धिउसको बहते हैं कि जो देवाः  
दिशास्त्रों के अभ्यास द्वारा प्रवलनाम वा प्रवलग्निका  
पूर्वजन्म के संस्कारों की प्रवलना से प्रकट होनी है। ये  
तीन सिद्धिर्या पूर्वजन्मउपवन्धी संस्कारों से प्राप्त होने  
वाली है। शेष की पांच सिद्धियाँ में से तीन तो विविध  
ताप संइन शक्तियाँ हैं अर्थात् तुम्ह दुःख, हानिलाभ,  
मानापमान, शीनोप्या, रागड़ेप आदिक हन्तों का लंतोग-  
शुक्त शान्तस्वभाव ने निर्विकल्प सदन करना, अर्थात्  
मन से भी उक्त सन्तापों को दुःख न मानना, किन्तु देह  
के धर्म दा प्रारब्ध के भोग रैश्वर की न्यायव्यवस्था-  
छुक्कल सम्भाव दार नहजाना तापचय का चर्णन आगे  
हागा यहाँ उन तीने ती सहनशक्तियाँ नीचे लिखते हैं।  
इनमें से —

[ ४ ] एक तो आधिर्ये नाम सहन शक्ति है ॥

[ ५ ] दूसरी आत्मानिन्द्र नाम सहनशक्ति और—

[ ६ ] तीसरी आधिदे नाम सहनशक्ति य हाती है ।

[ ७ ] सातवीं तीसरी चार्द यथा कटाती है कि गुद्धान्तःकरण  
शुक्त मिनों दा बाल चुल्जनों के उपदेशों के भवण  
मनव विद्युत्तम ऐ योक्त्याग और परमान्मज्जान  
सम्बन्धी जो तन्त्रराम का उक्ताश उद्देश में उत्पन्न होता  
है। इससे यार सिद्ध होता है, इसलिये विद्यानसिद्धि  
यही है ॥

[ ८ ] आठवीं सिद्धि यह है कि गुरु का हितकारी कोई भी  
पदार्थ जो दुर्लभ भी हो तो भी उसको अपने विद्यावल  
से अद्वा और भक्तिपूर्वक प्राप्त करके गुरु को आरपण  
करना। विद्या के बल से पदार्थ की प्राप्ति करने से इस  
को विद्यासिद्धि जानों अथवा गुरु जब तृप्त और सन्तुष्ट

वां प्रसंग होता है तो अधिक प्रेम से शिक्षा करता है, तब अविद्या का नाश और विद्या की प्राप्ति नाम सिद्धि-सुगम हो जाती है ॥

इस प्रकार ये द सिद्धियां जानो अथवा पृष्ठ २५ अथवा अविद्याजन्य मोहका व्याख्या में जिनाई गई आठ अणिमादि सिद्धियां जानो इन का अभाव नाम प्राप्त न होना ही माना सिद्धियों की अशक्तियां हैं ॥

उक्त ब्रह्मचक्र के ५० अराओं की संख्या नीचे लिखे ग्रन्थ दो प्रकार से यह है कि—

[ १ ] अविद्या = अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष अभिनिवेश = ५  
 [ २ ] तुष्टियां जिनकी सविहतर व्याख्या पूर्व की गई है = ६  
 [ ३ ] सिद्धियां वा ऐश्वर्य अणिमादि जिन की गणना अविद्याजन्य मोह के विषय में पूर्व की है । } = ८

[ ४ ] पांच ज्ञानेन्द्रियों की तथा पांच कर्मेन्द्रियों की तथा पक्ष मन की सब भिले के व्यारह अशुक्तियां हुई । } ११

[ ५ ] नव अशक्तियां तुष्टियों की तथा आठ अशक्तियां सिद्धियों की } १७

सब का योग ५०

प्रकारान्तर से ५० अरे ये हैं:-

[ १ ] अविद्या = तंमस्, मोह, महामोह, तामिळ, और अन्धतामिल ) = ५

[ २ ] इन्द्रियों से विषयभोग की शक्तियां = १०

[ ३ ] उपरोक्त नव तुष्टियां = ८

[ ४ ] आठ सिद्धियां = [ १ ] जन्मसिद्धि [ २ ] शब्दग्रान्  
 सिद्धि [ ३ ] शास्त्रज्ञान सिद्धि [ ४ ] आदिदैविकताप  
 सहनशक्ति [ ५ ] आध्यात्मिकतापसहनशक्ति [ ६ ]  
 आधिभौतिकतापसहनशक्ति [ ७ ] विद्यान सिद्धि  
 [ ८ ] विद्यालिङ्गि }

[ ५ ] नव तुष्टियों से सम्बन्ध रखने वाली दो दो शक्तियां ।  
 अर्थात् [ अनिच्छाशक्ति और परित्यागशक्ति ] १८  
 मिल कर [ २ × ६ ] १८ शक्तियां हुई ४०  
[ ५ ] [ विश्वतिप्रत्यरामिः ] जैसे रथचक्र के अरों की पुष्टि के  
 निमित्त उन की सन्धियों में पञ्चरें ठोकी जाती हैं उस ही  
 प्रकार ब्रह्मचक्र के उक्त अरों की मानों दस इन्द्रियां और  
 दश उनके विषय ये ही वीस पञ्चरें हैं ॥  
[ ६ ] [ अपूर्कःपंडभिः ] रथचक्र की पुट्ठी के जोड़ों में जैसे  
 कीलों के समूह प्रत्येक जोड़ पर जड़े जाते हैं, इस ही  
 प्रकार ब्रह्मचक्र में मानों ६ जाड़े हैं और प्रत्येक में मानों  
 आठ २ कीलों ठोकी गई हैं इस प्रकार ६ अपूरक ये हैं—  
 प्रथम [ १ ] प्रकृत्यएक = इस में = कीलों वा अंग ये हैं—

१ पृथिवी	६ मन
२ जल	७ शुद्धि
३ अग्नि	८ अहंकार
४ वायु	
५ आकाश	

बूसरा [ २ ] धात्वएक = इस के अंग ये हैं—

१ त्वचा	५ भेदा
२ चर्म	६ अस्थि
३ मांस	७ मङ्गा
४ संधिर	८ वीर्य

[ ३६ ]

तीसरा [३] सिद्धाष्टक वा ऐश्वर्याष्टक = इस के अंग ये हैं—

१ अणिमा	५ प्राप्ति
२ महिमा	६ प्राकाश्य
३ गणिमा	७ ईशत्व
४ लघिमा	८ विशित्व
मनान्तर से—	

१ परकायप्रवेश	५ दिव्यश्रवण
२ जलादि में अभ्यंग	६ आकाशमार्गगमन
३ उत्कान्ति	७ प्रकाशावरणक्षय
४ ज्वलन	८ भूतज्ञय

चौथा [४] भावाष्टक = इस के ८ अंग ये हैं—

१ धर्म	५ अधर्म
२ ज्ञान	६ अज्ञान
३ वैराग्य	७ राग
४ ऐश्वर्य	८ इनैश्वर्य

पांचवां [५] देवाष्टक = अष्ट वस्तु। इस के अंग ये हैं—

१ अग्नि	५ वौः
२ चायु	६ चन्द्रमा
३ अन्तरिक्ष	७ पृथिवी
४ आदित्य	८ नक्षत्र

छठा [६] गुणाष्टक = इस के ८ गुण ये हैं—

१ क्षमा	५ अनायास
२ दया	६ मंगल
३ अनुसूया	७ अकृपणता
४ शौच	८ अस्पृहा

[७] [ विश्वरूपैकपाशम् ] जैसे रंथ में चक्र को अच्छे प्रकार कसने का धन्धन डोरी होती है; इस ही प्रकार इस नामा

प्रकार की सुषिसमुदायमय विश्वरूप रथ [ ब्रह्माएडरूप रथ ] के चक्रको वांधनेकी ढोरी मानो एक तृणा ही फन्दे वा जाललै से फंसाने वाली फांसी हैं । प्राणीमात्र पशु, पक्षी, कीट, पतंग, स्थावर, जंगम आदि सब ही इस एक तृणा के घन्धन से बंध कर ब्रह्मचक्र के चक्कर में चक्कर लाया करते हैं ॥

[८] [ जिमार्गभेदम् ] जिस मार्ग में यह ब्रह्मचक्र चला करता है उस के तीन भेद हैं । यथा—१ उत्पत्ति २ स्थिति और ३ प्रलय अथवा १ धर्म २ अर्थ और ३ काम ॥

[९] [ द्विनिमित्तकमोहम् ] रथचक्रके चलानेका कोई निमित्त अवश्य होता है, सो यहां ब्रह्मचक्रके चलानेमें दो निमित्त हैं अर्थात् शुभ कर्म वा अशुभ कर्म, इन दो प्रकार के कर्मों का फल भोगने रूप दो निमित्तोंसे भी ब्रह्मचक्र चलाया जाता है, वा यों कहो कि उक्त दो निमित्तों के कारण प्राणी आवागमन [ जन्म मरण ] के चक्र में शूमा करते हैं और इन दो निमित्तों का कारण मोह अर्थात् अविद्या [ वा अक्षान ] ही है, जिस के कारण जीवात्मा वे सुध और इष्टानिष्टविवेकहोन होकर अन्धोंके समान कर्म करने में झुक पड़ता ( वा फिसल पड़ता है ) ॥ जैसे चिकनाई लगा देने से रथचक्र जलदो २ शूमता है, ऐसे ही मोहवश ब्रह्मचक्र भी शीघ्र चलता रहता है । मानो मोह ब्रह्मचक्र के ओघने के लिये चिकनाई है ॥

इस प्रकार ब्रह्मादी ऋषियों ने ध्यानयोग से निश्चय किया ॥

ब्रह्मचक्र के शूमने के लिये आधार भी होना चाहिये, सो „अधित्तिष्ठत्येकः“ इस वाक्यस्त्रुट से ‘ते ध्यानयोगानुगताः०

इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि सत्त्व का आधार वही एक परमात्मा है: अर्थात् जैसे रथचक्र के धूमने के लिये एक लोहकीलक होता है, इस ही दृष्टान्त से वह धुब्र अटल अचल एक परमात्मा हो ब्रह्मचक्र के लिये ध्रुव धुरा और आधार है ॥

—\*—

## पिण्डचक्र ।

स्वयंभू परमात्मा स्वयं चेतन सर्वाधार और सर्वज्ञ व्यापक है; अतएव ब्रह्मचक्र का स्वतन्त्र भ्रमण कराने और स्वाधीन रखने वाला अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि परब्रह्म ही है । जीवात्मा चेतन होने पर भी ईश्वर के आधीन और उस ही के आधार पर एकदेशी (परिद्विन्न) है । तथापि जगत् के अन्य पदार्थों की अपेक्षा कुछ २ स्वतन्त्र भी हैं अतः जैसे ब्रह्मचक्र परमात्मा के आधीन है । वैसे ही पिण्डचक्र जीवात्मा के आधीन है । अर्थात् ईश्वर के आधार वा सत्ता में कर्मनुसार धूमता हुआ जीव पिण्डचक्र को आप ही धूमाता है और उस निजदेहरूप चक्र से स्वेच्छानुसार काम लेता है । अर्थात् इष्टानिष्ठ ( शुभाऽशुभ ) कर्म में प्रवृत्त रहता है, तथापि नलिनीदलगतजलवत् स्वदेह से संवर्था भिन्न और संसारस्थ अन्य पदार्थों की अपेक्षा अति स्फूर्त और अव्यक्त पदार्थ अनादि काल से है प्रकृति की नाई कभी स्थूल वा कभी सूक्ष्म नहीं होता । सारांश यह है कि देहचक्र जीवात्मा रूप धुरे पर भ्रमण करता है ॥

जैसे रथचक्र में भीतर लोह में ओर जुड़े रहते हैं वैसे ही इस लिंग संधात प्राण विषे सघ इन्द्रियां स्थित हैं अर्थात् सौम्य प्राणरूप नाभि के आश्रय मन तथा इन्द्रियां मानों अरा हैं और शरीर मानों त्रिवृत् ब्रह्मचक्रवत् पिण्डचक्र की त्रिशु-

खात्मक नेमि है ॥ यही गुणवय देह में सदा मुल्य वा गौण-  
भाव से बन्मान रहते हुए निजे द प्रथानना के अवसरों में  
अचिन्तित दो गुणों को दर्याये रहते हैं ।

जिन्हासु को उचित है कि प्रथम प्रकृति को ध्येय पदार्थ  
मान कर ह्यदेहान्तर्गत विगुणजन्य कार्यों का धान प्राप्त करे  
और प्रतिकृति सत्त्व-रज तम के प्रथान वा गौणभावों का धान  
रक्षत्वं, क्योंकि वस्तुतः देहधारी जीव ही इनको प्रेरित करने  
वा चलाने वाला है और यथावत् वोध दोने पर ही उन ने  
यथावत् काम ले सकता है, नथा स्वयं उन की लक्षणों के  
आधीन न रहकर स्वतन्त्रतापूर्वक जानल्पी सूर्य के प्रकाश में  
स्वकल्याणकारी कर्मों को करता हुआ इष्ट मोक्षमुन् वा  
कालान्तर में प्राप्त कर हो लेता है । अन्यथा नमोजन्य अलाना-  
न्धकारमयगहन गम्भीर समुद्र में अन्धीभूत होकर डूबता ही  
चला जाता है और नरकल्य अनेक दुःखों को भोगता ही है ।  
क्योंकि वह अल्पदा भी तैं है । इसी कारण ज्ञन में पड़ा और  
भूला हुआ प्रथः वे तुध भी हो जाता है ॥

## पिण्डचक्रविषयक वेदोक्त प्रमाण ।

ओ॒ द॑ स॒ स॒ ऋ॒ प॒ यः प॒ ति॒ दि॒ ता॑ः श॒री॒र॑ स॒ स॒ र॒ ज्ञ॒ नि॒  
स॒ द॑ प्र॒ मा॒ द॑ म॒ । स॒ सा॒ पं॑ः स॒ व॒ पतो॑ ल॒ो॒क॑ वी॒ यु॒ स॒ न॒ त्र॑ जा॒ ग॒ तो॑  
औ॒ स॒ व॒ म॒ न॑ स॒ ं॒ त्र॑ स॒ द॑ व॑ च॒ द॑ व॑ ॥ २० अ० ३५ म॑ ० ५५

( अर्थः । ‘ये’—स॒ स॒ X ऋ॒ प॒ यः =

जो विषयों अर्थात् शब्दादि को प्राप्त करने वाले पांच  
कानेन्द्रिय, मन और तुदि ये सात ऋषि

शरीरे X प्रतिहिताः =

“इस” शरीर में प्रतीति के साथ स्थिर हुए हैं

“हे—एह” अस्मि “यथा” अनुभावित है “स्मृति” “यथा”  
विहीन सात चक्रों परावर कर्त्तव्य नहीं रहते हैं चैक्षणि

१. सद्य + रचनि =

१. उपरोक्ते के अत्यार गुरुर की समझ करते हैं

“तथा सहायता स्वयम् तोक्ष्यन् इहैः

“हे” गुरुर में व्याप्त होते वाहैं स्वयम् = (उच्च सात चक्र)  
तोक्ष्यन् हुए जीवात्मा को प्राप्त होते हैं

२. तत्र + अन्वसनी + सत्रसदी X वन्देश्वरी + नामदः

उच्च लोक प्राप्ति स्वयम् में अन्वितको स्वयम् कर्त्ता नहीं होता  
(अर्थात् जो जीव का स्वयम् न रखते वाहैं) तदा भी जी-  
वात्मा की रक्षा करते वाहैं और विष्व उच्च उपरोक्ते प्राप्त होते  
और ज्ञात्वा दागते रहते हैं।

(साक्षर्य) इस गुरुर में स्थिर अवश्यक तथा विषयों के  
जानने वाहैं अन्वयकरण के स्थिति दावे करनेन्द्रिय ही दिर्घुर  
गुरुर की रक्षा करते हैं कौर जद लोक सोका है। उच्च उपरोक्त  
का आश्रय हेतु उन्मोक्ष के बहुत से भावित जो स्थिति होते हैं  
किन्तु वाह्यविषय का बोध नहीं करते। कौर स्वयम् चक्र में  
जीवात्मा की रक्षा में ठब्बर उपरोक्त से व देवे हुए प्राप्त करते  
अपान लागते हैं। अन्वया यदि प्राप्त करते कर्त्ता सी जो  
बावें वो स्वरूप का ही स्वयम् करता चाहिए।

इन संहेत्र से उच्च उपरोक्तों का वर्णन इनका जाता है कि जो  
जीवात्मा को उच्च स्वरूप अस्ति वाते ऐह चक्र के अन्वय से  
नोगते ही पड़ते हैं। इन से हुए काया उन्हीं होता सन्तान है  
कि उच्च वंह इन हुए उपरोक्तों से समर्पण होकर ऐसा नहीं हुए हैं  
कहे कि जो अहमात्मचक्र में परिवर्तन पर उत्तर होकर

जन्ममरणरूप भ्रमण के प्रवाह में फिर चब्दरं न खाना पड़े । शुभाऽशुभ कर्मों की व्यवस्था के अनुसार दुःख तो असर्वय प्रकार के होते हैं, किन्तु व्यवस्थमाण पांच प्रकार के दुःखों से तो देही जीव को बचजाना असम्भव साही है, अर्थात् न्यूनाधिक भाव में सद्गुरी प्राणी भोगते हैं ।

## पांच ग्राकार के असहा भयंकर दुःख

( १ ) गर्भास दुःख = कफ पित्तविरामून्न आदि अमेघ मलों से लिस् वन्दीगृह सदृश शरीर में वंधुए के समान साथ पांच चंधे ( मुक्के वधी ) हुए रहकर माता के द्विर आदि 'श्रभद्य विकारों के भ्रष्टण से पुष्टि पाना । जहाँ श्वास लेने तककों भी पवित्र वायु नहीं प्राप्त हो सकता, प्रत्युत भट्टी सदृश माता के उदरे में जठरारिनरूप दहकती हुई कालांनि में सदा ऐसा सन्तान और ध्याकुल रहना पड़ता है कि जिसका वर्णन करते भयभीत हो कर हृदय कम्पायमान होता है । यहीं महाघोर संकष्ट प्रद नरकघास है मानो कुम्भीपाक नामक नरक यही है ।

( २ ) जन्म दुःख = जन्म समय योनिद्वारा इस प्रकार भित्ति कर निकलना होता है कि जैसे सुवर्णकार तार को यन्त्र के छोटे २ संकुचित छिद्र में से किसी भोटे तार को खींच कर निकाले । इस समय के दुःख का भी अनुग्राह करा हो सकता है ।

( ३ ) जरा दुःख = दुढ़ापे में इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं, ठीक २ काम नहीं देतीं । जठरारिन मन्द होने के कारण पूर्णिंशक्ति घट जाने से शरीर की पुष्टि भी नहीं की जाती जो सकती नि गिससे इन्द्रियां बलवान् हो सके । दाँतों

निता भक्ति का वयाचन् चर्केग न हो सकते के जारी रहें एवं सकते दोनों प्रोटक पदार्थ भी उड़ेर में नहीं पहुंचाया जा सकता। कुण्डिहीन और अग्रल होने के कारण पुत्र कल्पन निव सदकी आंखें में हृद पुरुष कटकान हैं। मानसीन, प्रनिष्ठानंग होकर अन्धे बहरे दाने ताँधे के सबैन पहल और चिरस्त्रव होकर जान-ज्ञेयता दा ल्लो न्यौ कहने कुन्दिन काङ्गा र अस्त्रन कर के साथ पूरा करत पड़ता है।

(३) रोग हुन = रोग, किंडिनाम भी गुरीर में कहता होता है। जो नेत्र अस्त्रन्य के कारण नीकज (नीतिसीन) गिरे जाते हैं उनको भी हुन न कुछ न-इन किसी न किसी अन्य में लकड़ा रहती है वैयक्ति रोग, आदा जा मातो बर्द ही है। किर रोगहुक पुढ़ों जी ल्या कथा है किसको भोगते जान ही जान सकता है। दूसरा कोई कथा बारंन नह सकता।

(४) नरर हुन = मरणनय जा अहुमव कुनि से नेकर हस्ति और नहुस्य पर्वन्त अर्द्धन् जुड़हुड़ि और द्विकाय जन्मनु कीट एवं यु-जी कह हो रहते हैं। अतः जानना चाहिए कि इनको भी अधिक मरणर हुन्य कथा हो रहा। अस्तु हुन्हों के विषय हुन्हों कर्णकी कटिहीन एवं इहीन भी नरता नहीं चाहते।

इन २, ग्रस्तरस्तरहुमन्य में जब ३, ५ और जीवन-समा से देह के विदोय होने का लम्य आदा है, इस अवधि जी जया जान्हों से भी क्षतिहारदृ जान्हों जाती है; तास्तेर नहुस्य जन्म भर अपने उल्लंग की सामग्री इन्हीं करतेर एवं मरता है। इस एकार अनेक संकर से जात इस घनादि पदार्थ को एका एकी जड़पद

विना भोगे छोड़ते समय जो व्याकुलता का पश्चात्तापादि होता है; सो भी अकथनीय है, परन्तु पंगधीनता से अवश होकर हाथ मलता, सिर धुनता हुआ सब कुछ छोड़ मारता है। चौथे, धर्मधर्म, पापपुण्य, शुभाशुभ आदि कर्म अपने 'जीवन भर स्वतन्त्रता से' विना टोकटोक करता रहता है, किन्तु मरण समय अपने पापों को स्मरण करने के भय खाता है कि न जाने परमात्मा किस भारी घोर नरकसूख दुःख इन सब कर्मों के परिणाम में देगा। इत्यादि कारणों से मरण का दुःख भी महादारुण है। पांचवें, जन्मान्तरों में अनेक वार मृत्यु के दुखों को भोगते २ पूर्वसंस्कारजन्य ज्ञान व अनुभव की स्मृति मरण समय उद्भावित हो जाने पर देह से विद्योग करता हुआ जीवात्मा अत्यन्त भयभीत होता है। इत्यादि अनेक प्रकार के दुःख मरण में प्राप्त होते हैं।

## सृष्टिरचनाक्रम ।

अब जिज्ञासुओं के हितार्थ वेदादि सत्यशास्त्रोंके अनुसार सृष्टिरचनाक्रम संक्षेप से वर्णित किया जाता है।

पूर्व वर्णित हो चुका है कि सम्पूर्ण विराट् ( वहारण ) की नेमि ( योनि ) जिगुणात्मक प्रकृति है, उसको ही भोग करता हुआ जीवात्मा फंस जाता है और ईश्वर की न्यायव्यवस्था के अनुसार सुख दुख भोगता है। ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीनों अज हैं। इनका कभी जन्म नहीं हुआ.. अतः ये तीनों ही अनादि काल से अगत् का कारण हैं। इनका कारण कोई नहीं। इस विषय में प्रमाण नीचे लिखा है अर्थात्—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्घान्  
महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतः  
न्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविशतिर्गुणः ॥

संख्या अ० १ सू० ६१ [ देखो सत्यार्थप्रकाश

अष्टम समुद्दिष्टपृष्ठ २०६ तथा २२२

(सत्त्व) शुद्ध (रज) मध्य (तमः) जाह्य अर्थात् जडता,  
तीन वस्तु मिल कर जो एक संयात हैं उस का नाम प्रकृति  
है। उस प्रकृति से प्रथम महत्तत्व [ बुद्धि ] उत्पन्न हुआ।  
बुद्धि [ महत्तत्व ] से अहकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्रा [ सूक्ष्म  
भूत ] और दश इन्द्रियां तथा स्पारशां मन [ जो इन्द्रियों से  
कुछ स्थूल है ] एच्चतन्मात्राओं से पृथिव्यादि पञ्चवस्थूलभूत  
ये चाँतीस [ ४४ ] पदार्थ क्लशः उत्पन्न हुए और पञ्चोत्तमां  
पुरुष अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा सब मिल कर यह प-  
ञ्चीच तत्त्वों का समूदाय सम्पूर्ण जगत् का कारण है। इन में  
से प्रकृति अविकारणी और महत्तत्व अहकार तथा पञ्चसूक्ष्म  
भूत प्रकृति का कारण और इन्द्रियां मन तथा स्थूलभूतों का  
कारण है। पुरुष न किसी की प्रकृति [ उपादान कारण ] और  
न किसी का कारण है।

चतुर्स्त्रिष्ठशत्तन्तवो ये वितन्तिरे य इमं यज्ञश्चवध-  
याददन्ते । तेषां द्विन्नश्च सम्वेतदधामि स्वाहा धर्मो अ-  
प्येतु देवान् ॥ यजुः अ० ८ म० ६१ ॥

इस श्रुतिने इस प्रत्यक्ष यज्ञ [ चराचर जगत् ] को उत्पत्ति  
के कारण तत्त्व कहे हैं। अर्थात् ८ वस्तु, ११ सूक्ष्म, १२ आदित्य  
१ इन्द्र [ जीवात्मा ] १ प्रजापति [ परमात्मा ] और चाँतीसचीं  
प्रकृति। जिन्हाँ सु वा योगी को उन सब के गुण और लक्षण

जानने उचित हैं, व्याकि सम्पूर्ण पदार्थों के पान शुष्ट चिना यथावत् मुख नहीं प्राप्त होता और योग भी सिद्ध नहीं होता अतएव यहां उन सब फी संक्षिप्त व्याख्या की जाती है। उनमें से [ १ ] पूर्वकथनानुसार पुरुष नाम जगनिर्माता प्रजापति परमात्मा तो इस देह चक्र का निर्माण कर्ता है, तथा पुरुष [ इन्द्र वा जीवात्मा ] वद्यमाण द्रव्यादि से वने शुये देहरूप चक्रको ध्यानयोग से चलाने, ठहराने, चिरस्थायी रखने और अन्य अनेक कार्यों में उपयुक्त करने वाला है। आगे द्रव्य के नाम और शुण कहे जाते हैं यथा—

( २ ) पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा  
मन इति द्रव्याणि ॥

( वै० अ० १ आ० १ सू० ५ )

( स० प्र० समु० ३ पृ० ५७ )

अर्थात् [ १ ] पृथिवी [ २ ] जल [ ३ ] तेज [ ४ ] वायु [ ५ ]  
आकाश [ ६ ] काल [ ७ ] दिशा [ ८ ] आत्मा और [ ९ ] मन ये  
नव द्रव्य कहाते हैं।

क्रियागुणवत्समवायिकारणमितिद्रव्यलक्षणम् ॥

वै० अ० १ सू० १५

( स० प्र० समु० ३ पृ० ५७॥ ]

द्रव्य के लक्षण यह हैं कि जिस में क्रिया और गुण अथवा कौवल गुण ही रहे और जो मिलने का स्वभाव युक्त कारण कार्य से पूर्वकालस्थ हो उसी कारणरूप तत्त्व को द्रव्य कहते हैं। जैसे भट्टो और छड़े का समनावि सम्बन्ध है।

उक्त नव द्रव्यों में से पृथिवी, जल तेज [ अग्नि ] वायु,  
मन और आत्मा ये हैं द्रव्य क्रिया और गुण वाले हैं। तथा

आकाश, काल और दिशा इन तीन द्रव्यों में केवल गुण ही है किया नहीं।

रूपरसगन्धस्पर्शः संख्यापरिमाणानि  
पृथक्त्वं संयोगविभागो परत्वाऽपरत्वे  
मुद्धयाः मुख दुःखेच्छाद्वै पौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥  
३० अ० ? आ० '१ य० ६

[ स० प्र० सनु० ३ दू० ५० ]

युक्तवद्विषयस्तेहसंस्कारधर्माधर्मोशब्दाश्चैते ।  
सप्त विक्षित्वा चतुर्विंशति गुणाः संख्यायन्ते ॥

स० प्र० सनु० ३ प० ५६

१	२	३	४	५	६	७	८
---	---	---	---	---	---	---	---

लंग, रस, गन्ध, स्पर्श संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग  
हि १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७  
विशाग, परत्व, आपरत्व, वृद्धि, खुख, दुख, इच्छा, द्वैष "प्रय-  
त्व ये सत्रह गुण तो वैशेषिक शास्त्र के शतुर्सार हैं, परन्तु  
सात गुण और भी ये हैं ।

१	२	३	४	५	६	७
---	---	---	---	---	---	---

वया—गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्तंह, संस्कार, धर्म, आधर्म यांत्र शब्द  
ये सब २४ गुण सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुद्दलान की आदा  
में विज्ञाप गये हैं, पहां सविरतार इस विपर्य द्वा वर्णन किया  
गया है । आगे चंद्रों के आदुसार संक्षेप से दृष्टि रखना ली  
व्याख्या करते हैं ॥

---

## वेदोक्त सृष्टिविद्या

ओं सप्तार्धगर्भा शुचनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्र-  
दिशा। विधर्मणि । ते धीतिभिर्मनसा वे विपश्चितः परि-  
शुब्दः परिभवन्ति विश्वतः ॥

[ ऋ० अ० २० श० ३० व० २० म० १ अ० २२ ] ल० १६४ मंत्र  
[ शर्यत् ] “ये सप्त+अर्धगर्भाः+ = “जो,— सात+आधे  
गर्भरूप अर्थात् पञ्चीकरण को प्राप्त महत्त्व, अहंकार, पृथिवी,  
अप, तेज, वायु आकाश के सूक्ष्म अवयव रूप शरीर धारी—  
शुचनस्य+रेतः+निर्माय, = संसार के+वीज को+“उत्पन्न फरके  
विष्णोः—प्रदिशा + विधर्मणि × तिष्ठन्ति

व्यापक परमात्मा की आशा से अर्थात् उस की आशारूप  
वेदोक्त व्यवस्था से—अपने से विरुद्ध धर्म वाले आकाश में  
स्थिर होते हैं ।

ते\*धीतिभिः; ते मनसा च  
वे\*कर्म के साथं तथा\*वे\*विचार के साथ

परिशुब्दः क्षेत्रिपश्चितः—

सब ओर से+विद्या में कुशल विद्वजन  
( विश्वतः×परिभवन्ति )

सब ओर से # तिरस्कृत करते हैं अर्थात् उन के यथार्थ,  
भाव के जानने को विद्वजन भी कष्ट पाते हैं ।

[ भावार्थ ] जो महत्त्व अहंकार ओर पञ्चसूक्ष्मभूत सात  
पदार्थ हैं; वे पञ्चीकरण को प्राप्त हुवे सब स्थूल जगत् के  
कारण हैं और वेतन से विरुद्ध धर्म वाले जड़खण अन्तरिक्ष  
में संव बसते हैं । जो यथावत् सृष्टिक्रम को जानते हैं वे

विद्वान् जन सब और से सत्कार को प्राप्त होते हैं और जो इसको नहीं जानते वे सब और से तिरस्कार को प्राप्त होते हैं।

पृथिवी आदि जंगल के पदार्थों के गुण कर्म स्वभाव को जान कर दिया और बुद्धिवल की बुद्धि करने के लिये बेदोक्त ईश्वराहाः ओ—त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वाऽङ्गमोऽस्याक्रमाय त्वासंक्रमोऽसि संक्रमायत्वोत्क्रमाऽस्युल्कमाय त्वोत्क्रान्ति रस्युल्कान्त्यैत्वाऽधिपतिनार्जीं जिन्व ॥

( यजु० अ० १५ मन्त्र ६ )

( अर्थ )—हे मनुष्य! त्वम् = हे मनुष्य! त् चिवृतः असि = चिवृते × त्वा “श्रहं परिश्रहणामि”

सत्त्व, रज और तमोगुण के लह वर्त्तमान अव्यक्त कारण का जानने हारा है उस तीन गुणों से युक्त कारण के ज्ञान के लिये तुझ को ‘मैं’ सब प्रकार से ग्रहण करता हूँ तथा प्रवृत् × असि × प्रवृते × त्वा

“त्,” जिस कार्यस्प से प्रवृत्त संसार का ज्ञाता + है + उस कार्यस्प संसार को जानने के लिये तुझ को चिवृतः असि = चिवृते × त्वा

“त्,” जिस विविध प्रकार से प्रवृत्त जंगल का उपकार कर्त्ता है = उस जगदुपकार के लिये तुझ को संसार + असि = सवृते × त्वा

“त्,” जिस समान धर्म के साथ वर्त्तमान पदार्थों का जानने हारा है = उस साधर्म्यपदार्थों के जानने के लिये तुझ को आक्रमः असि = आक्रमाय × त्वा

“तू.. अच्छे प्रदार पदार्थों के रहने के स्थान अन्तरिक्ष का जानने वाला+है+उस अन्तरिक्ष को जानने के लिये+  
तुझ को

संक्रमः+असि+संक्रमाय+त्वा

“तू.. सम्यक् पदार्थों को जानता+है+उस पदार्थकान के  
लिये+तुझ को

उत्क्रमः+असि+उत्क्रमाय+त्वा

“तू.. ऊपर मेघमण्डल की गति का ज्ञाता+है+उस मेघ-  
मण्डल की गति को जानने के लिये+तुझको

उत्क्रान्तिः+असि उत्क्रान्तयै+त्वा॥ शहै+पत्तिग्रहमि

‘है मनो तू.. सम विषय पदार्थों के उपषेष्ठ के हेतु विद्या  
को जानने हारी॥ है॥ उस गमन विद्या के जानने के लिये॥ तुझ  
को॥ मै॥ सब प्रकार से ग्रहण करता हूँ॥

“तेन-स्वेन”॥ अधिष्ठिना “सह” “त्वं-ऊर्जा+ऊर्जम् जिन्व

उससःश्रापने॥ स्वभी को सहवर्त्तमानश्तु॥ पराक्रम से उच्चल  
को॥ प्राप्त हो॥

[ भावार्थ ] पृथिवी आदि पदार्थों के गुण और स्वभाव  
जाने विना कोइ भी चिह्नान नहीं हो सकता, इस त्रियं कार्य  
कारण दोनों को यथावत् जानकर अन्य मनुष्यों के लिये  
उपदेश करना चाहिये ॥

ओ—विश्वकर्मा श्वजनिष्ठ देव आदिद्वगन्धवेष्ट्रभवद्  
द्वितीयः । द्वितीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं  
च्यदधात्पुरत्रा ॥ यजुः अ० १७ म० ३२ ॥

[ अर्थ ] ‘है॥ मनुष्याः॥ अद्वैत॥ जगति॥’ विश्वकर्मा० देवः॥  
“आदिमः”॥ इति॥ अभवत् ॥

हेऽमनुष्योऽइस जगत में जिस के समस्त शुभ काम हैं  
वह दिवस्त्रवद चानुप्रथमः ही उत्पन्न होता है ॥

आत्मगन्धवेः अजनिष्ट

इनके अनन्तरत्रौं पृथिवी को धारण करता है वह सूर्य  
वा सूर्योन्मा चानुउत्पन्न होता है—और

ओपथीनामः आगाम् शिताल्लिहि द्वितीयः

यद्यादि ओपथियैऽजलौ और प्राणो शाश्व (पिता) पालन  
करने द्वारा डीडुस्त्रव अर्थात् धनज्ञय—तथा

“यः गर्भं व्यद्यात् स् पुरत्रा जनिता “परजन्यः”  
द्वितीयः कु “अमदनुष्टिइनिष्टुभवन्तः × विद्यन्तु”

लोक गर्भ अर्थात् प्राणों के धारण को विधान करता है वह वहूंको का रजक्षजलौ का धारण करने वाला मेवश  
तीस्त्रव उत्पन्न होता है इस विषय को अध्याप लोगजानो

( भावार्थ )—जब मनुष्यों को यह जानना योग्य है कि  
इस संसार में सब कानों के सेवन करने हारे जीव पहिले  
विजुली, अग्नि, चानु और सूर्य पृथिवी आदि लोकों के  
धारण करने हारे हैं, व दूसरे और येव आदि तीसरे हैं। उन  
में पहिले जीव अज हैं अर्थात् उत्पन्न नहीं होते और दूसरे  
तीसरे उत्पन्न होते हैं, परन्तु वे भी कारणकृप से नित हैं ॥

—०—

### ऋतुचक्र ।

यह ऋतुओं का चक्र किसने रचा है, इस विषय का  
उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

ओ—एक्याऽस्तुतव प्रजा अर्थीवन्त् प्रजापतिर

विपतिरासान् । तिसूभिरस्तुतव् ब्रह्मासृज्यत

ब्रह्मणमपतिरधिपतिरासीत् । पञ्चभिरस्तुवत्  
भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत् ।  
सप्तभिरस्तुवत् सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त धाताऽ-  
धिपतिरासीत् ॥ यजु० अ० १४ म० २८ ॥

(अर्थ) “हे॒मनुष्याः २” प्रजापतिः ३ अधिपतिः  
( सर्वस्य ४ स्वामी५ ईश्वरः) आसीत्६ सर्वाः७प्रजाः८  
च अधीयन्त है तम ९० एकया११ अस्तुवत्

“हे॒१ मनुष्यो॒२ जो॒३ प्रजा का रक्षक ४ सब का अध्यक्ष  
परमेश्वर ५ है६ और जिसने सबके प्रजा के लोगों को७ वेद-  
डाना विद्यायुक्त किये हैं उसकी एक वाणि८ से स्तुति करो ।

“यः९ ब्रह्मणस्पति१ अधिपतिः२ आसीत्३  
“येनइदं४ सर्वविद्यामयं”५ ब्रह्म = (वेदः) असृज्यते६  
तम्७ निसृभिः८ अस्तुवत्

“जां” वेद का रक्षक१ सब का स्वामी परमात्मा२ है३  
“जिस ने४ यह५ सकल विद्यायुक्त”६ ब्रह्म (वेदः) को७  
रचा है८ उसकी९ प्राण, उदान, व्यान इन तीन वायुओं की१०  
गति से स्तुति करो ।

येन “क्षेभूतानिक्षेअसृज्यन्तक्षें “यः” भूतानांक्षेपतिः१०

अधिपतिः११आसीत्१२क्षेतंक्षेपञ्चभिः१३अस्तुवत्  
जिसने१४पुथिवी आदि भूतों को१५रचा है१६जो१७सब भूतों का  
रक्षक और रक्षकों का भी रक्षक१८१९उसकी२०समान वायु  
चित्त द्विद्वि अहंकार और मन इन पांचों से२१स्तुति करो ।

“येन”२२संश्रृष्टयः२३ \* असृज्यन्त२४ “यः” धाता२५  
अधिपतिः२६आसीत्२७ “तं”२८ \* सप्तभिः२९अस्तुवत्

जिसने # पांच मुख्य प्राण, महत्त्व-समष्टि और अहंकार सात पदार्थों के हैं # जो धारणा के पांपणकर्ता # सब का स्थानीय है उसकी नामे, कूर्म, कक्षल, देवदत्त, धनञ्जय इन पांच प्राण छठी इच्छा और सातवां प्रयत्न, इन सातों से स्फुटि करो

## तेतीस देवता

ओ—त्रयो देवा एकादशा त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः ॥

वृहस्पतिपुरोहिता देवस्यसवितुः सबे । देवा  
देवैरवन्तु मा ॥ यजु० अ० २० मं० ११

[ अर्थ ] -ये—त्रयाः—देवाः =

जो तीन प्रकार के + दिव्य गुण वाले पदार्थ  
वृहस्पतिपुरोहिताः =

जिनमें बड़ी का पालन करने हारा सूर्य प्रथम धारण किया हुआ है सुराधसः = जिन से अच्छे प्रकार कार्यों की सिद्धि होती है वे

एकादश + त्रयस्त्रिंशाः =

ग्यारह + और तेतीस दिव्य गुण वाले पदार्थ ॥

सवितुः—देवस्य — सबे ‘वत्तेन्ते’

सब जगत् की उत्पत्ति करने हारे + प्रकाशमान ईश्वर के + परमेश्वर्युक्त उत्तम किये हुवे जगत् में हैं ।

“तैः” + देवैः—‘सहितं’ + मा =

उन + पृथिव्यादि तेतीस पदार्थों के + सहित + मुभको

देवाः + अवन्तु ( उन्हें सम्पादयन्तु )

चिद्रान् लोग # रक्षित और चढ़ाया करें ।

( भाग्यार्थ ) जो धृथियाँ, जन्, नेत्र, दातु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र दे आठ ( चतु ) और प्रसर, अग्नि, व्याप, उद्गम, सनात नाम, कूर्म, कक्षा, देवदत्त, वनवन्नद, तथा न्यारहदाँ लोचात्मा ( दे न्यारह नद्र ) छादय अद्वित्य नाम यारह महत्त्वे, विकुलो ईर यज्ञ इन नेतासि दिव्यगुण। वाले पृथिव्यादि पदार्थों के गुण कर्म और स्वभाव के उपर्युक्त से लो सब मनुष्यों की उप्रति करते हैं, वे सर्वोपाकारक होते हैं।

## देहादिसाधनविहीन जीव अशुक्त है

ओ॒इय॑—नन्दिजानामि यदि॑ व॒देष्यस्मि निएवःसंनद्धो  
मनसा चरामि । यदा मागन्त्रयमना ऋत्स्यादिद्वा चो  
भस्तुवेभागपस्याः ॥ अ० अ० द । अ० इ । व० र०  
म० १ अ० २२ स० ६६४० मन्त्र ३७ ॥

( अर्थ ) यदा—प्रथमज्ञानपान्त्रा—अग्नि

जब+उपादान कारण प्रहृति से उत्पन्न हुए पूर्वमन्त्रों के  
महत्त्वादि+सुख लोक को+प्राप्त हुए अर्थात् जब उन महत्त्वादि की स्थूल रसोरावस्था हुई।

आद॑इत् ऋत्स्यदि॑ अस्याः४ वाचः५ भानम्६ अथ॑ वे  
उसके अनन्तर दै ही सत्य के दै और इस दै वाली के  
भाग का अर्थात् विद्योविषय को ५ [ अहं द अद्भुते ] नै प्राप्त  
होता है।

“वाचन्” इदं “प्राप्तः८न् ई” अन्ति१

“जब तक” इस शुद्धीरे को “ प्राप्त नहीं” होता है। ८८१

“तावत्” १ उक्ते “—पदित्र—न२ वि = (विशेषे-  
ण) ३ जानामि ।

“ तब तक उस उक्त विषय को ” यथावत् जैसा का तैसा  
विशेषता से नहीं जानता हूँ किन्तु

मनसा१ सन्नद्धः२ \*निएयः३ चरामि

अन्तःकरण के विचार से १ अच्छे प्रकार वंधा हुआ २  
अन्तर्हित अर्थात् उस विचार को भीतर स्थिर किये हुये ३  
विचरता रहता हूँ ।

[ भावार्थ ] अल्पक्षता और अल्पशक्तिभूता के कारण  
साधनरूप इन्द्रियों के द्विना जीव, सिद्ध करने योग्य चर्तु को  
नहीं अहण कर सकता, किन्तु जब श्रोत्रादि इन्द्रियों को प्राप्त  
होतां है, तब जानने के योग्य होता है । जब तक विद्या से  
सत्यपदार्थ को नहीं जानता, तब तक अभिमान करता हुआ  
पशु के समान विचरता है ।

ओँ—अपाङ् प्राङ्गतिस्वधया गृभीतोऽमत्योँ

मत्येना सयोनिः । ता शशनंता विपूचीना

वियंता न्यन्यं चिवशुर्न निचिवशुरन्यम्

अ०अ०२० । अ०३ । व०२१५०१ । अ०२२ । सू० १६४ मन्त्र दृढ

(अर्थ) “यः” १ स्वाधया२ अपाङ्ग३ प्राङ्ग४ एति

“जो १जलादि पदार्थों के साथ वर्तमान २उल्लटा ३सीधा  
४ प्राप्त होता है ।

‘ यः’१ गृभीतं२ अमत्यः ‘ जीवः’

“जो.”—अहण किया हुआ ५ मरण धर्मरहित “जीव”

\*निएयः=इति निर्णीतान्तर्हितनाम निर्घं०

मर्त्यन् १ सयोनिः “अस्ति”

मरणधर्म सहित शरीरादि के साथ १ एक स्थान वाला हो रहा है ।

ता = तौ मर्त्याऽपत्यै जड़चेतना

वे दोनों [ मर्त्य अमर्त्य अर्थात् सूत्यु धर्म सहित तथा मरणधर्मसहित ] जड़ चेतन

शशबन्ता ? विपूचीना २ विगन्ता = वर्ते ते

सनातन : सर्वत्र जाने वाले २ और नाना प्रकार से प्राप्त होने वाले वर्तमान हैं

“तं,,....अन्यं ‘विद्वांसः,, ३ निचिक्युः

“उन में से उस,, एक “शरीरादि के धारण करने वाले चेतन और मरण धर्मसहित जीव को विद्वान् जन,, १ निरन्तर जानते हैं ।

“अविद्वांसश्च,, १ अन्यम् २ न ३ निचिक्युः

“और अविद्वान् लोग,, १ उस एक को २ वैसा नहीं ३ जानते ।

( भावार्थ ) इस जगत् में दो, पदार्थ वर्तमान हैं—एक जड़, दूसरा चेतन । उनमें से जड़ अन्य पदार्थ को तथा अपने रूप को नहीं जानता, परन्तु चेतन अपने स्वरूप को तथा दूसरे को जानता है । दोनों अनुत्पन्न, अनादि और विनाश रहित वर्तमान है । जड़ को ( अर्थात् शरीरादि परमाणुओं के संयोग से स्थूलावस्था को ) प्राप्त हुआ चेतन जीव संयोग वा वियोग से स्थूल वा सूक्ष्म सा भाव बोता है, परन्तु वह एक सार ( एकरस ) स्थित जैसा है, वैसा ही ठहरता है ।

यहाँ सृष्टिविद्यादि विषयों का प्रकरणानुकूल संकेत मरत्र कथन किया गया है । विस्तृत व्यवस्था उन सब की तत्त्वदि-

पर्यक्ष वेदानुकूल सन्ध्याग्रन्थों से जिजामु को जानना आवश्यक है अर्योंकि—

नाशक्त्रोपदेशविधिस्पष्टिः पृथग्नुपदेशः

[ सांख्य अ० १ म० ६ ]

निष्फल कर्म के लिये अमृति लोग कहापि उपदेश नहीं किया करते। अनेक उपरोक्त सम्पूर्ण विषय को अच्छे प्रकार अवलोक्तुप्रय द्वारा समझ कर उस से उपयोग लेना चाहिये।

## ध्यानयोग की प्रधानता ।

ध्यान पूर्वक समझने की वार्ता है कि जैने अग्नि और इन्धन के संयोग से अग्नि के दाहक गुण रूप निज शक्ति का प्रकाश तथा उस से पूज्ञ की उत्पत्ति आदि व्यवहार भी होता है, उस ही प्रकार जीवात्मा और प्रकृतिजन्य शरीर के ही संयोग से जीवात्मा की निज शक्ति द्वारा संमूर्ख शुभाशुभ चेष्टा इन्द्रियों के प्रकाश से प्रादुर्भूत होती है, अन्यथा सब व्यष्टिमात्र का होना असम्भव है। परन्तु अलग जीवात्मा अविद्या के कारण अन्तःकरण तथा इन्द्रियों के वशीभूत होकर अनेक विषय के फन्दो में फंसा हुआ अनेक संकल्प विकल्प रूप मानसिक तथा इन्द्रियों द्वारा कार्यिक वाचिक आघर्व युक्त चेष्टाएं करता हुआ वा विविध संश्यों में व्याकुल होना हुआ चेष्टा रूपी चक्र में स्नायमाण रहता है। ध्यानयोग द्वारा इस चक्र अंमण रूप प्रवाहका सर्वथा निवारण कर के जब उक्त जीव परमात्मा में प्रीति करना है तब योग को प्राप्त होता है। इस कथन से सिद्ध है कि योग सिद्ध होना अर्थात् परमात्मा के ज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति का मुख्य साधन एक ध्यान ही है।

यह नियम है कि विना ध्येय पदार्थ के ध्यान नहीं हो स-

कता अत पव ध्यान योग में इस क्रम से ध्येय पदार्थों का अ-  
हण होता है कि प्रथम पञ्च प्राण, द्वितीय दर्शनिद्रियगण, तृतीय  
मन, चतुर्थ अन्तःकरण चतुष्प्रथम इत्यादि अनेक व्यूह से स्थूल  
पदार्थों से लेकर सूक्ष्म से भूक्ष्म पदार्थों पर्यन्त क्रमशः इस  
प्रकार परिशान प्राप्त करना चाहिए कि एक २ पदार्थ को ध्येय  
स्थापित करके निरन्तर कुछ काल पर्यन्त अभ्यास कर २ के  
पृथक २ पक्ष २ पदार्थ को जाने । इन पदार्थों का यथावत् ज्ञान  
हो जाने के पश्चात् जीवात्मा को अपने निज स्वरूप का भी  
ज्ञान होता है । अपने स्वरूप का ज्ञान होते ही जीवात्मा पर-  
मात्मा को भी विचार लेता है, क्योंकि परमात्मा ज्ञान का भी  
ज्ञान है ,

प्राणों का ज्ञान प्राप्त होते ही जान लिया जाता है कि सब  
इन्द्रियों को अपने २ विषय में प्राण ही चलाते हैं; तथा सब  
चेष्टाओं इन्द्रियों द्वारा ही होती हैं क्योंकि ध्यान धायु नामक  
प्राण ही सब चेष्टाओं को करता है । अतः शरीर में प्राण ही  
सब चेष्टा करने में कारण ठहरे, सो प्राणों के प्रकाश से ज्ञाने-  
निद्रियों द्वारा चित्त की वृत्तियाँ बाहर निकल कर विषयों में  
फैलती हैं । इस लिये एक २ वृत्ति को ध्येय जानकर ध्यान-  
योग द्वारा पृथक २ रोकना चाहिये, और उनको पहचानना  
भी चाहिये, क्योंकि पहचाने विना वे वृत्तियाँ रोकी भी नहीं  
जा सकतीं और योग कदापि सिद्ध नहीं हो सकता । विषयों  
में बाहर फैली हुई वृत्तियों को भीतर की ओर मोड़नी  
चाहियें । मन को वृत्तियों में तथा इन्द्रियों को वृत्तियों और  
विषयों से रोक दा मोड़ कर भीतर की ओर लेजाना जीवा-  
त्मा के आधीन है, क्योंकि वस्तुनः जीवात्मा ही इन्द्रियादि  
को अपने घरमें रखकर उनसे काम लेने वाला अधिष्ठाता वा  
राजा के समान प्रधान फारण है और प्राण तथा इन्द्रियादि

को अपने वश में रखकर उनसे काम लेने वाला अधिष्ठाता वा राजा के समान प्रधान कारण है और प्राण तथा इन्द्रियादि पदार्थ सब प्रजास्थानी हैं। जिस मनुष्य का जीवात्मा अचिन्त्यान्धकार में फँसकर प्राण और इन्द्रियादि के आधीन रहे, उसको उचित है कि ध्यानयोगद्वारा उस अचिन्त्यान्धकार को प्रयत्न और पुरुषार्थ करके नष्ट करे। जीवात्मा जब वायु (प्राण) को व्रेसण करता है, तब वे प्राण इन्द्रियों की वृत्तियों को बाहर निकाल कर उनके विषयों में प्रवृत्त कर देते हैं। इस विषय का पूर्णज्ञान तब होता है, जब ध्यानयोग का निरन्तर ऋग्यास करते २ जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। ध्यानयोग की परिपक्वदर्शन समाधि है। उस अवस्था में मन हुए जीवात्मा को परमात्मा का साक्षात्कार होता है और ध्यान के ही आश्रय से मनुष्य के सारे लौकिक व्यवहार ठीक र चलते हैं। ध्यान ही का डिग जाना विज्ञ-कारक है। इन्द्रजाली (वार्जीगर) इस ध्यान के ही सहारे से कैसे २ आश्र्यजनक कौतुक करते हैं। जितनाचिर इनमायाची लीलाओं के सीखने सिखाने में ये कौदुकी लोग अपने मन को वशीभूत करके एक ही विषय में सर्वथा अपना ध्यान ठहरा कर उदरनिमित्ति, द्रष्टाओं को प्रसन्न करके अपना अर्थ सिद्ध कर लेते हैं। यदि उसका दशमांश काल भी अम-पूर्वक योगविद्या के अभ्यासद्वारा परमेश्वर में ध्यान स्थिर करके निरन्तर निरालस पुरुषार्थ जो कोई करे तो उस को धर्मार्थ काम और मोक्ष चारों पंदार्थ अवश्यमेव प्राप्त हो जाते हैं, इस में कुछ भी सन्देह नहीं है॥

योगानुष्ठानविषयक वेदोक्त ईश्वराज्ञा ।

ओं—युज्ञानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविताधियम् ।

अग्नेऽयोतिनिंचाश्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ १ ॥

यजु० अ० ११ मन्त्र २—५ पर्यन्त ( भ० प० २५४-१५६)

इस मन्त्र में ईश्वर ने योगाभ्यास का उपदेश किया है। योग का करने वाले मनुष्य तत्त्व अर्थात् ब्रह्मकान के लिये प्रथम जब अपने मन को परमेश्वर में युक्त करते हैं तब परमेश्वर की दुखि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है, फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके यथावत् धारण करते हैं। पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है ॥ १ ॥

इस लिये—

ओं—युज्ञेन मनसा वयं देवरय सवितुः सवे ।

स्वर्ण्याय शक्तया ॥ २ ॥

सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि इस लोग भोक्त-सुख के लिये यथायोग्य सामर्थ्य के बल से परमेश्वर की सृष्टि में उपासनायोग करके अपने आत्मा को शुद्ध करें, जिस से कि अपने शुद्धान्तःकरण द्वारा परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों। इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य समाहित मन और आत्मज्ञान के प्रकाश से युक्त होकर योग का अभ्यास करें तो अवश्य लिङ्गियों को प्राप्त हो जावें ॥ २ ॥

ओं—युक्त्वाय सविता देवान् स्वर्ययो धिया दिवम्

बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ३ ॥

इसी प्रकार वह परमेश्वर देव भी उपासकों को अत्यन्त सुख देके उनकी दुखि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश

को करता है। वह अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उन आत्माओं में बड़े प्रकाश को प्रकट करता है और जो सब जगत् का पिता हैं वही उन उपासकों का ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण कर देता हैं, परन्तु जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करते हैं, उन्हीं उपासकों को परमकृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर भोक्तसुख देकर सदा के लिये आनन्ददीयुभ कर देगा। इस ही लिये—

मुञ्जते मन उत युंजते धियो विप्रा विष्वस्थ वृहतो विष-  
पवितः । नि होत्रा दधे वयुनाविदेक्ष इन्मही देवस्य सवितुः  
परिष्टुतिः ॥ ४ ॥

जीव को परमेश्वर की उपासना अद्यनित्य करनी चाहिये अर्थात् उपासना समय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें और जो लोग ईश्वर के उपासक बड़े बड़े बुद्धिमान् उपासनायोग के ग्रहण करने वाले हैं वे लोग सबको जानने वाले सब से बड़े और सब विद्याओं से युक्त परमेश्वर के बीच में अपने मनको ठीक २ युक्त कर देते हैं स्था अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात् ज्ञान को भी सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं। जो परमेश्वर इस सब जगत् का धारण और विधान करता है, जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी सांकी है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है जिस से परे कोई उत्तम पंदार्थ नहीं है। उस देव अर्थात् सब जगत् के प्रकाश और सब की रचना करने वाले परमेश्वर की हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें। कौसी वह स्तुति है कि ( मही ) सब से बड़ी अर्थात् जिसके समान किंसी दूसरे को हो ही नहीं सकती ॥ ४ ॥

इसी लिये—

ओं—युजे वां ब्रह्म पूर्वे नमोभिवि श्लोक एतु  
पथयेत् सूर्यः । शृणवन्तुविश्वे अग्रतस्यपुत्रा आये धामा-  
निदिव्यानि तस्युः वज्र० अ० ११ म० ५

[ भू० पू० १५८ ]

उपासना उपदेश देने वाले और ग्रहण करने वाले दोनों  
के प्रति परमेश्वर प्रतिप्राप्त करता है कि जब तुम सनातन ब्रह्म  
की सत्य प्रेयभाव से अपने आत्म को द्विष्ट करके नमस्कारा-  
दीरीतिपूर्वक सत्यसेवा से उपासना करोगे तब मैं तुमको  
आशीर्वाद दूंगा कि सत्य कीर्ति तुम दोनों को पेसे प्राप्त हों  
जैसे कि परमविद्वान् को धर्मभार्य यथावत् प्राप्त होता है ।  
फिर वही परमेश्वर सप्तको उपदेश भी करता है कि दो भाव-  
भार्य के पालन करने हारे नहुण्यो ! तुम स्वयं लोग ख्यात  
देकर तुनों कि जिन द्वित्र्य लोकों द्वार्थात् मोहसुखों को पूर्वज  
लोग प्राप्त हो जुके हैं, उसी उपासनार्थों से तुम लोग भी  
उन सुखों को प्राप्त हो, इसमें स्वदेह मत करो । इसी लिये मैं  
तुम को उपासनार्थों में युक्त करता हूँ ॥

### अस्त्वानोपाय ।

उपरोक्त वेदसन्त्र से जिस व्याप्ति की उपासना करने का  
उपदेश किया गया है, उसके जानने के हेतु केनोपनिषद् में  
इस प्रकार प्रश्न स्थापित किये हैं कि—

केनेषितं पतति प्रेणितं सनः केनः गाणः प्रथमः प्रैति  
युक्तः । केनेषितां बाचमिमां बदनित चल्लुः श्रोत्रं कं उ-  
देवो युनक्तिः ॥१॥ ( केन उ० सं० १ म० १ )

बह कौनसा देव है कि जिस के नियत किये हुए नियमों  
के अनुसार प्रेरणा किया हुआ। मन तो अपने विषयों की ओर  
दौड़ता है, तथा शरीर के अद्भुतान्हों में फैला हुआ प्राण अ-  
पना सञ्चाररूप व्यापार करता है, मनुष्य हस वाणी को धो-  
लते हैं और जो नेत्र तथा कान आदि इन्द्रियों को अपनेर का-  
यों में युक्त करता है ?

अगले मन्त्र में कहे उत्तर से परमात्मा का सर्वनियन्ता-  
पन निश्चय कराया है ॥

तत् ५८ ) श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स च  
निः ५९ ) प्राणस्य प्राणः । चच्छुपश्चच्छुरतिमुच्यधीराः प्रत्या  
र्हं ६० ) स्माल्लोकादमृता भवान्त ॥ २ ॥

वेन० उप० ख० १ म० २

जो परमात्मा व्यापक होने से कान का कान, मन का मन  
वाणी का वाणी, प्राण का प्राण और चच्छु का चच्छु है, उसी  
ब्रह्म की प्रेरणा वा नियत किये हुए नियमों के अनुसार मन  
आदि इन्द्रिय नए अपनी २ चेष्टा करने को समर्थ होते हैं,  
इसी लिये ( अतिमुच्य ) शरीर मन और इन्द्रियादि की चेष्टा-  
बृत्ति तथा विषय वासना का संग छोड़ कर ध्यान योग करने  
वाले योगी जन इस लोकसे मरनेके एथात् मरण धर्म रहित  
भोक्ता को प्राप्त होकर अमर दोजाते हैं। अर्थात् पूर्वमन्त्रोक्त  
चच्छु आदि को परमात्मा ने अपने निज निज नियम में नियम  
करके जीवात्मा को सौंप कर उस के आधीन कर दिया है।  
उस ब्रह्म की प्रेरणा से ही ये सब जीव का यथेष्ट काम करते  
हैं, जब कि जीवात्मा इन को अपनी इच्छानुकूल प्रेरित करता  
है। यह भी ईश्वर का नियत किया हुआ ही नियम है कि

वे सब अपने २ काम के अंतिरिक्त अन्य का काम नहीं कर सकते । यथा—आंख से देखने के अंतिरिक्त सुनना, सूंघना आदि अन्य इन्द्रिय के विषयका ग्रहण कदापि नहीं होसकता, तथा मौतिक स्थूल विषयों वा पदार्थों के अंतिरिक्त सूचम पदार्थों का भी ग्रहण नहीं कर सकते अर्थात् परमात्मा उक्त मन आदि नहीं जाना जाता, सो विषय युक्त केनोपनिषद् के प्रथम खण्डस्थ तृतीय मन्त्र से लेकर आठवें मन्त्र अर्थात् प्रथम खण्ड की समाप्तिपर्यन्त कहा है कि जहाँ चलु वाणी मन श्रोत्र प्राण आदि नहीं पहुँच सकते अर्थात् जो चलु आदि छारा नहीं पहुँचाना जाता, किन्तु जिस की सत्ता से चलु आदि जिन २ व्यापार में नियत हैं, उस ग्रहा को अपना उपास्य (इष्ट) देव जानना और मानना चाहिये, किन्तु चलु वाणी मन श्रोत्र तथा प्राण आदि को ब्रह्म मत जानो ॥

—\*—

## शरीर का रथरूप में वर्णन ।

अब ब्रह्मादान की प्राप्ति के लिये इन्द्रियादि साधनों समेत शरीर का रथरूप से वर्णन करते हैं, जैसा कि कठोपनिषद् में रूपकालंकार से वर्णित है ॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि बनः पश्चमेव च ॥ १ ॥

कठ० ३० व० ३ म० ३

जीवात्मा को रथी नामं रथ का स्वामी जानो, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि ( घोड़ों रूप इन्द्रियों का हांकने वाला ) और मनको लगाम की रस्ती जानो ॥ १ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विपयाऽस्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीपिणः ॥ २ ॥

कठ० उप० व० ३ मं० ४

विषयोंकि मन को वश में करने वाले मनीषी ( योगी जन )  
लोग सम्पूर्ण इन्द्रियों को शरीरस्वरूप रथ के खींचने वाले धोड़े  
बताते हैं, विषयों को उन धोड़ों के चलने का मार्ग और  
शरीर, इन्द्रिय और मन करके युक्त जीवात्मा को भोक्ता  
( विषयों का भोगने वाला ) बतलाते हैं ॥ १ ॥

अतः जो जीव अपने मन रूप लगाम को वश में करेगा, उसके  
इन्द्रिय रूप धोड़े भी स्थाधीन रहेंगे अन्यथा देहस्वरूप रथ को विषयों  
के समुद्र में डुबा देंगे ॥

आगे योगी और अन्योंगे पुरुषों के लक्षण कहे जाते हैं । जिसके  
विवेकद्वारा सुमुच्छुजनोंको उचित है कि योगी पुरुषों के आचरणों  
को ग्रहण करके विषयलम्पद्म जनों के मार्ग को त्याग दें ॥

### जीव का कर्त्तव्य

मन से आत्मा के बीच में कैसे प्रयत्न करे, यह उपदेश  
अगले मन्त्र में किया है ॥

ओ—उपयाम गृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ प्रधवन्पाहि सोऽप्यम् ।

उस्तु राय एषो यजस्त्व ॥

य० अ० ७ मं० ४ ॥

पदार्थ—( हे योगजिन्दासो ! यतस्त्वम् ) “हे योग चाहने  
वाले जिज्ञासु ! तू जिस कारण ”

( उपायामगृहीतः = उपात्तैर्यमैर्गृहीत इव ) योग में प्रदेश  
करने वाले नियमों से ग्रहण किये हुवे के समान -

( श्रसि ) है “तस्मात्” इस कारण से

( अन्तः = शास्त्रादीन् प्राणादीन् ) भीतर ले जो प्राणादि पवन मन और इन्द्रियां हैं, उनको ( यच्छु = निरुद्धाण ) नियम में रखा

( हेमधवन = परमपूजित धनिसदृश ! त्वम् ) परम पूजित धनी के समान तू ( सोमम् = योगसिद्धमैश्वर्यम् ) योगविद्या-सिद्धपैश्वर्य की

( पाहि = रक्षा ) रक्षा कर

( उरुष्य = योगाभ्यासेनाविद्यादिकलेशानन्तं तय ) और जो श्रविद्या आदि कलेश हैं उन को अत्यन्त योगविद्या के बल से नष्ट कर

“यतः” ( रायः = ऋद्धिसिद्धिधनानि ) ऋद्धि सिद्धि और धन

( इपः = इच्छासिद्धीः ) और इच्छा से सिद्धियों को ( आयजस्त्र ) सब और से अच्छे प्रकार प्राप्त हों।

( भावार्थ ) - योग जिशासु पुरुष को चाहिये कि यम नियम आदि योग के अंगों से चित्त आदि अन्तःकरण की वृत्तियोंको रोके और श्रविद्यादि दोषों का निवारण करके संयम से ऋद्धि सिद्धियों, धन और इच्छा सिद्धियों को सिद्धि करे।

ओं युजानो हरिता रथे भूरि त्वष्टेह राजति । को विश्वाहा द्विपतः पञ्च आसत उतासीनेषु सूरिषु ॥ ( अ० ० ४० ४० ३० ३० ३० ३० )

( अर्थ ) “यथा-कथित् सारथिः, रथे+हरिता+युजानः+भूरि+राजति

“जैसे कोई सारथी, सुन्दर रमणीय वाहन ( यान ) के सावध शरीर में ले चलने वाले घोड़ोंको + जोड़ता + हुवा + घटूत प्रकाशित होता है

“तथा,,—त्वष्टा\*इह—राजति,,

वैसे ही सूक्ष्म करने वाला अर्थात् मन आदि इन्द्रियों का निःश्रह करके यांगाभ्यास वा ब्रह्मविद्या द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म जो आत्म ज्ञान और परमात्म ज्ञान का प्राप्त करने वाला जीव इस शरीर में देवीप्यमान होता है

कः? “इह,, न विश्वाहा इदिपतः भपक्षः ५ आसते द्वित उच्चासिनेषु द्वूरिषु ‘मूर्खाश्रयं कः करोति,,

कौन—‘इस शरीर में, १ सब्र दिन ( सर्वदा ) २ द्वेष से युक्त का ( द्वेष रखने वाले द्वेषी पुरुष का ( पक्ष अर्थात् ग्रहण करता है ४ “और ५ स्थित द्विद्वानों में ७ “गूर्ख का आश्रय कौन करता है ?”

( भावार्थ ) हे मनुष्यो ! सदा ही मूर्खों का पक्ष त्याग के विद्वानों के पक्ष में वर्ताव करिये और जैसे अच्छा सारथि घोड़ों को अच्छे प्रकार जोड़ कर रथ में सुख से गमन आदि कार्यों को सिद्ध करता है, वैसे ही जितेन्द्रिय जीव सम्पूर्ण अपने प्रथोजनों को सिद्ध कर सकता है और जैसे कोई दुष्ट सारथि घोड़ों से युक्त रथ में स्थिर हो कर दुःखी होता है । वैसे ही अजित इन्द्रिया जिसकी हों ऐसा जीव शरीरमें स्थिर होकर दुःखी होता है । क्योंकि—

पराञ्चि खानि व्यतुणतस्वयभूस्तस्मात्पराङ्ग पश्यति  
नान्तरात्पन् । कश्चिद्गीर. प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमूत-  
त्वमिच्छन् ॥ कठ० उ० व० ४ म० १

स्वयम्भू परमात्मा ने श्रोत्र चक्षु आदि इन्द्रियों को शब्द स्वप्न आदि विषयों पर गिरने के स्वभाव से युक्त बनाया है । उस ही हेतु से मनुष्य वाहा विषय को देखता है, किन्तु अपने

भीतर की ओर लौट कर अपने अन्तरात्मा को भर्ही देखता ।  
कोई धिरलाल ध्यानशील पुरुष ही अपने नेत्र मीच कर मोक्ष  
की इच्छा करता हुआ अन्तःकरण में व्यास परतात्माको ध्यान  
योग द्वारा समाधिस्थ बुद्धि से विचारता है ॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं नोभी येनानुपश्यति ।

महान्तं विभुमात्मानं भत्वा धीरो न शोचति ॥

( कठ० उ० व० ४ म० ४ )

स्वप्न के अन्त नाम जागरित अवस्था तथा जागने के  
अन्त स्वप्नावस्थां-इन दोनों को जो मनुष्य अनुकूलता पूर्वक  
( अर्थात् यथार्थ धर्मपूर्वक ) देखता है । अर्थात् ध्यान योग  
द्वारा जान लेता है वही ( धीरः ) ध्यान शील योगी पुरुष  
ईश्वर को सब से बड़ा और सर्व व्यापक मान कर शोक से  
ध्याकुल नहीं होता अर्थात् मुक्त हो जाता है और शोकादि  
दुःख उसको नहीं प्राप्त होते । भावार्थ यह है कि जागरित  
अवस्था तथा निद्रावस्था इम दोनों के स्वरूप का जिस को  
ज्ञान हो जाता है, उस को ईश्वर के विचार लेने का सामर्थ्य  
( योग्यता ) प्राप्त होजाता है, फिर निरन्तर परमात्मा का ध्यान  
करते करते ध्यान योग द्वारा वह पुरुष कुछ काल में परमा-  
त्माको भी विचार लेता है ।

निद्रा दो प्रकार की है । एक तो अविद्यानधकार से आ-  
च्छादित जागरित अवस्था कि जिसमें जागता हुआ भी  
मनुष्य अपने स्वरूप को भूला हुआ सां संकल्पविकल्पात्मक  
मन की लहरों में डूढ़ा रहता है, किन्तु यथार्थ जागरित अव-  
स्था घंस्तुतः वही है, जब कि जीवात्मा को अपने स्वरूप का  
ज्ञान होजाने पर किसी प्रकार का संकल्प विकल्प नहीं

उठता । दूसरे प्रकार की तमोगुणमय निद्रा होती है कि जिस में मनुष्य सोजाता है । इसलिये:—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टश्वा इव सारथेः ॥३॥

( कठ० वह्नी ३ मं० ५ )

जो मनुष्य कि ( अयुक्तेन ) असमाहित असाच्चान विषयम् विरुद्ध चलायमान वा योगविहीन मन करके सदा अज्ञानी वा विषयासक्त रहता है उसकी इन्द्रियां तो सारथि के दुष्ट घोड़ों के समान उसके चंश में नहीं रहतीं ॥ ३ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥४॥

( कठ० वह्नी ३ मं० ६ )

किन्तु जो आभ्यास वैराग्यद्वारा निरुद्ध किये हुए योगयुक्त वा समाहित मन वाला तथा सत् असत् विवेक करने वाला ज्ञानी पुरुष होता है, उसकी इन्द्रियां सारथि के थ्रेषु घोड़ों के समान उस पुरुष के वश में ही हो जाती हैं ॥ ४ ॥

यस्त्वविज्ञा नवान्भवत्यपनस्कः सदाऽशुचिः ।

न स तत्पदमाप्नोति सर्थसारं चाधिगच्छति ॥५॥

( कठ० वह्नी ३ मं० ७ )

और जो मनुष्य कि सदा अविवेको अव्यवस्थितचित्तायुक्त तथा सदा ( अशुचिः ), छुल कपट ईर्प्या ढ्रेप आदि दांपत्तप मलों से युक्त अर्थात् अन्तःकरण की आभ्यन्तर शुद्धि से रहित होता है, वह उस अविनाशी वृक्ष को तो नहीं प्राप्त होता, वह उस अविनाशी वृक्ष को तो नहीं प्राप्त होता, किन्तु जन्म मरण के प्रवाहकृप संसार में ही आभ्यास रहता ॥ ५ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्यो न जायते ॥६॥

( कठ० वल्ली ३ मं० ८ )

परन्तु जो मनुष्य कि ज्ञानी ( समनस्कः ) मन को वश में रखने वाला और शुद्धान्तःकरण से युक्त होता है, वह तो उस परमपद को प्राप्त ही कर लेता है कि जहाँ से लौट कर फिर जन्म नहीं लेता अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥६॥ इसी कारण-

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।

सोऽवनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥७॥

( कठ० वल्ली ३ मं० ९ )

( विज्ञान ) तप करके शुद्ध हुई, सत् और असत् के विवेक से युक्त, परमार्थ के साधनों में तत्पर बुद्धि ही जिस मनुष्य का सारथि हो और मनको लगाम की डोरियों के समान पकड़ कर अपने वश में जिसने कर लिया हो वही मनुष्य आवागमन के अधिकरण जन्म मरण के प्रवाहकृपी संसार मार्ग के पार सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक ब्रह्म के उस परोक्ष (पद) स्वरूप को प्राप्त होता है ॥७॥

## इन्द्रियादि ब्रह्मपर्यन्त वर्णन

अब भौतिक इन्द्रियों से लेकर सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म अंतीन्द्रिय ( आगोचर ) आगम्य आवाच्य ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय संक्षेप से अनुक्रम पूर्व ह लिखते हैं । विज्ञान गुरुजनोंको उचित है कि सूक्ष्म से भी सूक्ष्म पंदार्थ का यथार्थ ज्ञान शिष्य को करा देवें, जिस से कि शिष्य निर्भ्रम हो जावे ॥

इन्द्रियेभ्यः पराद्यर्था अर्थेभ्यश्च परंमनः ।

मनसश्च परा बुद्धिर्द्वेरात्मा महान् + परः॥ ८ ॥

( कठ० घज्जी ३ मं० १० )

पृथिव्यादि सूक्ष्म तत्त्वों से यने हुए इन्द्रियों की अपेक्षा गन्ध तन्मात्र आदि विषय परे हैं । विषयों की अपेक्षा मन, मन की अपेक्षा बुद्धि और बुद्धि की अपेक्षा महत्त्व\* परे हैं

अर्थात् स्थूल इन्द्रियों के गोलक तथा ( अर्थाः ) इन्द्रियों की विषय आहक दिव्यशक्ति; ये दोनों ही स्थूलभूतों के कार्य हैं । यथा पृथिवी का कार्य नासिका, जल का रसना अग्नि का नेत्र, धारु का त्वचा और आकाश का ओष्ठ । यहाँ कार्य का रणसम्बन्ध ही हेतु है कि अमुक २ इन्द्रिय अपने अमुक २ निजविषय को ही ( अर्थात् जिस भूत से जो इन्द्रिय उत्पन्न हुआ है वह इन्द्रिय उसी भूत के गुणरूप विषय को ) ग्रहण करता है । यथा नासिका पृथिवी के गुण गन्ध को ही ग्रहण करती है, रस रूपादि को नहीं । कार्य की अपेक्षा कारण परे होता ही है । अतपव इन्द्रियों से विषय परे हैं । मन विषयों से परे हैं तथापि इन्द्रियों की अपेक्षा कुछ स्थूल है + मन की अपेक्षा बुद्धि की अपेक्षा महत्त्व परे है जो भौतिक पदार्थों में सबसे अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण महान् आत्मा कहाता है, क्योंकि आत्म पद सूक्ष्मार्थवाची हैं । आत्मा पद से यहाँ जीवात्मा वा परमात्मा को ग्रहण नहीं है, जो अगले मन्त्र से स्पष्ट ज्ञात होता है ।

## पूर्वगत टिप्पणि ।

नहीं लिया जाता, किन्तु प्रकरणानुकूल आशय ( सारांशखण्ड

\* शास्त्रोंके वाक्यों का अभिप्राय शब्द मात्रके अर्थ बोधसे

सिद्धांत ) लेना उचित है। इसो अध्याथ के पृष्ठ ४० में कहा गया है कि “प्रकृतेमहान्” अर्थात् भौतिककार्यरूप पदार्थों में सबसे परे वा सूक्ष्म ( महान् आत्मा ) बुद्धि है जो कि प्रकृति का प्रथम परिणाम होने के कारण महत्त्व ( सृष्टि के सूक्ष्मतत्त्वों में सबसे सूक्ष्म ) कहाना है; किन्तु यहाँ बुद्धि से भी परे सब तत्त्वों को परमाकाश कारणरूप प्रकृति अभिप्रेत है अतः “महान् आत्मा” इन दो पदों से यहाँ जीवात्मा वा परमात्मा कदाचि नहीं समझे जा सकते, क्योंकि उन दोनों आत्माओं ( जीव और ईश ) के लिये कठोपनिषद्गुरुं अगले व्याख्यानों मन्त्र में केवल एक शब्द “ पुरुष ” का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार उक्त ४७ पृष्ठगत व्याख्यासूचि में पुरुष पद ही प्रयुक्त है जिसमें ( जीव ईश ) दोनों ही व्याख्या हैं।

+सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ २२ समुख्लासूचि में भी मनको तन्मात्रादि कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा स्थूल कहा और माना है।  
और—

महतः परपव्यक्तपव्यक्तात्पुरुषः पर।

पुरुषः परं किञ्चित्सा कर्माप्ता सा परा गतिः ॥६॥

( कठ० चल्ल० ३ मं० ११ )

अव्यक्त नाम व्यक्तिरहित प्रकृतिनामक जगत् का कारण महत्त्वरूप की अपेक्षा भी परे है उस अव्यक्त प्रकृति से भी परे जीवात्मा है, और उस जीवात्मा से भी आन्यन्त परे परमात्मा है। परमात्मा से परे अन्य कोई पदार्थ नहीं है, वही स्थिति की अवधि तथा पहुँचने की अवधि है अर्थात् उससे आगे किसी की गति नहीं है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।

दृश्यते त्वग्रच्या पुद्धा सूक्ष्मपदर्शिभिः ॥ १०॥

कठ० चल्ल० ३ मं० १२

सब प्राणिमात्र में व्यापक होने के कारण गुप्तग्रास घह परमात्मा ( न प्रकाशते ) इन्द्रियों के साथ फँसी हुई चिपया- सक्त बुद्धि से नहीं प्रकाशित होता अर्थात् नहीं जाना जाता, किन्तु सूक्ष्म चिपय में प्रवेश करने वाली ( तीव्र ) तीक्ष्ण वा सूक्ष्म बुद्धि करके सूक्ष्मतत्त्व दर्शी ( आत्मदर्शी ) जानों से ही जाना जाना है । उस परमात्मा को जानने के लिये कठिवद्ध हीना चाहिये, क्योंकि कहा भी है कि —

उत्तिष्ठत जाग्रत् प्राप्य वर्णन्तवोधत । त्वरस्यधारा  
निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथस्तत्कवयोःवदन्ति ॥? १॥

कठ० ३० वली ३ मं० १४

हे मनुष्यो ! उस परमात्मा के जानने के लिये कठिवद्ध होकर उठो [ जाग्रत् ] अविद्यारूपी निद्रा को छोड़ कर जागो [ वरान् प्राप्य ] श्रेष्ठ आप चिद्रानों, सदुपदेशक गुरुजनों, आचार्यों, ऋषिसुनिजनों, योगी महात्मा वा सन्यासियोंको प्राप्त हाकर [ निवोधत ] सत्यासत्य के विवेक द्वारा सर्वनिर्वामी परमात्मा को जानों यह मार्ग सुगम नहीं है कि जो निद्रा वा आलस्य में पड़े रहने पर भी सहज से प्राप्त होसके, किन्तु जैसे छुरे की बाढ़ कराई हुई तीक्ष्णधारा पर पगों से चलने में अति कठिनता होती है, दीर्घदर्शी चिद्रान् लोग उस तत्त्वज्ञानरूप मार्ग को बैसा हो कठिनता से प्राप्त होने योग्य बताते हैं । अतएव निद्राआलस्य प्रमद और अविद्यादि को ल्याग कर जानी गुरु का सत्संग तथा सेवन करके परमात्मज्ञान के उपाय का सेवन करना उचित है । क्योंकि—

अशब्दमस्पर्शमस्तुपमवययं तथाऽसं नित्यमगन्धं वच्च  
यत् । अनोदयनन्ते महतः पर्य ग्रुवं निचाय्यतं मृत्यु मुखा-  
त्पमुच्यते ॥ १२ ॥ कठ० वली ३ मं० १५

[ अशब्दम् ] जो ब्रह्म शब्द वा शब्द गुण वाले आकर्ष से विलक्षण है और वाणी करके जिसका वर्णन नहीं किया जासकता—

[ अस्तर्शम् ] जो स्पर्श गुण वाले वायु से विलक्षण है और जिसका स्पर्शेन्द्रिय [ त्वचा ] द्वारा ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता अर्थात् जो हुआ नहीं जा सकता ।

[ अरूपम् ] जिसका कोई स्वरूप नहीं, अतएव जो नेत्रों से देखा भी नहीं जा सकता

[ अव्ययम् ] जो अविनाशी है ।

[ अरसम् ] जो जल के रसनामक गुण से रहित है अर्थात् रसना [ जिह्वा ] करके चाक्खा नहीं जा सकता—

[ नित्यम् ] जो अनादिकाल से सर्वदा पंकरस ही रहता है.

[ अगन्धवत् ] जो पृथिवी के गन्ध गुण से पृथक् वर्तमान है, अर्थात् सूँघने से नहीं जाना जाता वा उस में किसी प्रकार का गन्ध नहीं है—

[ अनादि ] जिस का कोई आदिकारण भी नहीं है और जो किसी पदार्थ का आदिकारण अर्थात् उपादान कारण तो नहीं है किन्तु आदि निमित्त कारण है

[ अनन्तम् ] जिस की व्याप्ति का कोई श्रोत नहीं अर्थात् जो सर्वत्र व्यापक नाम असीम है, जिसकी महिमा शक्ति विद्या आदि गुणों का पार वा वार नहीं है

[ महतः परम् ] जो महत्त्व अर्थात् जीवात्मा से भी परे है [ यहां महत्त्व से जीवात्मा का ग्रहण है ]

[ ध्रुवम् ] जो अचल है, कभी चलायमान नहीं होता

[ तत् निचाय ] उस ब्रह्म को जान कर

[ मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ] मरुष्य मृत्यु के मुख से अर्थात् जन्म मरण के प्रवाहरूप दुखसागर से छूट जाता है ॥

## योगानुष्ठानविषयक उपदेश की आवश्यकता ।

अतएव योगाभ्यास करना सब मनुष्यों को सर्वदा और सर्वत्र ही उचित है और विद्वानों को भी उचित है कि—

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ॥

प्रयतः आद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ॥१३॥

कठ० वल्ली ३ मंत्र० १७

शरीर इन्द्रिय और मन [अन्तःकरण] को शुद्ध शान्त और स्वस्थ करके इस परम गुत अर्थात् एकान्त में शिक्षा करने योग्य ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी उपदेश जो ब्राह्मणों अर्थात् आत्म विद्वानोंकी सभा अथवा उस समय में कि जब अनेक विद्वानों की सभा अथवा उस समय में कि जब अनेक विद्वानों का भोजनादि से अद्वापूर्वोक्त सत्कार किया जावे वा करे जिससे कि वह उपदेश अनन्त होने को समर्थ हों । अर्थात् उपदेश तो एकान्त गुप्तस्थान में करे, किन्तु उसका सत्य २ यथार्थ व्याख्यान विद्वानों की सभामें करके उस के सीखने और अभ्यास करने की रुचि बहुत से पुरुषों में उत्पन्न करे जिस से कि जगत् में इस विद्या का सर्वत्र प्रचार हो कर वह उपदेश अनन्तता को प्राप्त हो । तथा उस समय में जिज्ञासु को उचित है कि विद्वानों का सत्कार भोजन दक्षिणादि से यथाशुक्ति करे ॥

वेद में अनेक स्थलों पर प्रकरणानुकूल अनेक उपदेश स्वयं परमकारणिक परमात्मा ने अनुग्रह पूर्वक दरादृष्टि मुमुक्षु जनों अर्थात् योग के शिक्षकों और शिष्यजनोंके हितार्थ स्पष्टतया किये हैं, उन में से एक यह भी हैश्वर की आज्ञा है

कि इस जगत् में जिस को सृष्टि के पदार्थों का विज्ञान जैसा हो वैसा ही शीघ्र दूसरों को बतावे । जो कहाचित् दूसरों को न बतावे तो वह [ विज्ञान ] नष्ट हुआ किसी को भी प्राप्त न हो सके । यथा अगले वेदमन्त्र से स्पष्ट उपदेश किया है कि अध्यापक लोगों को उचित है कि निष्कपटता से विद्यार्थी जनों को पढ़ावें ।

ओण्—अग्ने यत्तेदिवि वर्चः पृथिव्यां यदोपधीष्वप्त्वायजन्म  
येनान्तरिक्षमुर्वा ततन्थत्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षः॥

य० अ० १२ मन्त्र ४८

( यज्ञाग्ने हे सङ्क्रम करने योग्य विद्वन् ।

( यत्ते०दिवि०वर्चः ) आप के०जिस अग्नि के० समान घोतनशील आत्मा में जो०विज्ञान का प्रकाश है

( यत्०पृथिव्यां०ओपधीपू०शप्तु० वर्चोस्ति० और पृथिव्यी में यथादि ओपधियों में और प्राणों वा जलों में जो तेज है ॥

( येन-नृचक्षाः—भानु—अर्णवः—त्वेषः) जिस से मनुष्यों को दिखाने वाला सूर्य बहुत जलों वर्षानि हारा प्रकाश है और

( येन-अन्तरिक्षम्-उर्व-आततन्थ ) जिस से आकाश को आप बहुत विस्तार युक्त करते हो

( “तथा,, सः—“त्वं तदस्मासु धेहि,, ) सो आप वह सब तेज़ वा विद्यार्क्ष हम लोगों में धारण कीजिये ॥

इस अध्याय के अन्त में जो ब्रह्मज्ञान का उपाय कहा है, उसकी विधि दूसरे अध्यायमें आगे कहेंगे कि किसरे प्रकारके किसी तथा योग विषय कियाओं के अनुष्ठान द्वारा परमानन्द

स्वरूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होकर अक्षय नाम श्रमृतरूप मोक्षा-  
नन्द जीव को प्राप्त होता है।

## ओ३म् शान्तिःशान्तिःशान्तिः ॥

इति श्री—परमहंसपरिव्राजकचार्यार्खां परमयो-

गिनां श्रीमद्यानन्दसरस्वतीस्वामिनां

शिष्येण लक्ष्मणानन्दस्वामिना

प्रणीते ध्यानयोगप्रकाशा-

ख्यग्रन्थे ज्ञानयोगोनाम

प्रथमोऽध्याय

सप्तमः ॥१॥

ओऽम्

# अथ कर्मयोगो नाम द्वितीयोऽन्यायः

—ऽऽऽऽ—

## कर्म की अधानता

—॥०॥—

ओं कुर्वन्नेवेह कर्मणि जिजीविषेच्छतथंसमाः ।

एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

यजुः०श०ष्ठमं०२ ) ( ई०उ०मं०२ ) ( स०प्र०समु०७ष०८०८६ )

( अर्थ ) मनुष्य इस संसार में धर्मयुक्त वेदोक्त निष्काम कर्मों को करता हुवा ही सौ वर्ष जीवन की इच्छा करे । इस प्रकार धर्मयुक्त कर्म में प्रवर्त्तमान और व्यवहारों को चलाने हारे जीवन के इच्छुक होते हुवे तुम मनुष्य में अधर्मयुक्त अवैदिक काम्यकर्म नहीं लिस होता, किन्तु इस से अन्यथा ( विरुद्ध, प्रतिकूल ) चर्त्तर्वि करने में कर्मजन्य दोपापत्तिरूप पापादि के लगनेका अभाव नहीं होता अर्था त्राधर्मयुक्त अवैदिक ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध सकाम कर्म करने से मनुष्य कर्म में लिस हो ही जाता है, इस में सन्देह नहीं ॥

[ भावार्थ ] मनुष्य आलस्य को छोड़ के सब के देखने हारे न्यायाधीश परमात्मा और उस की करने योग्य आज्ञाको मान के अशुभ कर्मों को छोड़ते हुवे ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या और अच्छी शिक्षा को पाके, उपर्युक्त इन्द्रिय के रोकने से प-

राक्रम को बढ़ा के अल्पमृत्यु को हटावें । युक्त आहार विहार से सौ वर्ष बी आयु को प्राप्त होवें । जैसे मनुष्य मुक्तमों में चेष्टा करते हैं, वैसे ही पापकर्म से बुद्धि की निवृति होती और विद्या, अवस्था और शीलता बढ़ती है ॥

सर्वतन्त्रसिद्धन्तरूप सारांश इस वेद की श्रुति का यह है कि जो २ धर्मयुक्त वेदोक्त ईश्वर की आश्रोपालनरूप कर्म हैं वे २ सब निष्काम कर्म ही हैं, क्यों कि उन से केवल ईश्वर की वेदोक्त आश्रा का ही पालन होता है । अतः उनमें से कोई भी चेष्टा काम्य वा सकाम कर्मसंहक्षण नहीं, किन्तु मनुष्य जो २ अधर्मयुक्त अचैदिक कर्म ईश्वर की आश्रा के विरुद्ध, जिन के करने में कि अपना आत्मा भी शंका, लज्जा, भयादि करता है; वे २ कर्म अज्ञानान्धकार से आच्छादित, इच्छा वा कामना से युक्त होने के कारण पाप रूप सकाम कर्म कहाते हैं, क्यों कि वे अल्पज्ञ जीवात्मा की अज्ञानयुक्त कामना से रहित नहीं होते । श्रेष्ठ कर्मों में कोई कामना नहीं समझनी चाहिए व्यों कि उन पुण्यकर्मों को मनुष्य अपना धर्म ( फूर्ज ) जानकर ईश्वर की आश्रा का यथावत पालन मानकर ही करता है अतः धर्मयुक्त कर्मों को निष्काम और अधर्मयुक्त पाप कर्मों को ही काम्य वा सकाम कर्म जानो ।

जिस प्रकार के कर्म करने चाहिए सो आगे कहते हैं ।

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुषीयताम्,  
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये भूतिस्त्यज्यताम् ।

संगः सत्त्वु विधीयतां भगवतो भक्तिर्द्वा धीयताम्,  
सद्विद्वानुपसर्त्तामषुदिनं तत्पादुके सेव्यताम् ॥ १ ॥

( अर्थ ) सदा वेदों का पठन पाठन वेदोक्त कर्म का अनुष्ठान, उस कर्मद्वारा परमेश्वर की उपासना काम्य ( सकाम

आधर्मयुक्त वेद प्रतिकूल ) कर्म का त्याग, सज्जनों का संग परमेश्वर में दृढ़ भक्ति और सद्विद्वानों ( अर्थात् आसत्त्विद्वान् उपदेशकों ) के समीप जाकर उनकी यथाशक्य सेवा शुश्रूषा प्रतिदिन करना उचित है ॥ १ ॥ उक्त विद्वानों से उपदेश अहण करके फिर—

ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरोवाक्यं समाकरण्यतां दु-  
स्तर्कात्सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसंधीयताम् । वाक्या-  
र्थश्य विचार्यतां श्रुतिशिरःपक्षःसमाश्रीयताम् ॥ ओदासी  
न्यमभीप्सत्ता जनकुपानैषुर्मुत्सृज्यताम् ॥ २ ॥

“ओ३३३” जो श्रुति ( वेद ) का शिरोमणि वाक्य तथा ब्रह्म का एकाक्षर नाम है, उसकी व्याख्या सुनना और इसके अर्थ का विचार करना ( अर्थवा एकाक्षर जो शब्द बहु औं है, उसका अर्थ विचारना तथा वेदानुकूल वाक्य का सुनना) दुष्ट तर्कवाद से हटते ( बचते ) रहना, वेदमत के अनुसार तंक का अनुसन्धान करना ( जिससे वेदोक्त मार्ग की पुष्टि हो ऐसा तर्क ). उक्त सुने हुए वाक्य का अर्थ विचारना, वेदानुकूल पक्ष का आश्रय ( अवलम्बन ) स्वीकार करना, दुष्ट जनों के साथ मिलता न शब्दुभाव रखना किन्तु उदासीनता वर्तना, अन्य सब जनों विशेषतः दुःखियोंपर कृपा वा दयाभाव रखना और निरुरता का त्याग योगी को सदा करना उचित है ॥ २ ॥

इस प्रकार ब्रह्मवर्य और गृहस्थ में दुष्टकर्मों का त्याग और सत्कर्मों तथा योगाभ्यास का अनुष्ठान करते हुए योग्य अधिकारी योगी बने ।

एकान्तेसुखमास्यतां परतरे चेतः समाश्रीयताम् , पू-  
र्णात्मासुसमीक्ष्यतां जगदिदंतद्वितंदृश्यताम् । शान्त्यादिः

परिचीयतां दृढ़तरं कर्मशा सन्यत्यतामात्मेच्छाव्यवसीयता  
निजगृहात्मार्थं विनिर्गम्यताम् ॥

पश्चात् वानप्रस्थाश्रम धारण करके सुखपूर्वक एकान्त स्थान में बैठ कर समाधियोग के अभ्यास द्वारा पूर्णब्रह्म परमात्मा का विचार करे । इस सम्पूर्ण चराचर जगत् को अनित्य जाने और शान्ति आदि शुभ कल्याणकारी शुण कर्म स्वभाव का दृढ़तरं धारण करे । तदनन्तर संन्यास लेकर बेदानुकूल कर्मकारडोक्त अग्निहोत्रादि सत्त्वगुण प्रधान कर्मों को भी शीघ्र त्याग कर शुद्धसत्त्व के आश्रय केवल आत्मज्ञान का ही व्यसन ( शौक, इश्क ) रक्खे और अपने गृह से शीघ्र ही चलां जाय ।

चुद्वर्याधिश्च चिकित्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं शुद्धयता,  
खाद्यनन्नं न च याच्यतां विधिवशात्मासेन सन्तुष्यताम् ।  
शीतोष्णादि विवर्षतां न तु वृथावाक्यं समुच्चार्यताम्,  
पापौषः परिधूयताम् भवसुखे दाषोऽनुसन्धीयताम् ॥

उक्त संन्यासाश्रम में नित्यप्रति भिक्षाद्वारा प्राप्त अन्नरूपी औषधी का केवल इतना भोजन करे कि जिससे चुधारूपी रोग की निवृत्ति मात्र होजाय, स्वादिष्ट अव्यादि पदार्थ भिक्षा लेने जाय तब कभी न मांगो, जो कुछ दैवयोग से मिल जाये उसही में सन्तुष्ट रहे, शीतोष्णादि दृन्द्रों का सहन करे वृथा ( निरर्थक वाच्यार्थ ) वाक्य आवश्यकता विना कभी न कहे । इसप्रकार धर्म के वर्तावसे पापोंके ससूहका नाश करता और सांसारिक सुखों को दोषदृष्टि से निरन्तर विचारता ही रहे ।

## योगाभ्यासविषयक वेदोत्तर ईश्वराज्ञा पुरुषों के लिये ।

वेद में परब्रह्म परमात्मा ने जीवों के कल्याण के लिये योगाभ्यास के अनुष्ठान करने वा यह उपदेश किया है कि प्रातःकाल ( ब्रह्म सुदृढ़ता ) में उत्तम आसन प्राप्त कर के प्राणायामादि योगाभ्यास सम्बन्धी क्रियाओं द्वारा मोक्षप्राप्ति के निमित्त पुरुषार्थ करना तथा आस विद्वानों के सत्संग से इस ब्रह्मचिद्या का यथावत् उपार्जन करना चाहिये सो वेद की झट्टां नीचे लिखी है ॥

ओ—प्रातर्यावणःसहष्कृतं सोमपेयायसन्त्य ।

इहाऽच्यु दैव्यं जन वर्दिरासादया वसो ॥१॥

अ० म० १ अ० ८ स० ४५ अ० १ अ० ३ व० ३२

( भाष्य )

( सहष्कृत ) हे सब को सिद्ध करने वाले

( सन्त्यं—संभजनीय क्रियाओं ( अर्थात् योगाभ्यास ) में कुशल विद्वानों में सज्जन और

( वसो )—शेष शुरुणों में वसने वा विद्वान् । तू

( इह )=इस ब्रह्मचिद्याव्यवहार में

( अद्य+सोमपेयाय )=आज+सोमरस के पीने के लिये अथवा शुद्ध सत्त्वमय सचिच्चदानन्द परमात्मा की प्राप्ति से आनन्दभोगों की प्राप्ति के लिये

( प्राप्तर्यावणः )=प्रातःकाल में योगाभ्यासादि पुरुषार्थ को प्राप्त होने वाले विद्वानों को और

( दैव्यम्+जनम् )=विद्वानों में कुशल पुरुषार्थयुक्त धार्मिक मनुष्य को, तथा

( वर्दिः ) = उत्तम आसन को

( आसादय ) प्राप्त कर

( भावार्थ ) जा मनुष्य उत्तम गुणयुक जिज्ञासु मनुष्यों को ही उत्तम वस्तु वा उत्तम उपदेश देते हैं, ऐसे मनुष्यों ही का संग सबं लोग करें क्योंकि कोई भी मनुष्य विद्या वा पुक्षार्थ युक्त मनुष्यों के संग वां उपदेश विना पवित्र गुण वस्तुओं और सुखों को प्राप्त नहीं हो सकता ॥

अब स्त्रियों के लिये योगाभ्यास करने की वेदोक्त ईश्वरीय आज्ञा आगे लिखते हैं ॥

## योगाभ्यास विषयक वेदोक्त ईश्वराज्ञा स्त्रियों के लिये

ओम्—अङ्गान्यात्मन् भिषजा तदश्विनात्मानमङ्गः  
समधात् सरस्वती । इन्द्रस्य रूप अशतमानमायुश्चन्द्रेण  
ज्योतिरमृतं दधानाः ॥

यजु० अ० १६ म० ४३

[ भावार्थ ] हे मनुष्याः १. यूं २. भिषजा ३. अश्विना  
“यथा” सरस्वती ४ आत्मन् [आत्मनि स्थिर] योङ्गानि ५  
“अनुष्टाय” ६ आत्मानम् ७ समधात्

हे मनुष्यों ! तुम १ उत्तम वैद्य के समान रोगरहित २  
सिद्ध साधक दो चिह्नान् “जैसे”, योगयुक्त स्त्री ३ अपने  
आत्मा में स्थिर हुई ४ योग के अंगों का “अनुष्टान करके”  
५ अपने आत्मा का ६ समाधान करती है ७  
“तथैव” १ योगागै २ “यत्” इन्द्रस्य ३ रूपम् “अस्ति”  
४ तत् ५ “संदृश्याताय्” ६ “यथायोगम्” ७ दधानाः

शतमानम् ७ आयुः ८ “धरन्ति तथा” ९ चन्द्रेण १०  
अमृतम् ११ व्योतिः “दृष्ट्यात्”

“वैसे ही” योगांगा से “जो” १ ऐश्वर्य का क्रम “है” उस का समाधान करो “जैसे योग को” धारण करने हुये जन २ सौ वर्ष पर्यन्त ३ जीवन को धारण करते हैं “चैसे” आनन्द से ४ अविनाशी ५ प्रकाशस्वरूप परमात्मा का “धारण करो”

( भावार्थ ) जैसे रोगी लोग उत्तम वैद्य को प्राप्त हो, औपध और पथ का सेवन करके रोगरदित होकर आनन्दित होते हैं, वैसे ही योग को जानने की इच्छा करने वाले योगी लोग इस को प्राप्त हो, योग के अंगों का अनुष्ठान कर और अविद्यादि क्लेशों से दूर हो के निरन्तर नुस्खी होते हैं ॥

इस मन्त्र से सर्वथा सिद्ध है कि स्त्रियों को भी योगाभ्यास पुरुषों के सदृश अवश्य प्रतिदिन करना चाहिये, निषेध कदापि नहीं । यदि वेद में निषेध होता तो ईश्वर में पक्षपात दोष आजाता क्योंकि जीवात्मा न तो स्त्री है न पुरुष है, और न नपुंसक है, किन्तु जिस देह ( योनि ), को प्राप्त होता है । उसहीं प्रकार के कर्मों में प्रवृत्ति उसकी अधिक रहती है ॥

## योगठ्याख्या ।

अब उत्तमान शताव्दी के प्रसिद्ध योगी श्रीमद्भुद्गुर्विं पटि-  
ब्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी इयानन्दसरस्वतीकृत ब्रह्मवेदादि  
भाष्यभूमिकान्तर्गत उपासना तथा मुक्तिविपर्यों तथा सत्यार्थ-  
प्रकाश पूर्वार्थगत नवम समुद्घास और योगाधिराज श्रीयुत  
पतञ्जलिमहामुनि इणीत योगशास्त्र के प्रमाणों द्वारा पुष्ट उस  
योगाभ्यास की व्याख्या की जाती है कि जो ध्यानयोग के

प्रथमांग ज्ञानयोग के पञ्चात् अनेक क्रियाओं में अभ्यास करने से सिद्ध होता है। आतः यह ध्यानयोग का द्वितीय अंग है और कर्मयोग कहाता है। इस अध्याय में योग की सम्पूर्ण क्रियाओं तथा योग के आठों अंगों का वर्णन और विधान क्रमशः किया गया है ॥

सम्प्रति जगत् में योगविपयक अनेक छुल कपट वितरण व्याद व्यर्थ क्रियायें और मिथ्याविश्वास प्रचलित हो रहे हैं, जिनसे जिज्ञासुओं को अनेक सम्ब्रम उत्पन्न होते हैं। तथा अनेक शारीरिक और मानसिक रोगोत्पत्ति भी घंगघ है और जिन ने प्रायः अनेक लोग अनेक प्रकार से धोखे में पड़ कर विविध दुःख उठाते हैं। उस मिथ्यायोग के दूर करने के हेतु यह ग्रन्थ रचा गया है। जब जिज्ञासुजन इस ग्रन्थ के अनुसार योगाभ्यास सीखें और अहुष्टान करेंगे तो उनको बहुत लाभ होगा और वर्तमान के प्रचलित योगाभ्यास से छुरने किन रहेंगे ॥

**प्रागः** योग की शिक्षा हेतेहारे प्रथम नेती धोती प्रभावती ललवृद्धिन पवनवक्ति आदि अनेक रोगकार्ता क्रियाओं द्वारा निवाने हैं, किंव अष्टांग योग की शिक्षा करने में दृश्य वर्षों बुला देते हैं कि जिस से जिज्ञासुजन, गृहन काल में भी कुल नहीं सीख पाते और जो कुछ सीखते हैं सो सब व्यर्थ ही होना है और इन हकोभलों से उपदेशकाभ्यास लोग अपने शिष्यरूप जिज्ञासुओं का बहुत धन भी हर लेते हैं ॥

परन्तु इस ग्रन्थमें ऐसी सरलयुक्ति रखकी है कि जिससे योग के आठों अंगों का आश्रम के प्रथम दिन से एक साथ ही अभ्यास किया जा सकता है। जैसे कि मनुष्यादि शरीर में हाथ पांव आदि अनेक अंग होते हैं और चेष्टामात्र करते समय सब ही अंगों की सहायता एक ही समय में मिलती

है, अथवा जैसे उत्पन्न हुवे वालक के सब हो अंग प्रतिदिन पुष्टि और वृद्धि पाते हैं, इसी प्रकार योग के भी आठों अंगों का साधन साथ ही साथ आरम्भ के दिन से होता है, फिर सब उत्तरोचर परिपक्व होते जाते हैं। यदि सम्पूर्ण योगांगों के अभ्यास वा साधन का आरम्भ एक साथ न हो सके तो योग फी किया अंगहीन ( खण्डित ) होजायगी अर्थात् यदि कोई सा भी योगांग योगाभ्यास करते समय छूट जाय तौ यथावत् योग सिद्ध होना ही असम्भव हो ॥

१ २ ३ ४

आगे इस ही ग्रन्थ में यम, नियम, आसन, प्राणायाम,

५ ६ ७ ८

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि; ये योग के आठ अंग वह हैं और स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत “ऋग्वेदादिभाष्यभूमि” का में कहे उपासना विषय पृष्ठ १७२ के अनुसार इन आठ अंगों का “सिद्धान्तरूप फल संयम है” अर्थात् योग के अभ्यास करने का सिद्धान्त संयम है कि इन सब ( आठ ) अंगों का संयम करे। इस कथन का सर्वतन्त्र सिद्धान्तरूप आशय यह निकला कि इन आठों अंगोंको एकही कालमें पक्षत्र करने को योगाभ्यास करना जानो। पूर्वज ऋषि, मुनि और योगी-जनों उपदेश किया परन्तु इस विषय का निर्णय तत्वदर्दी लोगों ने ही जाना है, अन्य पक्षपाती आग्रही मतिनामा अविद्यान् लोग इस बात को सहज में कैसे जान सकते हैं? क्योंकि जब तक मनुष्य विद्यान् संत्सर्गी होकर पूरा विचार नहीं करते और जब तक लोगों की रुचि और परीक्षा विद्यानों के संग में तथा ईश्वर और उसकी रचना में नहीं होती, तब तक उनका विज्ञान कभी नहीं बढ़ सकता, प्रत्युत सदा भ्रम जाल में पड़े रहते हैं ॥

चद्यमाण वर्णन से विचारशील जनों की समझ में अच्छे प्रकार शुद्ध आ सकता है कि योग का अभ्यास उसके सद्गुणों सहित ही किया जा सकता है, क्योंकि अभ्यास करते समय जो—

- ( १ ) सत्य के ग्रहण असत्य के त्यागपूर्वक अन्तःकरण की आभ्यन्तर शुद्धि ( पवित्रता ) सम्पादन करना, मानो यमों और नियमों का साधन है ॥
- ( २ ) चिरकाल तक निश्चय होकर आसन पर बैठने का अभ्यास करना, मानो आसन का सिद्ध करना है ॥
- ( ३ ) प्राण, अपान, समान आदि वायुओं ( प्राणों ) को सहायता से मन को रोकने का अभ्यास करना, मानो प्राणायाम करना है ॥
- ( ४ ) मन को वश में करने हारा इन्द्रियों को वास्तविक्याएँ से रोकने की चेष्टा करना, मानो प्रत्याहार का अभ्यास करना है ॥
- ( ५ ) नासिकात्र आदि एक देश में मन की स्थिति का सम्पादन करना, मानो धारणा का अभ्यास करना है ॥
- ( ६ ) उस धारणे के ही देश में मन तथा इन्द्रियादि की स्थिति करके सर्वथा ध्यान को वहां पर ठहराना; मानो ध्यान का अभ्यास करना है ॥
- ( ७ ) ध्यान की एक स्थान में अचक स्थिति करके जो चित्त की समाहितदशा होती है, उसका नाम समाधि है कि जिस अवस्था में मन फिर नहीं डिगता। सो यह समाधि अवस्था प्रयत्न और पुरुषार्थ से परिपक्व होकर चिरकाल तक अभ्यास करने से सिद्ध होती है, किन्तु क्षण मात्र आरम्भ में भी होनी असम्भव नहीं ॥

अब विचारना चाहिये कि कौनसा अङ्ग नवशिक्षित योगाभ्यासी को आरम्भ में छोड़ देना उचित है. अर्थात् कोई भी नहीं। क्योंकि पूर्वोक्त अङ्गों में से केवल एक २ अंग का ही अभ्यास करना वा किसी एक अंग वा कई अंगों को छोड़कर अभ्यास करना बनता ही नहीं। अर्थात् यद्युपरि समय आभ्यन्तर शुद्धि न करनी चाहिये, ? वा आसन पर न बैठना चाहिये ? या मन और प्राणों को दश में न करना चाहिये ? वा इन्द्रियों को वश में न करना चाहिये अथवा शरीर के किसी एक स्थान में धारण ध्यान समाधि के लिये अभ्यास वा प्रयत्न न करना चाहिये ।

उपरोक्त कथन का सारांश यह है कि सामान्य पक्ष में तो योग के आठों अंग आरम्भ करने के दिन से ही सीखने वाले मनुष्य को करने चाहिये, परन्तु ज्यों २ अधिक पुरुषार्थी (परिश्रम) श्रद्धाभक्ति और आस्तिकतादि शुभगुणपूर्वक किया जायगा त्यों त्यां सब अंग साथ ही साथ परिपक्व होकर पूर्ण समाधि होकर पूर्ण समाधि होने लगेगी ॥

## योग क्या है और कैसे प्राप्त होता है

योग शब्द का अर्थ मिलना वा जुड़ना है, अर्थात् परब्रह्म परमात्मा के साथ जीवात्मा का मेल मिलाप, मिलना, भेटना अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति करना ही योग कहाता है और उस योग के उपायों का अभ्यास करना योगाभ्यास कहाता है। विषयानन्द में आस्तक तथा मन और इन्द्रियों के वशी भूत होकर अनिष्टकर्म त्तुष्टान द्वारा ईश्वर की आज्ञाओं के प्रतिकूल चलना वियोग कहाता है। वियोगी पुरुषों से ईश्वर का वियोग और योगियों से ईश्वर के साथ योग प्राप्त होता

है। वह योग समाहितचित्त पुरुष ही प्राप्त कर सकते हैं। इस लिये योगविद्या के आधार्य महर्षि पतञ्जलि योगशास्त्र को आरम्भ करते ही द्वितीय सूत्र में यही उपदेश करते हैं—

योगशिचत्तद्वृत्तिनिरोधः ॥ यो० पा० १ सूत्र २

(अर्थ) चित्त की वृत्तियों के रोकने का नाम योग है अर्थात् चित्त की वृत्तियों को सब वुराइयों से हटा के शुभ मुण्डों में स्थिर करके परमेश्वर के समीप में मोक्ष के प्राप्त करने को योग कहते हैं। और वियोग उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध वुराइयों में फंसकर उस परमात्मा से दूर हो जाना ॥

विधि—इस लिये जब २ मनुष्य ईश्वर की उपासना करना चाहे तब २ इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करे, तथा सब इन्द्रिय और मनको सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले अन्यामी अर्थात् सब में व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छे प्रकार से लगाकर, संम्यक् चिन्तन करके उसमें अपने आत्मा को नियुक्त करें। फिर उसी की स्तुति प्रार्थना और उपासना को बारंबार करके अपने आत्मा को भली भाँति से उसमें लगा दे ॥

भू० पू० १६४—१६५

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज की कही इस विधि से भी सिद्ध होता है कि योग के साधनरूप चित्त के निरोध करने में शाठों अंगों का अनुष्टान करना पड़ता है अर्थात् कोई भी अंग नहीं छूटता। संसारसम्बन्धी अन्य कार्यों में भी सर्वत्र परमेश्वर को 'सर्वविपक्ष' सर्वान्तर्यामी;

सर्वदृष्टा आदि जानकर उससे भय करके दुष्टाचार, दुर्व्यवसन आदि अशुभ गुणकर्म स्वभावयुक्त अधर्म मार्ग से मनको पृथक् रखना अतीच आवश्यक है, क्योंकि जिसके सांसारिककर्म पापयुक्त हों वह पुरुष परमार्थ अर्थात् भोक्ता के उपाय को क्या सिद्ध कर सकता है ।

यद्यपि मन के संकल्प विकल्प जिनका एकाएकी रोक सकना नवशिक्षित पुरुषों के लिये कठिन है, तो भी वाणी को तो अवश्य मेव वश में रखना चाहिये । इस विप्रय में वेद का भी प्रमाण यह है कि—

**ओम्-आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।**

**अग्ने त्वाङ्गमया गिरा ॥ य० अ० १२ म० ११५**

(अग्ने)हे अग्निके समान तेजस्वी!विद्वान् पुरुष वा हे सोम!

(त्वांकामया गिरा) कामना करने के हेतु तेरी धाणी से ते-पनः—चित् परमात्सधस्थात् वत्सो—“गोरिक”-आयमत्

जो मन परम उत्कृष्ट एक से समान स्थान से इस प्रकार दिघर हो जाता है कि जैसे बछुड़ा गौ को प्राप्त होता है

[ “स—त्वं—मुक्ति—कथन्नामुयाः” ]

सो तू मुक्ति को क्यों न प्राप्त होवे ।

अर्थात् जैसे बछुड़ा सब और से अपने मन को हटाकर पालन पोषण और रक्षा करने वाली अपनी माता की ओर दौड़ता है, तो उसको उस की माता गौ प्राप्त हो जाती है, इसी प्रकार जब मनुष्य सब और से अपनी वाणी और मनको रोक कर अपने रक्षक परमात्मा में ही लगा देता है, तो उसको परमात्मा की प्राप्ति अवश्य हो जाती है ॥

( भावार्थ ) अतएव मनुष्यों को चाहिये कि मन और धारणी को सदैव अपने वश में रखें, यह वेद में ईश्वरीय उपदेश है ।

( प्रश्न ) जब वृत्ति वाद्वर के व्यवहारों से हटा कर स्थिर की जाती हैं, तब कहाँ स्थिर होती है ।

( उत्तर ) तदा द्रष्टुःस्वरूपेवस्थानम् ॥ यो०पा०१ सू०३

( अर्थ ) जब जीव निरद्वावस्था में स्थिर होता है, तब सब के द्वया परमेश्वर के स्वरूप में स्थिति को प्राप्त करता है यही योग प्राप्त करने का उपाय है ।

अर्थात् सब व्यवहारों से जब मन को रोका जाता है तब उपासक योगी के चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियाँ सर्वशः परमेश्वर के स्वरूप में हस्त प्रकार स्थिर हो जाती हैं कि जैसे जल के प्रवाह दो एक ओर से इड धांध कर जब रोक होते हैं, तब वह जल जिधर नोचा होता है, उस ओर चलकर कहाँ स्थिर हो जाता है ।

चित वा मन की वृत्तियाँ के रोकेने का मुख्य प्रयोजन, ईश्वर में स्थिर करना ही है । दूसरा प्रयोजन अगले सूत्र में कहा है भू० पू० २६६

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ यो०पा०१ सू०४

( अर्थ ) —निरद्वावस्था के अतिरिक्त अन्य दशाओं में चित्त वृत्ति के रूप को धारण कर लेता है ।

अर्थात् उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रबृत्त होते हैं, तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्षशोकरहित आनन्द से प्रकाशित पाक्षर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है और संसारी मनुष्य की सदा हर्षशोकरूप दुःखसागर में ही डूबी रहती है ।

सारांश यह है कि योगी जन तथा संसारी जन दोनों ही व्यवहारों में तो प्रवृत्त होते ही हैं, परन्तु उपासक योगी तो सत्त्वगुणमय ज्ञानरूप प्रकाश के सकाश से सब काम विचार पूर्वक करते हैं, अतः उनका ज्ञान बढ़ता जाता है और संसारी भनुप्य सदा सब व्यवहारों में रजोगुण और तमोगुण के अन्धकार में फँसे रहते हैं, अतएव उनके चित्त की वृत्ति सदा अन्धकार में ही फँसती जाती है। भ० प० १६६

( प्रश्न ) चित्त की वृत्तियां कितनी हैं ।

( उत्तर ) वृत्तयः पञ्चतयः विकल्पाऽविकल्पाः ॥

यो० पा० १ सू० ५

( अर्थ ) सब जीवों के मन पांच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती हैं । उनके दो भेद हैं । एक तो हिंष्ट अर्थात् फँशेशसहित और भेद और दूसरी अविलष्ट अर्थात् कलेशरहित ।

उनमें से जिन भनुप्यों की वृत्ति विषयासक और परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है, उनकी वृत्ति अविद्याविकलेशसहित और जो श्रेष्ठ उपासक हैं उनकी कलेशरहित शांत होती हैं । भ० प० १६६

( प्रश्न ) वे पांच वृत्तियां कौन २ सी हैं ।

१ २ ३ ४ ५ ६

( उत्तर ) प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥

यो० पा० १ सू० ६

( अर्थ ) वे पांच वृत्तियां ये हैं—पहली प्रमाण वृत्ति, दूसरी विपर्ययवृत्ति, तीसरी विकल्पवृत्ति, चौथी निद्रावृत्ति और पांचवीं स्मृतिवृत्ति ।

इन सब वृत्तियों के विभाग और लक्षण आगे कहते हैं।

( १ ) प्रमाणवृत्ति  
तंत्र प्रत्यक्षानुभानागमाः प्रमाणानि ॥

यो० पा० १ सू० ७

अर्थ—प्रमाणवृत्ति तीन प्रकार की है अर्थात् (१) प्रत्यक्ष वृत्ति, (२) अनमानवृत्ति, (३) आगम वृत्ति ।

अन्तमें प्रतीति प्रत्यक्षम् ।

इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है उसको प्रत्यक्ष कहते अनु प्रचान्मीयतेऽनेनेत्यनुभानम् ।

( अर्थ ) प्रत्यक्ष के अनन्तर जिस वृत्ति के द्वारा ज्ञान होता है उसको अनुभान कहते हैं ।

आ समन्ताद्वगम्यते बुध्यतेऽनेनेत्यागमः शब्दः ॥

भले प्रकार समझा जाय जिसके द्वारा उसे आगम कहते हैं, अर्थात् शब्दप्रमाण को आगम कहते हैं । सो मुख्यतया शब्दप्रमाण वेद ही है, इसी कारण वेद को आगम कहते हैं तदनुकूल आप्तोपदिष्ट सत्यग्रन्थ भी शब्दप्रमाण हो सकते हैं ।

न्यायशास्त्र के अनुसार प्रमाण आठ प्रकार का है, जिस को श्रीयुत स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने भी निज सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया है (देखो भू० पृ० ५२) यहां इस प्रकार लेख चला है:—

( प्रथ ) दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते ।

आप दर्शन ( प्रमाण ) कितने प्रकार का मानते हो !

( उत्तर ) आषुविधं चेति ।

( अर्थ ) आठ प्रकार का

( प्रश्न ) किं च तत् ।

( अर्थ )—“वे आठ प्रकार के प्रमाण” कौन २ से हैं ?

(उत्तरः श्रीब्राहुगोंतमाचार्या न्यायशास्त्रे—

( अर्थ ) इस विषय में गोतमाचार्यने न्यायशास्त्र में ऐसा प्रतिपादन किया है कि—

प्रत्क्लिनुमानोमानशब्दैतिहार्थीपित्ति—

संभवाभावस्त्राधनभेदादष्टधा प्रमाणम् ॥

न्य० अ० १ सू० ५ ( भू० पू० ५२

( अर्थ ) ( १ ) प्रत्यक्ष, ( २ ) अनुमान, ( ३ ) उपमान, ( ४ ) शब्द. ( ५ ) ऐतिह्य, ( ६ ) अर्थापित्ति, ( ७ ) संभव और ( ८ ) अभाव इस भेद से हम आठ प्रकार का दर्शन ( प्रमाण ) मानते हैं ॥

१—(प्रत्यक्ष) = इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमध्यपदेश्य-  
मव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ १ ॥

न्य० अ० १ सू० ४ ( भू० पू० ५३ )

( अर्थ ) प्रत्यक्ष उसको कहते हैं कि जो चल्लु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्य अथात् निर्ममओर निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न हो ॥ १ ॥

अथात् जबथोत्र, त्वचा चल्लु, जिहा और धूण का शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होना है, तब इन्द्रियों के साथ मन का और मनके साथ आत्मा के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं । परन्तु व्यपदेश्य अर्थात् संज्ञासंही वे सम्बन्ध और शब्द मात्र से जो ज्ञान होता है, सो शब्दप्रमाण का विषय होने के कारण प्रत्यक्ष की गणना में नहीं; अतः शब्द से जिस पदार्थ का कथन किया जाय उसपदार्थ का “अव्यपदेश्य” और यथार्थ वौध प्रत्यक्ष कहना है । वह ज्ञान भी “अव्यभिचारि” ( न वद-लने वाला अविनाशी ) और “व्यवसायात्मक” ( निश्चयात्मक ) हो । ( स० प्र० सू० ३ पू० ५५

२-( अनुमान ) अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानमूर्वं  
वच्छेपवत् सामान्यतोद्दृष्टं च ॥

न्या० श० १ आ० स० ५ ( भ० प० ५२ )

प्रत्यक्षस्य पश्चान्यीयते ज्ञायते येन तदनुमानम् ।

यत्र लिङ्गज्ञानेन लिगिनो ज्ञानं ज्ञायते तदनुमानम् ॥२॥

अर्थात् जो किसी पदार्थ के चिन्ह देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान होता है, वह अनुमान कहाता है । ऐसा ज्ञान अनुमान छारा तभी होता है, जब उस पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रथम हो चुका हो । अर्थात् जो “प्रत्यक्षपूर्व” नाम जिस का कोई एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हो चुका हो, उसका दूरदेश से सहचारी एकदेश के प्रत्यक्ष होने से अद्वितीयत्व का ज्ञान होना, अनुमान कहाता है । वह अनुमान तीन प्रकार का हीता है । यथा—

( १ ) “पूर्ववत्”=जहाँ कारण को देख कर कार्य का ज्ञान होता है, वह पूर्ववत् अनुमान कहाता है । जैसे पुत्र को देख कर पिता का अनुमान किया जाता है ॥

( २ ) “शेषवत्” जहाँ कार्य को देखकर कारण का ज्ञान हो, वह शेषवत् अनुमान कहाता है । जैसे पुत्र को देखकर पिता का अनुमान किया जाता है ॥

( ३ ) सामान्यतोद्दृष्टि=जो कोई किसी का कार्य कारण न हो; परन्तु किसी प्रकार का साधर्य एक दूसरे के साथ हो, जैसे कोई भी विना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता, वैसे ही अनुमान से ज्ञान लेना कि दूसरा कोई भी पुरुष स्थानान्तर में तब तक नहीं पहुँच सकता, जब तक कि वह चलकर वहाँ न जाय ॥२॥ स० प्र० प० ५५

३-(उपमान) प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ।

( न्याय० अ० १ आ० १ सूत्र ६ ( भ० प० ५२—५३ )

( अर्थ ) जो प्रसिद्ध प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य हान की सिद्धि करने का साधन हो, उसको सिद्ध उपमान कहते हैं । तुल्यधर्म से जो हान होता है उसको उपमान प्रमाण जानो ॥

उपमानं साहश्यज्ञानम् । उमर्मीयते येन तदुपमानम् ३ ॥

( अर्थ ) साहश्य ( एक से ) पदार्थों का ज्ञान उपमान से होता है । जिससे किसी अन्य व्यक्ति वा पदार्थ की उपमा दीजाय उसे उपमान कहते हैं । यथा उदाहरण-गाय के समान गवय [ नीलगाय ] होती है, देवदत्त के सदृश विष्णुभित्र है । अर्थात् जिस किसी का तुल्यधर्म वेख के उसके समान धर्म वाले इससे पदार्थ का ज्ञान जिस से हो, उसको उपमान कहते हैं ॥ ( स० प्र० प० ५२ )

४-( शब्द ) आसोपदेशः शब्दः ॥

( न्या० अ० ५ आ० १ सूत्र ७ ) ॥४॥

( भ० प० ५२ ) ( स० प्र० प० ५६ )

शब्दते प्रत्यायते वष्टोऽवृश्चार्थो येन स शब्दः ।

ऋते ज्ञानान्नमुक्तिरित्युदाहरणम् ॥

( अर्थ ) जो आस अर्थात् पूर्ण विद्वान् धर्मात्मा, परोगकार प्रिय, सत्यवादी पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय, पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो, उसही सत्य विप्रय के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ, उपदेश हो, अर्थात् पृथिवी से लेकर परमेश्वर, पर्यन्त सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके जो कोई उपदेश हो, उसके बचन-

को शब्दप्रमाण जानो । अर्थात् जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष आदि का निष्ठय कराने वाला आप का किया हुआ उपदेश [वाक्य] हो उसको शब्द प्रमाण कहते हैं । उदाहरण यथा—“ ऋटूं शानानन मुक्तिः” ज्ञान के चिना मुक्ति नहीं होती । इस प्रकार पूर्वोक्तलक्षणयुक्त आप विद्वानोंके बनाये शास्त्र तथा पूर्ण आप परमेश्वर के उपदेश वेद हैं, उन्हीं को शब्द प्रमाण वा आगम प्रमाण जानो ।

( भू० प२० प३ ) ( स० प्र० समू०३ पृष्ठ प६ )

५—( ऐतिहास ) = ऐतिहास ( इतिहासं ) शब्दोपगतमासो-यदिष्ट ग्राहम् ॥ ५ ॥

[ इति-ह-आस ] वह निष्ठय करके इस प्रकार का था । वा उसने इस प्रकार किया, अर्थात् किसी के जीवनचरित्र का नाम पेतिहास है । सो सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश का नाम इतिहास ( ऐतिहास ) जानो । यथा ऐतरेय शतपथ आदि सत्य ग्राहण ग्रन्थों में जो देवासुरसंघाम की कथा लिखी है वही ग्रहण करने योग्य है, अन्य नहीं । ऐसे ही अन्य सत्य इतिहासं पेतिहासं प्रमाण कहते हैं ।

( स० प्र० प२० प६ ) भू० प२० प३ )

६—( अर्थापत्ति ) अर्थादापद्यते सार्थापत्तिः ॥६॥

जो एक वात के कथन से उसके विशद्द दूसरी वात सम-भी जावे उसको अर्थापत्ति कहते हैं । यथा इस कथन से कि “वहल के होने से वर्धा होती है” वा “कारण के होने से कार्य होता है” यह विशद्यपक्षी अर्थाशय दिना कहे ही समझ लिया जाता है, कि वहल के विना वृष्टि और कारण के विना कार्य का होना असम्भव है । इस प्रकार के प्रमाण से जो ज्ञान होता है उसको अर्थापत्ति कहते हैं ॥ ६ ॥

(७—( सम्भव ) सम्भवति येन यस्मिन् वासः सम्भवः॥७॥

जिस करके वा जिस में जो वात हो सकती हो, उसको सम्भव प्रमाण जानो। यथा माता पिता से सन्तानोत्पत्ति सम्भव है। ( स० प्र० पू० ५७ ) ( भ० पू० ५४ )

अर्थापत्ति और इस सम्भव प्रमाण से ही असम्भव वातों का भी खण्डन हो जाता है। यथा—मृतक का जिला देना, पहाड़ उठा लेना, समुद्र में पत्थर तिरा देना, चन्द्रमा के टुकड़े कर देना, परमेश्वर का अवतार, शृंगधारी मनुष्य, बन्ध्यापुत्र का विवाह ये सब वातें सुषिक्कम के विरुद्ध होने के कारण असम्भव और मिथ्या ही समझी जा सकती हैं क्यों कि ऐसी वातों का सम्भव कभी नहीं हो सकता। अतः जो वात सुषिक्कम के अनुकूल हो वे ही सम्भव हैं ॥ ७ ॥

( स० प्र० पू० ५७ ) ( भ० पू० ५४ )

८—( अभाव ) न भवन्ति यस्मिन् सोऽभावः॥८॥

जो वात कहीं किसी में किसी प्रकार से भी न पाई जाय उसका सर्वथा अभाव ही माना जाता है ॥ ८ ॥

इनमें से जो “शब्द” में “पेतिष्या” और “अनुमान” में “अर्थापत्ति” “सम्भव” और “अभाव” की गणना करें तो केवल चार प्रमाण ही रह जाते हैं।

यहाँ तक प्रमाणनामक प्रथम चित्त की वृत्ति का संलेप लै वर्णन हुआ। आगे शेष चार वृत्तियों को कहते हैं।

## (२) विपर्ययवृत्ति ।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद् प्रतिष्ठितम्॥ २ ॥

( यो०-पा० १ स० ८ ) ( भ० पू० १६६ । १६६ )

( अर्थ ) दूसरी वृत्ति “विपर्यय,, कहाती है। जिस से कि

ऐसा मिथ्याज्ञान हो कि जो पदार्थ के सत्त्वरूप को दिया दे । अर्थात् ऐसा भूंठा ज्ञान कि जिस के द्वारा पदार्थ अपने पार्मार्थिक रूप से भिन्न रूप में भान हो । अर्थात् जैसे को तैसा न जानना, अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना । यथा सोप में चांदी का भ्रम होना जीव में ब्रह्म का ज्ञान वा भान, यह विपर्ययज्ञानप्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रमाण से खण्डित हो जाता है । विपर्यय को ही अविद्या भी कहते हैं, जिसका वर्णन आगे होगा ॥२॥

### ( ३ ) विकल्पवृत्ति

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ३ ॥

( यो० पा० १ सू० ६ ) [ भ० प० १६५ । १६६ ]

[ अर्थ ] तीसरी वृत्ति “विकल्प,, है कि जिस का शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके । अर्थात् शब्द मात्र से जिस का भान वा ज्ञान हो, परन्तु क्षेय पदार्थ कुछ भी न हो । यथा बन्ध्या का पुत्र, सोंग वाले मनुष्य आकाशपुर्ण । इस “विकल्प,, वृत्ति से भी “ विपर्यय,, वृत्ति के समान संशयात्मि, कभ्रमात्मिक वा मिथ्याज्ञान ही उत्पन्न होता है । ऐद इनना ही है कि विपर्ययवृत्तिजन्य ज्ञान में, तो कोई क्षेय पदार्थ अवश्यमेघ होता है, परन्तु विकल्पवृत्ति में क्षेय पदार्थ कोई भी नहीं होता । केवल शब्दज्ञान मात्र इस में सार है । आशय यह है कि शब्दज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होने वाली वृत्ति जिस में शब्दज्ञान से मोहित हो जाने पर धार्स्तविक पदार्थ की सत्त्वकी कुछ अपेक्षा न रहे; यह “विकल्प,, वृत्ति है-

## (४) निद्रा वृत्ति ।

अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिनिद्रा ॥ ४ ॥

( यो० पा० १ स० १० ) भू० पू० १६५-१६६ )

( अर्थ ) अभाव नामं ज्ञान के अभाव का जो आलम्बन करे और जो अज्ञान तथा अविद्या के अन्धकार में फँसी हुई वृत्ति होती है, उसको निद्रा कहते हैं कि जिसमें सांसारिक पदार्थों के अभाव का ज्ञान रहे अर्थात् अभाव ज्ञान के आश्रय पर ही जो स्थिर हो ।

इस वृत्ति में तमोगुण ही प्रधान है, इसही कारण से सम्पूर्ण पदार्थों को ज्ञान जाता रहता है और केवल अभाव का ही ज्ञान रहता है । यह वृत्ति जीव के वास्तविक स्वरूप में नहीं है, प्रत्युत्त अन्य वृत्तियों के समान जीव इसको भी जीत सकता है ।

## निद्रावृत्ति तीनि प्रकार की होती है ।

( १ ) एक तमोगुणप्रधान, जिसमें रात्रि भर मनुष्य आतीच गाढ़ निद्रा में सोया हुआ रहने पर भी जगाने पर अतिकठिनता से जागता है, तथापि सोने की इच्छा घनी रहती है और अवसर मिलने से फिर भी सो जाता है ।

( २ ) दूसरी रजोगुण प्रधान, जिसमें कि मनुष्य रात्रि भर सोता भी रहे तथापि रात्रि के अन्त में जब जागता तथा रहता है कि सुभे रात्रि को निद्रा अच्छे प्रकार नहीं आई और दिन में आलस्य बना रहता है ।

( ३ ) तीसरी सत्यगुण प्रधान निद्रा कहाती है, जिसको योगीज्ञ लेते हैं और अधिक से अधिक चार घण्टे सो लेने

के उपरान्त जब जागते हैं तो स्मरण होता है कि हम घड़े आनन्दपूर्वक सोये।

उक्त विविधि “निद्रावृत्ति” “स्मृतिवृत्ति” से जानी जाती हैं अर्थात् स्मृतिवृत्ति का भाव निद्रा में बना रहता है, यदि निद्रा में स्मृति न रहे तो जागने पर उसके अनुभव का खण्डन कैसे सम्भव है?

निद्रालय का जिस किसी को यथावत् दान हो जाता है, वही पुरुष निद्रा को जीत भी सकता है, निद्रा को समाधि में न्यगना चाहिये, क्योंकि यह योगाभ्यास में विष्ण कारक है, इस वृत्ति का पूर्णज्ञान ध्यानयोग द्वारा ही होता है और उस ध्यानयोग से ही इसका निवारण भी हो सकता है।

निद्रा भी वृत्तियों में परिगणनीय इस लिये है कि मनुष्य को सुखपूर्वक वा दुःखपूर्वक आदि सोनेकी स्मृति विना अनुभव के नहीं होती॥

निद्रा के दो भेद और भी हैं अर्थात् एक तो आवरणवृत्ति और दूसरी लयतांत्रिति।

( १ ) आवरणवृत्ति उस को कहते हैं कि जो बादल की तरह ज्ञान को ढक लेती है। यह निद्रा का पूर्वरूप है।

( २ ) लयतांत्रिति वह कहती है, जिस में निद्रावश मनुष्य भोक्ते बने लगता है।

उक्त सर्वप्रकार की निद्रा का ध्यानयोग से हटाना उचित है॥

## (५) स्मृतिवृत्तिः

अनुभूतिप्रयासम्प्रतोपःस्मृतिः ॥ ५ ॥

( यो० पा० २ सू० ११ ) ( भ० प० १६५-१४६ )

( अर्थ ) अनुभूते पदार्थों के पुनर्विचार को स्मृति कहते

है। अर्थात् जिन विषयों का चित्त वा इन्द्रिय द्वारा अनुभव किया गया हो उनका जो वारंवार ध्यान होता रहता है, वही स्मृति वृत्ति है।

सारांश यह है कि जिस चस्तु के व्यवहार को प्रत्यक्ष देख लिया हो, उस ही का संस्कार ज्ञान में बना रहता है। फिर उस विषय को ( असम्प्रतोष ) भूले नहीं, इस प्रकार की व्याच्छ को स्मृति कहते हैं।

स्मृति दो प्रकार की है। एक तो भावितस्मर्तव्या और दूसरी अभावितस्मर्तव्या।

( २ ) और जाग्रत् अवस्था में जो स्वभावस्था के पदार्थों की स्मृति होती है, उसको अभावितस्मर्तव्या स्मृति कहते हैं॥

## वृत्तियाम ।

योगी को उचित है कि इन सब वृत्तियों का निरोध करे क्योंकि इन के हटाने के पश्चात् ही सम्प्रज्ञात वा असम्प्रज्ञात योग हो सकता है।

इन पांचों वृत्तियों के निरोध करने अर्थात् इनको हुए कर्मों और अनीश्वर के ध्यान से हटानेका प्रथम उपाय अगले दो सूत्रों में कहा है॥

## प्रथम वृत्तियाम ।

अभ्यासवराग्याभ्यान्तनिरोधः । ( यो० पा० १० सू० १२ )

## द्वितीय वृत्तियाम ।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा । ( यो० पा० १० सू० २३ )

( अर्थ ) ( १ ) ईश्वर के निरन्तर चिन्तनमय योग की क्रियाओं के अभ्यास तथा वैराग्य से उक्त वृत्तियां रोकी जाती हैं । यह प्रथम वृत्तियाम है ॥

( २ ) अथवा ईश्वर की भक्ति से समाधियोग प्राप्त होता है वह द्वितीय वृत्तियाम है ॥

अर्थात् अभ्यास तो जैसा आगे लिखा जायगा उत्तमिष्ठि से करे । और सब बुरे कामों, दोषों, तथा सांसारिक विषय वासनाओं से अलग रहना वैराग्य कहाता है । इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पात्रों वृत्तियों को रोक कर उनको उपासनायोग में प्रवृत्त रखना उचित है । तथा दूसरा यह भी साधन है कि ईश्वर में पूर्ण भक्ति होने से मन का समाधान होकर मनुष्य समाधियोग को श्रीब्रह्म प्राप्त होजाता है । इस भक्तियोग को ईश्वरप्रणिधान कहते हैं ॥

इस प्रकार चित्तकी वृत्तियोंके निरोध करने को “वृत्तियाम” कहते हैं ॥

## ईश्वर का लक्षण ।

आगले तीन सूत्रों में उस ईश्वर का लक्षण कहा जाता है कि जिस की भक्ति का विद्यान पूर्वसूत्र में किया है ॥

ज्ञेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥

( यो० पा० १ सू० २४ ) ( भ० प० १६७-१६८ )

( अर्थ ) अविद्यादि पांच क्लेश और अच्छे तथा बुरे कामों की समस्त वासनाओं से जो सदा अलग और बन्धन रहित है, उस ही पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं, जो ( परमात्मा ) जीवात्मा से विलक्षण भिन्न है । क्योंकि जीव अविद्याजन्य कर्मों को करता और उन कर्मों के फलों को परतन्त्रता से भोगता है ॥

इस सूत्र में कहे पाच ध्लेश ये हैं ( १ ) अविद्या, ( २ ) अस्मिता, ( ३ ) राग, ( ४ ) द्वेर, और ( ५ ) अभिनिवेश। इन सब को व्याख्या आगे की जायगी ॥

### तत्र निरतिशयं सर्वज्ञवीजम् ॥

( यो० पा० २ सू० २४ ) ( भ० पृ० १६७ १६८ )

( 'अर्थ ) जिस में नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है, वही ईश्वर है, जिस के धानादि गुण अनन्त हैं जो धानादि गुणों की परा काष्टा है और जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं है ॥

जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है, इस लिये सब जीवों को उचित है कि अपने ध्नान बढ़ाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते हैं ॥

—○—

### ईश्वर का महत्व

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनान्तरच्छेदात् ॥

यो० पा० १ सू० २६ ( भ० पृ० १६७-१६८ )

( 'अर्थ ) 'वह पूर्वोक्त गुणविशिष्ट परमेश्वर पूर्वज मह पर्यों का भी गुरु है, क्योंकि उस में कालकृत सीमा नहीं है। अर्थात् प्राचीन अग्नि वायु आदित्य, अंगिरा और ब्रह्मादि पुरुष जो कि सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुवे थे, उन से लेकर हम लोगों पर्यन्त और हम से आगे जो होने वाले हैं, इन सब का गुरु परमेश्वर ही है अर्थात् वेदद्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरु है। सो ईश्वर नित्य ही है क्योंकि ईश्वर में क्षणादि कालोंकी गति का प्रचार ही नहीं है। आगे ईश्वर की महि अर्थात् स्तुति, प्रार्थना, उपासना की विधि दो मूँबों में कही है ॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥

यो० पा० १ सू० २७ ( भू० पृ० १६८ )

( अर्थ ) उसे परमेश्वर का वाचक प्रणव अर्थात् औंकार है अर्थात् जो ईश्वर का नाम औंकार नाम है सो पितृपुत्र के सम्बन्ध के समान है और यह नाम परमेश्वर को छाड़ के दूसरे का घाची नहीं हो सकता । ईश्वर के जितने नाम हैं उनमें से औंकार सुन्दर से उत्तम नाम है । इसलिये—

## तृतीय वृत्तियाम

तजपस्तदर्थभावनम् ॥

यो० पा० १ सू० २८ ( भू० पृ० १६८ )

( अर्थ ) इस ही नाम का जप अर्थात् स्मरण और उस ही का अर्थविचार सदा करना चाहिये । जिससे कि उपासक का मन एकाग्रता प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो, जिस से उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेमभंगि सदा बढ़ती जाय । जैसा कहा भी है कि—

“स्वाध्यायोद्योगमासीत् योगात्स्वाध्यायमापनेत्  
स्वाध्याययोगसंपर्च्या परमात्मा प्रकाशत इति,,

[ अर्थ ] स्वाध्याय [ औं मन्त्र के जप ] से योग को और योग से जप को सिद्ध करे । तथा जप और योग इन दोनों के लल से परमात्मा का प्रकाश योगी के आत्मा में होता है । यह भूत को एकाग्र करने का तीसरा उपाय है ॥

आगे योगशास्त्रात्मार प्रणव जाप ला फल कहा जाता है ।

## प्रणव जाप का फल ।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोप्यन्तरायाभावश्च ॥

यो० पा० १ सू० २६ [ भ० पृ० १६४-१७० ]

[ अर्थ ] नव परमेश्वर का ज्ञान और विष्णों का अभाव भी हो जाता है ॥

अर्थात् उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और अन्तर्देश अर्थात् पूर्वोक्त अविद्याविषयके लेशों तथा रोगरूप विष्णोंका नाश हो जाता है ॥

सारांश यह है कि प्रणव के जप और प्रणव के अर्थ को विचारने से तथा प्रणववाच्य परमेश्वर के चिन्तन से योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है । योंकि जो मनुष्य परमात्मा के उत्कृष्ट नाम प्रणव का भक्ति से जप करता है उस को परमात्मा पुत्र के तुल्य प्रेम करके उस के मन को अपनी और आकर्षण कर लेता है । अतएव समाधि की सिद्धि प्राप्त करने के लिये प्रणवका जप और उसके वाच्य परमेश्वरका चिन्तन अर्थात् उस परमात्मा का बाहुद्वार स्मरण और ज्ञान उपासनक योगी को अवश्य करना चाहिये । तब उस योगी को उस अन्तर्यामी परमात्मा का सम्पूर्ण ज्ञान जैसा कि सर्वव्यापक आनन्दमय अद्वितीय, आदि है, जैसा ही यथार्थता से हो जाता है ॥

## १ नव योगवल्ल ।

अगले सूत्र में उन विष्णों का कथन है कि जो समाधि साधन में विघ्नकारक हैं, अर्थात् चित्त को एकाग्र नहीं होने देते ।

च्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शना-  
लव्यभूमिकत्वानवस्थितत्वानि । चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।

यो० पा० १ सू० ३० [ भू० पू० १६६-१७० ]

वे विद्म नव प्रकार के हैं जो क्रमशः नीचे लिखे हैं । ये सब एकाग्रता के विरोधी हैं श्रौर रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न होते और चित्त को विक्षिप कर देते हैं ॥

( १ ) व्याधि = शरीरस्थ धातुओं तथा रस को विषमता [ विडने वा त्यूनता वा अधिकता ] से ज्वरादि अनेक दोगों तथा पीड़ाओं के होने से जो शरीर में विकलता होती है उसको व्याधि कहते हैं । यह शारीरिक विद्म है, इससे चित्त ध्याकुल होकर “ध्यानयोग” नाम समाधिसाधन में तत्पर नहीं रह सकता क्योंकि उस समय अस्वास्थ्य होता है ॥ ६ ॥

( २ ) स्त्यान = सत्य कर्मों में अप्रीति, दुष्टकर्म का चिन्तन करना अथवा कर्म रहित होने की इच्छा करना स्त्यान कहाता है । इस विद्म से चित्त चेष्टारहित घा कुचेष्टा-रत हो जाता है ॥ २ ॥

( ३ ) संशय = जिस पंदार्थ का निश्चय किया चाहे, उस का यथावत् ज्ञान न होना संशय कहाता है । जो दोनों कोटिका खण्डन, करने घाला उभयकोटिस्पृक् ज्ञात हो । कभी कहे कि यह ठीक है, कभी कहे दूसरा ठीक है । यह इस प्रकार से नहीं है, यह इस प्रकार से नहीं है अर्थात् जिससे दो विषयों में अम होता है फिर यह करना उचित है या उचित नहीं है । योग मुझे

- सिद्ध होगा वा नहीं। पेसे दो प्रकार के अमजंन्य  
ज्ञानों का धारण करना संशय कहाता है ॥ ३ ॥
- ( ४ ) प्रमाद = समाधिक्षाधनों के ग्रहण में प्रीति और उन  
का यथावत् विचार न होना प्रमाद कहाता है। इस  
विभ्र में मनुष्य सावधान नहीं रहता और योग के  
साधनों अर्थात् उपायों का चिन्तन नहीं करता और  
उदासीन हो जाता है ॥ ४ ॥
- ( ५ ) आलस्य = शरीर और मन में प्राण फरने की इच्छा  
से पुरुषार्थ छोड़ बैठना अर्थात् शरीर वा चित्त के  
भारीपन से चेष्टारहित नाम अप्रथत्त्वधान रहे जाना  
आलस्य कहाता है ॥ ५ ॥
- ( ६ ) अविरति = विषयसेवा में तृप्ति का होना। अर्थात्  
अविरति उस वृत्ति को कहते हैं कि जिसमें चित्त  
विषय के संसर्ग से आत्मा को मोहित वा प्रलोभित  
कर देता है ॥ ६ ॥
- ( ७ ) आनन्ददर्शन = जलदे ज्ञान का होना। जैसे जड़ में  
बेतन और चेतन में जड़ दुखि करना तथा ईश्वर में  
अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वरभाव तथा आत्मा में  
आनात्मा और अनात्मा में आत्मा का भाव करके पूजा  
करना अर्थवा जैसे लीप में चांदी का ज्ञान होना।  
आनन्ददर्शन कहाता है इसको अविद्या भी कहते हैं ॥ ७ ॥
- ( ८ ) अलब्धभूमिकत्त्व = समाधि का प्राप्त न होना।  
अर्थात् किसी कारण से समाधियोग का भूमि प्राप्ति  
न कर सकना ॥ ८ ॥
- ( ९ ) अनवस्थितत्व = समाधि की प्राप्ति हो जाने पर  
भी उस में चित्त का स्थिर न रहना ॥ ९ ॥

ये सब विद्म चित्त की समाधि होने में विक्षेपकारक हैं;  
अर्थात् उपासनायोग केशनु हैं इनको—योगमल = योग के मल  
शोगप्रतिपक्षी = योग के शनु और—योगन्तराय = योग के  
धिन भी कहते हैं।

### योगमलजन्य विद्मचतुष्टय

अगले सूत्र में उक्त नव योगमलों के फलस्तप दोषों का  
वर्णन है अर्थात् किस २ प्रकार के विद्म इन मलों से मनुष्य  
को प्राप्त होते हैं।

दुःखदौर्भवस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाविक्षेपसहभुवः ॥

यो० पा० १ सू० ३२ ( भ० प० १६९-१७० )

वे विद्म ये हैं कि—

( १ ) दुःख = तीन प्रकार के दुःख हैं एक आव्यात्मिक, दूसरा  
आधिभौतिक, तीसरा आधिदैविक, यह समाधि-  
सोधन की प्रथम विक्षेपभूमि हैं।

( २ ) मानसिक वा शारीरिक रोगों के कारण जो क्लेश होते  
हैं वे आव्यात्मिक दुःख कहाते हैं सो अविद्या, राग,  
द्वेष, मूर्खता आदि कारणों से आत्मा और मन को  
प्राप्त होते हैं।

( ३ ) दूसरे प्राणियों अर्थात् सर्प, व्याघ्र, बृशिचक, चोर शशु  
आदि से जो दुःख प्राप्त होते हैं, वे आधिभौतिक दुःख  
कहाते हैं और प्रायः रजेगुण और तमोगुण से इनकी  
उत्पत्ति होती है। अर्थात् जब कोई मनुष्य रज वा  
तम की प्रथानका में जन्य प्राणियों को सताता है तो वे

सताये गये प्राणी पीड़ित होकर सताने वाले भनुच्यं का, नाश करने वा बदला लेने को उद्यत होकर अनेक दश्यं पहुँचने को यत्न करते हैं ॥ [ग] आधिदैविक दुःख वे कहाते हैं जो मन और इन्द्रियों की चंच- सता वा अशान्ति तथा मन की दुष्टता तथा अशुद्धता आदि विकारों से अथवा अतिवृष्टि, अनवसर्वष्टि, अनावृष्टि अति शीत, अतिउष्णता, महामारी अदि दैवा धीन कारणोंसे प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

[२] दौर्मनस्य = मनका दुष्ट होना अर्थात् इच्छाभङ्गांदि वाहा वा आभ्यन्तर कारणों से मन का चंचल हो कर किसी प्रकार क्षोभित [अप्रसन्न] होना, यह समाधि की दूसरी विक्र्तेपभूमि है ॥ २ ॥

[३] अङ्गेभयत्व, = शरीर के अवयवों का कम्पन होना, यह समाधियोग की तीसरी विक्र्तेपभूमि है, इस का लक्षण यह है कि जब शरीर के संघ अंग कांपने लगते हैं, तब आत्मने स्थिर नहीं होता । अस्थिर आसन होने से मन नहीं ठहरता और मन की चंचलता के कारण ध्यनयोग यथार्थ नहीं होता और ध्यान ठीक न लगने से समाधि प्राप्त नहीं होती ॥ ३ ॥

[४] श्वासप्रश्वास = श्वास प्रश्वास के अत्यन्त बेंग से चलने, में अनेक प्रकार के क्लेश उत्पन्न होकर चित्त को विक्रित कर देते हैं । बाहर के अपान वायु के भोतर लेजाना श्वास कहाता है और भीतर के प्राण वायु को बाहर निकाले कर फेंकना, प्रश्वास कहाता है । श्वास प्रश्वास चौथी विक्र्तेपभूमि है ॥ २ ॥

इस सूचान्तर्गत “विक्रेपसहस्रुतं” वाक्य का यह अर्थ है कि ये दोष विक्रेप के साथ उत्पन्न होते हैं अर्थात् ये क्लेश

गिरिदिम और शशान्त चित्त घाले मनुष्य को प्राप्त होते हैं कि जिगाका मन वज्र में न रहे। समाहित (साधधान) और शान्त चित्त घाले को नहीं होते।

ये सब समाधिश्रोग के शत्रु हैं, इस कारण इनको रोकना पा गिरुत्ति करना शावधान है। इनके निवारण करने की विधि अगले सूच में कही जाना है।

### चतुर्थ वृत्तियाम् ।

तन्त्रितिषेषाथंमेलतत्त्वाभ्यासः ॥ यो० पा०१ सू०३२

पूर्व सूचोंका उपादनमय विधाओं को निवारण करनेका मुख्य उपाय यही है कि एक तत्त्व पा ध्यभ्यास करे अर्थात् जो केवल एक अद्वितीय मानवतत्त्व है, उसी में प्रेम रखना और संयंदा उसही को आज्ञापालन में पुनर्पाठ करना चाहिये क्योंकि यहाँ पक्के इन विधाओं के नाश करने को बद्ररूप शक्ति है। अन्य कोई उपाय नहीं। इस लिये सब मनुष्यों को उचित है कि अच्छे प्रकार प्रेम और नितिभाव के उपासनायोग (ध्यान-योग ) में नित्य पुनर्पाठ बर्तने, जिससे वे सब विष्णु दूर हो जाये यह चित्त के निरोध का चाँथा उपाय है।

### पंचम वृत्तियाम् ।

जिस भावना, से उपासना करने वाले का व्यवहारों में आना चित्त खंडकारी श्रीर प्रसन्न करके एकाग्र करना उचित है, घट उपाय अगले सूच में कहा है।

पैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा मुख दुख पुण्या-

पुण्यविषयाणा भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥

यो० पा० १ सू० ३३ ( भू० पू० १६६-१७० )

( अर्थे ) प्रीति, दया, प्रसन्नता और त्याग की; सुखी दुःखी पुण्यात्मा और पापियों में भावना ( धारणा ) से चित्त प्रसन्न होता है ।

अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं उन सबके साथ मैत्रीभाव ( सौहार्द, बन्धुभान सहानुभूति आदि ) का वर्तीव रखना, दुःखियों पर दयानाम कृपादृष्टि रखना, पुण्यात्माओं के साथ हर्ष और पापियों के साथ उपेक्षा ( उदासीनता ) अर्थात् न तो उनके साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना वा धया सम्बन्ध उनके संग से दूर रहना । सामांश यह है कि सुखयुक्त ऐश्वर्यशाली जनों से प्रीति करना किन्तु ईर्ष्या न करे । दुःखियों के दुःख देख कर उनका हास्य भ करे घरन दुःख दूर करने का उपाय सोचे । पुण्यात्मा साधुजनों को देखकर प्रसन्न हो, द्वेष करके उनके छिद्र न खोजे । अथवा दम्भादि दुष्टता के भाव से उनके कर्मों का अनुमोदन भी न करे और न शत्रु भाव माने ।

इस प्रकार के वर्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है । यह चित्त के सावधान होने का पाचवां उपाय है ।

यह पांच प्रकार का "वृत्तियाम" कहा जिस से कि चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है ।

## प्राणायाम का सामान्य वर्णन ।

चित्त का निरोध ( एकांग ), करना ही मुख्य योग है, जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है । सो चित्त के एकांग करने के पांच उपाय पूर्व कहे हैं, छठा उपाय आले सूत्र में कहा जाता है । जो योग की संपूर्ण कियाओं में प्रधान है, इसी को प्राणायाम कहते हैं ।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणास्य ॥

यो० पा० १ सू० ३४ ( स० प्र० सम० ३ प० ४० )

अथवा प्राणनामक वायु को ( प्रच्छर्दन ) घमनवत् वल-  
पूर्वक वाहर निकालने तथा पुनः अपाननामक वायु को भीतर  
ले जाने से चित्त की एकाग्रता होती है । अर्थात् जैसे भोजन  
के पीछे किसी प्रकार अत्यन्त व्येग से घमन होकर अन्न जल  
वाहर निकल जाता है, वैसे ही भीतर के प्राणवायु को अधिक  
प्रयत्न से ( वलपूर्वक ) वाहर फेंक कर ऊखपूर्वक यथाशक्ति  
( जितना वन सके उतनी देर तक ) वाहर ही रोक देवे । जब  
वाहर निकालना चाहे तब मूलनाडी को ऊपर खींच रखें ।  
तब तक प्राण वाहर रहता है । इसी प्रकार प्राण वाहर अधिक  
ठहर सकता है । जब घबराहट हो, तब धीरे २ भीतर वायु  
का लेके पुनरपि पेसे ही करता जाय । जितना सामर्थ्य और  
इच्छा हो । इसी प्रकार वारंवार अभ्यास करने से प्राण  
उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से  
मन, तथा मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है  
इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के धींच में जो  
आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप  
में मग्न हो जाना चाहिये । जैसे भनुष्य गोता मार कर ऊपर  
आता है फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा  
को परमेश्वर के धींच में वारंवार मग्न करना चाहिये और  
मन में “ओ॒श्म्” इस मन्त्र का जोप करता जाय । इस प्रकार  
करने से आत्मा और मन स्थिरता और एवित्रता होता है ।

प्राणायाम चार है । उनकी यथावत् सविस्तर सम्पूर्ण  
विधि चतुर्विध प्राणायाम के प्रसंग में आगे कही है, किन्तु  
जिज्ञासु को बोध करने के लिये उनका सज्जेप से यहाँ भी  
कथन किया जाता है । वे चार प्रकार के प्राणायाम ये हैं:—

( १ ) एकतो “ वाक्यविषय ” अर्थात् प्राण को बाहर ही अधिक रोकना ।

( २ ) दूसरा “ आत्मन्तर विषय ” अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाय, उतना रोक कर प्राणायाम किया जाता है ।

( ३ ) तीसरा “ स्तम्भवृच्चिप्राणायाम ” अर्थात् एक ही बार जहाँ का तहाँ प्राण को यथाशक्ति रोक देना ।

( ४ ) चौथा “ वाक्याभ्यन्तराक्षेपी प्राणायाम ” अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे, तब उससे विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे ? तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय । ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध किया करे तो दोनों की गति रुक कर प्राण अपने बश में होने से मन और इन्द्रियों के स्वाधीन होते हैं । बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्मविषय को भी शीघ्र अहण करती है । इससे मनुष्य के शरीर में चीर्य बृद्धि का प्राप्त होकर स्थिर बल पराक्रम और जितेन्द्रियता होती है और सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में ह मनुष्य समझ कर उपस्थित कर लेगा । सभी भी इसी कार योगाभ्यास करे ।

( स० प्र० ४०—४१ ) ( भू० पृ० १७१—१७२

सम्प्रति प्राणायामों के अनुष्टानसम्बन्धी क्रियाओं के विषय में लोगों को अनेक भ्रम हैं और ऊटपटांग अस्तव्यस्त, रोग-कारक क्रियाएँ प्रचलित हैं । अतएव इस विषय के स्पष्टीकरणार्थ अन्थकार को पुनरुक्ति अभीष्ट है । इस ही आशय से अकरणात्मक यहाँ भी कुछ कथन किया गया, तथा आगे भी मुख्य विषय में सविस्तर व्याख्या की जायगी । क्योंकि

इस ग्रन्थ के निर्माण की आवश्यकता का मूलकारण प्राणायामों की कपोल कल्पना ही है, जिस को दूर करना ग्रन्थकार का मुख्य उद्देश्य है ।

---

## अष्टाङ्गयोगवर्णनम् ।

आगे उपासनायोग ( ध्यानयोग ) के आठ अंगों का वर्णन है; जिन के अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है । जैसा कि अंगले सूत्र में कहा है ॥

## अष्टाङ्गयोग का फल ।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीपिराविवेकरूपातेः ॥

( यो० पा० २ सू० २ = ( भ० प० १७२—१७२ )

[ अर्थ ] योग के जो आठ अंग हैं, उन के साधन करने से मलिनता का नाश [ ज्ञानदीपि ] ज्ञान का प्रकाश और विवेकरूपाति की वृद्धि होती है ॥

योग के उक्तआठों अंगों के नाम अंगले सूत्र में निनाये हैं । यथा:—

## योग के आठों अङ्गः

यमनियमासनप्रणायामेप्रत्याहारणाध्यानसमाधयोऽ

षट्वज्ञानि ॥ यो० पा० २ सू० २६ ( भ० प० १७१—१७२ )

[ अर्थ ] [ १ ] यम, [ २ ] नियम, [ ३ ] असन, [ ४ ]

प्राणायाम, [ ५ ] प्रत्याहार, [ ६ ] धारणा, [ ७ ] ध्यान, [ ८ ]

समाधि, ये आठ ध्यानयोग के अंग हैं। इनमें से प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि तो योग के साधक हैं। अतएव प्राणायामादि अन्तर्गत साधन कहाते हैं। और यम, नियम तथा आसन, ये तीन परम्परा सम्बन्ध से योग में सहायता देते हैं। यथा यम और नियम से विज्ञ में निर्मलता तथा योग में रुचि बढ़ती है और आसन के जीतने के पश्चात् प्राणायाम विथर होता है। अतः यमादियोग के परम्परा से उपकारक हैं किन्तु साक्षात् समाधि के साधन नहीं हैं। इस कारण यमादि योग के बहिरङ्ग साधन कहाते हैं। इन आठों अंगों का सिद्धान्तरूप फल संयम है ॥

### ( १ ) यम ५ प्रकार के

अब इन सब अंगों के लक्षण क्रमशः कहे जाते हैं ॥

तत्रहिसासत्यासनेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥

यो० पा० २ सू० ३० [भ० प० १७१-१७२]

[अर्थ] [१] अहिसा, [२] सत्य, अस्तेय, [४] ब्रह्मचर्य और [५] अपरिग्रहः, ये पांच यम कहाते हैं, ये यम उपासनायोग के प्रथम अंग हैं। जीचे पांचों के लक्षण लिखे हैं ॥

[ १ ] अहिसा = सब प्रकार से सब काल में सब प्राणियों के साथ वैरभाव छोड़कर प्रेम प्रीति से वर्तना, अर्थात् किसी काल में किसी प्रकार से किसी प्राणी के साथ शंघुता का सा काम न करना और किसी का अनिष्टचिन्तन भी कभी न करना ।

अहिसा, शेष चार यमों का मूल है। क्योंकि अहिसा के सिद्ध करने के लिये ही सत्यादि किये जाते हैं ॥

हिन्दा अथ अनधों को हेतु है। अन्य जीवों के गुरीसे का प्राप्तवाहन्त्र हम्मा करने वा अनेक प्रकार के दुःख हेते के प्रयोजन से जो चेता वा क्रिया की जाती है, वह हिन्दा के अभाव को अहिन्दा कहते हैं। अहिन्दा में सब प्रकार की हिन्दा निष्टि हो जाती है। इसही कारण प्रथम अहिन्दा का प्रतिपादन इस सूत्र में किया गया है ॥

अहमानि की आकंजा रम्भने वाला योगी जैसे श्रहत वे अडादि नियमों की वारद करता जाता है, तैन्हीं ही प्रमाण से कहिये यह हिन्दा के कारण न्य परपों से निवृत होकर निर्मल कृप वालों अहिन्दा की वारद करता है ॥ १ ॥

( २ ) सत्य = जैसा अपने द्वान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने । क्रित से कि मन और चाली वयार्थ नियम से रहे । प्रथान् लैसा देला, अनुमान किया वा दुना हो, अपने मन और चाली से वैसा ही प्रकाशित करना । और जिस किसी को उपदेश करता हो तो निष्करण निर्वाल्प ऐसे इच्छों में करना, जिस से उस का अपने हित और अहित का वयार्थ बोय हो जाय, यह चाक्य निरथक न हो । सब प्राणियों के उपकार के लिये कहा गया हो, न कि उन के विनाश के लिये और जो वाक्य कहना हो उसकी परीक्षा सावधान मन से कर के वयार्थ कहना “सत्य, कहाता है ॥ २ ॥

( ३ ) अम्लेय = पदार्थ चालेकी आदा कीवना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना । इस ही को चोरी त्याग भी कहते हैं । वयार्थ सत्य शास्त्र विरद्ध निषिद्ध वा अन्याय की रुपि से किसी पदार्थ को अद्यत न करना, प्रश्नुद उसकी इच्छा भी न करना “अस्त्रेय कहाता है

(४) ब्रह्मचर्य = गुप्तेन्द्रिय (उपस्थेन्द्रिय) का संयम नाम  
निरोध कर के वीर्य को रक्षा करना, विद्या पढ़ने के  
लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहना।  
एच्चीसचें वर्षसे लेकर अड़तालीस वर्ष पर्यन्त विवाह  
करना। वेश्यादि परस्त्री तथा परपुरुष आदि का त्या-  
गना अर्थात् स्त्री व्रत वा पतिव्रत धर्म का यथावत् पा-  
लन करना, सदा चूतु गामी होना विद्या को ठीक पढ़  
कर सदा पढ़ते रहना ॥ ४ ॥

(५) अपरिग्रह = विषय और अभिमानादि दोषों से रहित  
होना अर्थात् भोग्य साधनकी सामग्रीरूप भोग्य पदार्थों  
तथा विषयों का संग्रह करने, फिर उन की रक्षा करने  
पश्चात् उन के नाश में सर्वेत्र हिंसारूप दोष देख कर  
जो विषयों वा अभिमानादि दोषों का त्यागना, अर्थात्  
विषयों का जो दोष दृष्टि से त्यागना है; उसे “अपरि-  
ग्रह कहते हैं ॥ ५ ॥

यमों का ठीकर अनुष्ठान करने से उपासना योग ( ध्यान  
योग ) का बीज घोया जाता है, आगे नियमोंको वर्णन करते हैं  
ध्यान योग का दूसरा अङ्ग नियम है। वह भी वच्चयमाण  
स्वत्रानुसार पांच प्रकार का है।

## ( २ ) नियम प्रकार

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरपणिधानानि नियमाः ।

यो० पा० २ सूत्र ३२ ( भू० पृ० १७२-१७३ ) ।

( २ ) शौच = शौच पवित्रता को कहते हैं। सो दो प्रकार  
का है। पक वाह्यशौच दूसरा आन्यन्तर शौच ॥

(क) धार्यशौच ( वाहर की पवित्रता ) मट्टी आलादि से शरीर स्थान, मार्ग, घस्त्र, खोन, पान, आदि को शुद्ध रखने से होता है ॥

(ख) और आम्यन्तरशौच ( भीतर की शुद्धि ) धर्मचरण, सत्यभाषण, विद्याम्यास, विद्वानों का संग, तथा मैत्री मुदिता आदि से अन्तःकरण के मलों को दूर करने आदि शुभ शुण कर्म स्वभाव के आचरण से होता है १

( २ ) सन्तोष = सदा धर्मनिष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ कर के प्रसन्न रहना और दुःखमें शोकातुर न होना सन्तोष कहाता है । किन्तु आलेस्य का नाम सन्तोष नहीं है । अर्थात् निज पुरुषार्थ और परिश्रम करने से जो कुछ थोड़ा वा बहुत पदार्थ अपनी उदरपूर्णि वा कुद्रुम्य पालनादि निमित्त प्राप्त हो, उस ही में सन्तुष्ट रहना । निर्वाह योग्य पदार्थों के प्राप्त हो जाने पर अधिक चरणा न करना और अप्राप्ति में शोक भी न करना ॥२॥

( ३ ) तपः = जैसे सोने को अग्नि में तपा कर निर्मल कर देते हैं वैसे ही आत्मा और मन को धर्मचरण ( शुभ-शुणकर्म स्वभाव का धारण पालन ) रूप तपसे निर्मल कर देना तप कहाता है । तथा शुच दुःख, भूख प्यास सरदी गरमी, मानापमान आदि द्वन्द्वों का सहन करना तथा कुच्छुचान्दायण, सान्तपन आदि व्रतों का करना तथा स्थिर निष्ठा आसन से एक नियत स्थान में ध्यान-ध्यित भौनाकार वृत्ति से नियत प्रति नियम पूर्वक नियत समय तक दोनों संध्या वेलाओं में योगाभ्यास करना “तप,, कहाता है ॥ ३ ॥

- ( ४ ) स्वाध्याय — मोक्षविद्याविधायक वेदादि सत्यशास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना, औंकार के अर्थ विचार से ईश्वर का निश्चय करना करना और प्रणव का जप करना ।
- ( ५ ) ईश्वरप्रणिधान = ईश्वर में सब कर्मों का अर्पण कर देता । जिस को भक्ति योग भी कहते हैं । अर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण प्राण आत्मा और मन के प्रेमभाव से 'आत्मादि सत्य-द्रष्ट्योंका ईश्वर के लिये समर्पण करना ईश्वर प्रणिधान कहाता है । द्वितीय वृत्तियाम में ईश्वर प्रणिधान का कथन हो चुका है । आगे इस की विधि और फल कहते हैं ॥
- श्लोक — शंख्यासनस्थोऽथ पथि वजन्वा,  
स्वस्थःपरिक्षीणवित्कंजालः ।  
ॐ संसारबीजक्षयमीक्षमाणः,  
स्यान्तित्यमुक्तोमृतभोगभागी ॥ ३ ॥

\*द्विष्टण—संसार का बीज है अविद्या । अर्थात् अविद्या जन्य पाप कर्मों की ओर ऊके हुए जीव आक्षानान्धकार से अच्छादित और कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकशून्य होकर बारम्बारे अपने कर्मों के फलों को भांगते हुए अनेक योनि ( शरीर ) धारण करते और छोड़ते रहते हैं । इसी प्रकार जन्म, मरण जरा व्याणि सुख, दुःख, पाप, पुण्य, नरक, स्वर्ग, रात्रि, दिन सृष्टि, प्रलय आदि संसारचक्र का प्रवाह चलता रहता है । इस संसार के बीज रूप अविद्या का शान्तचक्षु से अनुसन्धान करके जो क्षय ( नाश ) कर देता है, वही ( अविद्या मृष्टुतीत्वा विद्ययाऽमृतमशुते ) अविद्या के स्वरूप का क्षाता मृत्युका उल्लंघन करने के विद्या विज्ञान द्वारा अमृत ( मोक्ष ) को भोगता है ।

‘योग शास्त्र के व्यासदेवकृत भाष्य का यह श्लोक है । इस का अर्थ यह है कि खट्टवादि शब्दा तथा आसन पर लेटा, तेथा बैठा हुआ तथा मार्ग चलता हुआ स्त्रस्य अर्थात् एकाग्र चित होकर (अर्थात् ईश्वर के चिन्तन वा प्रणव के जाप में ध्यानावस्थित होकर) कुर्के विवादादि जाल से निवृत होकर कर संसारके बीज का नाश ज्ञानदृष्टि द्वारा देखता वा जानता हुआ पुरुष असृत भंग का भागी नित्यमुक्त हो जाता है । अर्थात् सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा ईश्वर के चिन्तनेन और उसकी आङ्ग वालन में तत्पर रहकर अपना सर्वस्व ईश्वर को समर्पित कर देने को ईश्वर प्रणिधान कहते हैं (ऐसा तपोलुष्टानकर्ता ही मोक्षमुख को प्राप्त कर लेता है ।

### यमों के फल ।

अब पाँचवां यमों के यथावत् अनुष्ठान के फल लिखे जाते हैं ।

( १ ) अहिंसाप्रष्टिया तत्सन्निधी वैरत्यागः ॥१॥

यो० पो० २ सू० ३५ [मू० पृ० १७३]

[ अर्थ ] जब अहिंसाधर्म निश्चय होजाता है, अर्थात् जब योगी कोधादि के शब्द अहिंसा की भावना करके उसमें संयम करता है, तब उसके मन से वैरभाव छूट जाता है, किन्तु उसके सामने वा उसके संग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है ॥

( २ ) सत्यप्रष्टियां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥२॥

[यो० पा० २ सू० ३६ [मू० पृ० १७३]

[ अर्थ ] सत्याचरण का ठीक २ फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता और

फरतां हैं, तथ वह जो जो काम करता और करना चाहता है, वे २ सब सफल हो जाते हैं ॥

(३) अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥३॥

यो० पा० २ सू० ३७ [भ० प० १७३]

[ अर्थ ] जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ के ने को एह ग्रतिष्ठापूर्वक अध्यास करके सर्वथा चोरी करना त्याग देता है, तब उस को सब उच्चम २ पदार्थ व्यथायोग्य ग्रास होने लगते हैं। चोरी उसको कहते हैं कि मालिक की आक्षा के बिना उसकी चोरी को अधर्म और कपट से घा छिपा कर ले लेना ॥

( ४ ) ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ४ ॥

यो० पा० २ सू० ३८ ( भ० प० १७३—१७४ )

( अर्थ ) ब्रह्मचर्य सेवन से यद्य वात होती है कि जब मनुष्य वाल्यविस्था में विवाह न करे, उपस्थं इन्द्रिय का संयम रखते, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता रहे, चिवाह के पीछे भी प्रश्नुगामी थंना रहे और परस्त्रीगमनादि व्यभिचार को मन कर्म वचन से त्याग देते, तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् धूल बढ़ता है—एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का। उसके धूने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है ।

(५) अपरिग्रहस्थैर्येजन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ५ ॥

यो० पा० २ सू० ३९ ( भ० प० १७३—१७५ )

( अर्थ ) अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विपर्याशकि से बच कर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब “मैं कौन हूं, कहाँ से आया हूं” और सुझको क्या करना चाहिये, अर्थात् क्यों २ काम करने से मेरा कल्याण होगा” इत्यादि शुभग्रणों का धिचार उसके मन में स्थिर होता है ।

येही पांच यम कहाते हैं। इन का ग्रहण करना उपासकों को अवश्य चाहिये। परन्तु यमों का नियम सहकारी कारण हैं, जो कि उपासना का दूसरा अंग कहाता है और जिसका साधन करने से उपासक लोगों का अत्यन्त सहाय होता है। सो भी पांच प्रकार का पूर्व कहा जा चुका है, उसका फल क्रमशः आगे कहते हैं।

### नियमों के फल।

(१) शौचात्स्वाज्ञुगुप्तापररैसंसर्गः ॥ ? ॥

यो० पा० २ सू० ४० ( भ० प० १७३-१७४ )

(अर्थ) पूर्वोक्त दो प्रकार के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उसके सब शब्द वाहर भीतर से मलिन ही रहते हैं, तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सबके शरीर मल आदि से भरे हुवे हैं। इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच करके सदा अलग रहता है। इसका फल यह है कि —

(२) किंच सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियं जयात्मं  
दर्शनयोग्यत्वान्ति च ॥ [ यो० पा० २ सू० ४१ ]

(अर्थ) शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है ॥ २ ॥

(३) सन्तोपादजुत्तमसुखत्वाभः ॥ यो० पा० २ सू० ४२

(अर्थ) सन्तोष (दृष्टान्त्यतुष्टि), से जो सुख मिलता है वह सब से उत्तम है और उन्हीं को मोक्षसुख कहते हैं ॥ ३ ॥

(४) कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्पसः ॥ ४ ॥

यो० पा० २ सू० ४३ [ भ० प० १७३-१७४ ]

( अर्थ ) तपे से अशुद्धिक्षय होने पर शरीर और इन्द्रियाँ छढ़ होकर रोगरहित रहते हैं ॥ ४ ॥

(५) स्वाध्याय दिष्टेवतासम्प्रयोगः ॥ ५ ॥

यो० पा० २ सू० ४४

( अर्थ ) स्वाध्याय से इष्टेवता जो परमात्मा है उसके साथ संपूर्योग [साभा] होता है, फिर ईश्वर के अनुग्रह का सहाय अपने आत्मा को शुद्धि सत्त्वाचरण पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है ॥५॥

(६) समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ६। यो०पा०सू० ४५

[अर्थ] ईश्वरप्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है, जेसा कि द्वितीय वृत्तियाम में पूर्व फहा गया है ॥ ६ ॥

आगे उपरोक्त यम नियमों को सिद्ध करने की सरल युक्ति कहते हैं ॥

## यम नियमों के सिद्ध करने की सरल युक्ति ।

यम नियमों के साधन की सरल विधि यह है कि ऋद्धेव संत्वरज तम इन तीन गुणों का अहर्निश अर्थात् निरन्तर रात दिन के ज्ञान २ में ध्यान रखें । जब कभी रजो गुणों व तमों गुणों कर्मों के करने का संकल्प मन में उठे, तभी उन को जानें ले, तथा वहां का वही रोक भी दे । इस प्रकार अपने मन को ऐसे संकल्प विकल्पों से हड्डा कर सत्त्वगुण में स्थित कर दें । ऐसा अभ्यास करने से समाधि पर्यन्त सिद्ध हो जाते हैं । ध्यानयोग का यही प्रथम और मुख्य साधन है । आगे गुणवत्त्व

की व्याख्या मनुस्मृति के प्रमाण से की जाती है। ( देखो स-  
त्यार्थप्रकाश पृ० २५०—२५३ समुहास ह का अन्त )

## [ क ] गुणत्रय के लक्षण ।

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।

स तदा तदृगुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥१॥

सत्त्व रज तम इन तीन गुणों में से जो गुण जिस के देहमें  
अविकला से वर्तता है, वह गुण उस जीव को अपने सदृश  
कर लेता है ॥ १ ॥

सत्यं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागदोषो रजः स्मृतम् ।

एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं चपुः ॥ २ ॥

जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्त्व, जब अज्ञान हो तब तम  
और जब रागदोष में आत्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिये  
ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त हो कर  
रहते हैं ॥ २ ॥

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं क्षिद्विदात्मनि लक्षयेत् ।

प्रशान्तमिव शुद्धार्थं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ ३ ॥

उस का विवेक इस प्रकार करना चाहिये कि जब आत्मा  
में प्रसन्नता मन प्रसन्न, प्रशान्त के सदृश शुद्ध भान्युक्त बते,  
तब समझना कि सत्त्वगुण प्रधान और रजोगुण तथा तमो-  
गुण अप्रधान हैं ॥ ३ ॥

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।

तद्रजोप्रतिवर्धं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ ४ ॥

जब आत्मा और मन दुःख संयुक्त प्रसम्भव रहित, विषय में इधर उधर गमन आगमन में लगे, तब समझना कि रजो-गुण प्रधान और सत्त्वगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं ॥ ४ ॥

यत् स्यान्मोहसंयुक्तपञ्चतत्त्वं विषयात्मकम् ।

अप्रतर्क्षमविज्ञेयं तपस्तदुपषारयेत् ॥ ५ ॥

जब सोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फँसा हुआ आत्मा और मन हो, जब आनंद और मनमें कुछ विवेक न रहे विषयों में आसक्त और तर्क विंतर्क रहित जानने के योग्ये न हों तब निष्ठय समझना चाहिये कि इस समय मुझमें तमोगुण प्रधान और सत्त्वगुण तथा रजोगुण अप्रधान हैं ॥ ५ ॥

त्रयाणामपि चैतैर्पां गुणानां यः फलोदयः ।

अग्रयो यद्यो जघन्यरचतं प्रवक्ताभ्यशेषतः ॥६॥

अब इन तीनों गुणों के उच्चम, मध्यम और निम्नप्र फलोदय को पूर्णभाव से कहते हैं ॥ ६ ॥

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुण लक्षणम् ॥७॥

जो वेदों का अभ्यास, धर्मनिष्ठान, ज्ञान की चृच्छि, पचित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह, धर्मक्रिया और आत्माका चिन्तन होता है यही सत्त्वगुण का लक्षण है ॥ ७ ॥

आरम्भरुचिताऽर्थैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।

विषयोपसेवा चाजसं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ८ ॥

जब रजोगुण का उदय, सत्त्व और तमोगुण का अन्तर्भव होता है, तब आरम्भ में रुचिता, धैर्यत्वाग, शस्त्रकर्मों का

प्रहण निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति होती है, तभी समझना कि रजोगुण धधानता से मुक्त में वर्त्त रहा है । ८ ।

**लोभः स्वमोऽधृतिः क्रीर्यं नास्तिक्यं खिन्नवृत्तिता ।**

**पाचिप्युता प्रमादच्छ तामसं शुणलक्षणम् ॥ ९ ॥**

जब तमोगुण का उद्दय और सत्य, रज का अन्तर्भाव होता है तब धत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापों का मूल बड़ता है । अत्यन्त आकृत्य और निहा, धैर्य का नाश, क्षुरता का होना, नास्तिक्य ( धर्यात् देव और ईश्वर में अच्छा न रहना) मिन्न २ अन्तःकरण की वृत्ति और एकाग्रता का अभाव और किन्हीं व्यसनों में फलना तथा भूल जाना होते, तब तमोगुण का लक्षण दिवान् को जानने योग्य है ॥ ९ ॥

**यत्कर्म छृत्वा कुर्वेत्य करिष्यत्वैव लज्जते ।**

**तज्ज्ञेयं विदुपा सर्वं तामसं शुणलक्षणम् ॥ १० ॥**

तथा अब अपना आत्मा जिस कर्म को करके वा करता हुआ और करने की इच्छा से, लज्जा, शङ्ख और भय को प्राप्त होते, तब जानो कि मुक्त में तमोगुण प्रवृद्ध है ॥ १० ॥

**येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुण्यलाभ् ।**

**न च शोचत्यसम्पत्तो तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ११ ॥**

यिस कर्म से इस लोक में जीवात्मा पुण्यल ग्रसिद्धि चाहता है, दरिद्रता होने में भी चारण, भाट आदि को दान देना नहीं छोड़ता, तब समरूपा कि शुक्तसे रजोगुण प्रबल है ॥ ११ ॥

**तत्सर्वेणोच्छ्रिति शातुं यन्न लज्जते चाचरन् ।**

**येन तु पूज्यति चात्मास्य तत्सम्बुण्डलक्षणम् ॥ १२ ॥**

जब मनुष्य का आत्मा अब से जानने को अर्थात् विद्याद्वै गुणों को प्रहण करना चाहे, गुण प्रहण करता जाय, अच्छे

फर्मों में लज्जा न करे और जिस कर्म से आत्मा प्रसन्न होवे  
अर्थात् धर्माचरण में ही रुचि रहे, तब सभभना कि मुझ में  
सत्यगुण प्रवेत है ।

तगसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थं उच्यते ।

सत्यस्य लक्षणं धर्मः शैष्ठच्चमेपां यथोच्चरम् ॥१३॥

तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थसंग्रह की  
इच्छा और सत्यगुण का लक्षण धर्मसंवा करना है, परन्तु  
दमोगुण से रजोगुण और रजागुण से सत्यगुण धोष है ॥१३॥  
इस पिछले श्लोक में संक्षेप के सारांश कहा गया है । देखो  
मनुस्मृति अव्याय ॥ ५२ ॥

### (ख) गुणत्रय की संधियाँ ।

ये इन तीनों गुणों के स्थूल ( गोटे ) लक्षण हैं । प्रथम इन  
लक्षणों को ध्यानघोगदारा पहिचानना चाहिये ॥

जिस प्रकार दिन और रात्रि में सन्धिं लगती है, इस ही  
प्रकार उन गुणों में सन्धियां लगा करती हैं । जैसा कि उप-  
र्युक्त श्लोकों से विदित होता है कि ये तीनों गुण सब संसार-  
रस्थ पदार्थों ले व्याप होकर सदा रहते हैं । किन्तु एक  
गुण तो प्रधान रहता है, शेष दो गौणभाव में वर्तमान रहने  
वाले गुणों का अन्तर्भव होता है । प्रधानगुण कार्य करता है  
अर्थात् उस ही गुण के कार्यों में प्रवृत्त होता है । जिस  
का वर्तमान उसके देह में प्रधान से होता है और शेष दो वे  
गुण दवे रहते हैं । इस प्रकार कभी, सत्य, कभी रज और  
कभी तम शरीर में प्रधान होता रहता है । एक गुण की प्रधा-  
नताके पश्चात् जब दूसरे की प्रधानता होती रहती है इस उल्ट  
फेर को ही इन गुणों की सन्धियां जानो । यह चिपय सूक्तम्

है, अतः इनका पहिचान लेना भी सूझम नाम कठिन है। ध्यानयोग से इन सन्धियों के विवेक को भी सिद्ध करना चाहिये। जो गुण प्रधान होने वाला होता है तब प्रथम उस का प्रवल वेग होता है, जो उस से पूर्व प्रधान गुण के साथ सन्धि नाम संयोग 'करके उसको द्वा लेता है, तभी उस प्रधान हुये वेगवान् गुणसम्बन्धी संकल्प विकल्प मन और आत्मा के संयोग से उठते हैं। सुनुक्ष को उचित है कि उन्क सन्धि के लगते ही उसको पहिचानने और यदि तभोगुण वा रजोगुण इस सन्धि के समय प्रधान होता जान पड़े तो उस सन्धि को वहाँ का वहाँ रोक कर लगने न दे और सत्त्व को प्रधान करके उस के शाश्रय से सात्त्विकी कर्म में प्रवृत्त हो जाय। जिससे कि रज तम के संकल्प उठने भी न पावें। यदि सन्धिवान न होने के कारण अशुभ संकल्प उठ भी खड़ा हो तो उस संकल्प को ही शीघ्र जहाँ का वहाँ रोक ले, जिस से कि वह संकल्प रुक कर वाणी से तो प्रकाशित न हो। ऐसा अस्यास करने से सुनुक्ष का कल्याण होता है। इसका विधान वासनायाम में आगे भी किया जायगा ॥

इस प्रकार सन्धियों का परिचान हो जाने पर यम नियम का साधन पूर्णतया सिद्ध हो जाता है, जब तक इन गुणों की सन्धियाँ नाम अन्तर्भाव और प्रधानता का यथावत् ज्ञान नहीं होता, तब तक यम नियम का साधन पूर्णतया सिद्ध नहीं होता। गुणत्रय और उनकी सन्धियों का पहिचान लेना हो योग की प्रथम सीढ़ी है और यम नियम के अनुष्टुप्त को सिद्धि है कि जिसको सिद्ध कर लेवे से उपासनायोग का दीज बोया जाता है। इस प्रथम सीढ़ी का बान हुए विना योग कोइ सी सिद्ध नहीं कर सकता है ॥

## (ग) चित्त की पूँ अवस्था ।

आगे चित्त की अवस्थाओं का वर्णन करते हैं—

क्षिप्तम्यूढभिदक्षिप्तमेकाग्रन्निरुद्भमिति चित्तशूमयः ॥

व्यासदेव कहत यो० भा० सू० १

( अर्थ ) क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्भ, ये पांच चित्त की मूलभियां आर्थात् अवस्था हैं। इनमें से प्रथम की तीन योगदाधक हैं और शेष दो योगसाधक हैं। इनका म्यान भी ध्यानयोगादि समाधिपर्यन्त योगाङ्गों का भली भाँति सिद्ध होना कठिन है। आगे इन अवस्थाओं के लक्षण कहते हैं ॥

( १ ) क्षिप्त = जिस अवस्था में चित्त की वृच्छियां अनेक सांसारिक विषयों में गमन करती हैं, उसको “क्षिप्त-वस्था” कहते हैं। इस अवस्था में चित्त की वृच्छि किसी एक विषय पर स्थिर नहीं रहती आर्थात् प्रक विषय को छोड़, दूसरे तीसरे चौथे आदि अनेक विषयों की अद्वेष्ट करती और छोड़ती रहती है । १।

( २ ) मूढ़ = जिस में चित्त मूर्जवत् होजाय अर्थात् जब मनुष्य कृत्याकृत्य को भूल कर अचेत रहे। ऐसी अलावधान अवस्था को ‘मूढ़ावस्था’ जानते । २।

( ३ ) विक्षिप्त = जिस में चित्त व्याकुल धा॑ व्यप्र हो जाता है, उसको “चिक्षितावस्था” कहते हैं । ३।

( ४ ) एकाग्र = जब चित्त विषयान्तरों से अपनी वृच्छियों को हटाकर किसी एक विषय में सर्वथा लगावे, जैसे उपासकयोगी केवल परमात्मा के ध्यान और चिन्तन से अतिरिक्त अन्य सब विषयों से अपने मन को हटा

कर प्रणव के जाप में ही लगा देता है ऐसी ध्यानाधिष्ठित अवस्था को 'एकाग्रावस्था' कहते हैं । ६ ।

( ५ ) निरुद्धं = निरुद्धावस्था उसको कहते हैं कि जिसमें चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियाँ चेष्टारहित होकर मनुष्य को आपने आत्मा नाम जीवात्मा का ज्ञान प्राप्त होता है । किन्हीं आचार्यों का ऐसा सत भी है कि विरुद्धावस्था में आत्मज्ञान तथा परमात्मज्ञान दोनों ही ग्राप होते हैं, क्योंकि जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान होते ही तत्क्षण परमात्मा का भी यथार्थज्ञान हो जाता है, क्योंकि परमात्मा ज्ञान का भी ज्ञान है । इनमें से चार वृत्तियों में सत्यगुण, रजोगुण और तमोगुण का संसर्ग रहता है, परन्तु पांचवीं चिरुद्धावस्था में गुणों के केवल संस्कारमात्र रहते हैं । इनमें से शिश, मूढ़ और चिक्षिसावस्थाओं में योग नहीं होता, क्योंकि चित्त की वृत्तियाँ उन अवस्थाओं में सांसारिक विषयों में लगी रहती हैं । एकाग्रावस्था में जो योग होता है, उसको संप्रज्ञातयोग वा सम्प्रज्ञातसमाधि कहते हैं और जो निरुद्धावस्था में योग होता है, उसको असंप्रज्ञातयोग वा असम्प्रज्ञातसमाधि कहते हैं ।

### (६) चित्त के तीन स्वभाव ।

चित्त का तीन प्रकार का स्वभाव है । एक प्रख्या, दूसरा प्रवृत्ति और तीसरा स्थिति ।

( १ ) प्रख्या = दृष्टि वा श्रुति विषयों का विचार ।

( २ ) प्रवृत्ति = फिर उक्त विषयों के साथ सम्बन्ध करना ।

( ६ ) स्थिति = पश्चात् उनहीं विषयों में स्थिति करना,  
संलग्न हो जाना वा फँस जाना ।

प्रत्या अर्थात् “विषयविचार” सत्त्व, रज, तम गुणों के संसर्ग से तीन प्रकार का है । अथाः—

( १ ) जब चित्त अधिक सत्त्वगुण से युक्त होता है, तब केवल ईश्वर का चिन्तन करना है ॥

( २ ) जब वही एक चित्त अधिक तमोगुणयुक्त होता है, तब अर्धम, अष्टान और विषयशक्ति का चिन्तन करता है ।

( ३ ) और जब रजोगुण में चित्त अधिक हो जाता है, तब धर्म और वैराग्य का चिन्तन करता है ।

जो ज्ञानशक्ति परिणाम से रहित और शुद्ध होती है वह सत्त्वगुणधान होती है । अर्थात् उसमें तमोगुण और रजोगुण का अन्तर्भव हो जाता है, परन्तु जब चित्त इस वृत्ति से भी उपरत ( विरक्त ) हो जाता है, तब इसका भी त्याग कर केवल शुद्ध सत्त्वगुण के संस्कार के आश्रय से रहता है, उसी संस्कार शिष्टदशा को निर्विकल्पसमाधि वा असम्प्रक्षात्-समाधि कहते हैं ।

असम्प्रक्षात् समाधि का अर्थ यह है कि जिस में ध्येय ( ध्यान करने योग्य ईश्वर ) के अतिरिक्त किसी विषय का भाग न हो ।

आगे योग के तृतीय अंग आसन का कथन है ।

## (३) आसन की विधि ।

६५तत्र स्थिरमुखमासनम् ।

यो० पा० २ ल० ४६ ( भ० प० १७५-६७६ )

६८( अर्थ ) जितमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो डस को आसन करते हैं । ध्रथवा जैसी रुचि हो, वैसा आसन करे, अर्यान् जित आसन से अधिक देर तक सुख पूर्वक सुखर मिथ्यत वैठ सके, उस ही आसन का अभ्यास करे । सिद्धासन यव आसनों में सरल और श्रेष्ठ है । आसन ध्यानयोग का नीसरा अंग है ।

आरो भगवदीना के अनुसार आसन की विधि कहते हैं ॥

१ योगी युजोत सततमात्मानं इसि स्थितः ।

२ एकाकी यत्चित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १ ॥

३ शून्ये देशे प्रतिपृष्ठ्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोरत्तम् । २ ।

तत्रैकाग्रंपनः कृत्वा यत्चितेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्याऽसने युज्याद्योगमात्मविशुद्धये । ३ ।

६६टिटपण—आसन के सुस्थिर होने से जब शीतोष्ण अधिक वाधा नहीं करते, अंगों का कम्पन नहीं होता, तभी चित जीवन्तियों का निरोध, यन इन्द्रिय और आत्मा की स्थिति परमेश्वर में होकर समाधियोग प्राप्त होता है । आसन युक्तुदा होने से नूतन योगी अधिक देर तक वैठने का अभ्यास कर सकता है, अतएव शरतकाल में ऊपर से ऊर्णासन इकान्तकाल तथा अन्य ग्रुहुओं में कुछ वस्त्र विद्धा कर सुख से बैठे ॥

३ सर्वं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।

सम्प्रेद्य नासिकाग्रं स्त्रं दिशश्चानवलोयन् । ४ ।

( भ० गी० अ० ६ ख्लोक० १०-११-१२-१३ ) ।

१ पक्षान्त गुप्त इथान में आकेला वैठा हुआ, चित्त और आत्मा को वश में करने वाला और परमात्मा के चिन्तवन से अतिरिक्त अन्य विषय वासनाओं से रहित तथा अन्य पदार्थों में भ्रमता रहित योगी निरन्तर एक रस अपने आत्मा को चमाहित करके परमात्मा के ध्यान में दुक करे ॥ १ ॥

२ ऐसे इथान में कि जहाँ की भूमि, जल, धारु शुद्ध हो और जो न तो वहुत ऊँचा और न वहुन नीचा ही; वह नीचे कुशा का आसन, उस के ऊपर लुगलाला विछा कर उस पर एकाग्र भन से चित्त और हन्दियों की चुतियों का निरोध कर के निश्चल दृढ़ आसन पूर्वक स्थयं वैठ कर अपने आत्मा की शुद्धि के लिये ध्यान योग द्वारा परमात्मा के चिन्तवन में तत्पर होवे ॥ २-३ ॥

३ और अ मे धड़, शिर और गर्दनको अचल और सीधा भारण किये हुए अपनी नासिका के अग्रभाग में ध्यान ठहरा कर स्थिर हो कर बैठे और हधर उधर किसी विशा में दृष्टि न करे ॥ ४ ॥

## दृढ़ आसन का फल

४ ततो दृद्धानभिघातः ॥ यो० पा० ६ ख्ल ४७

\* इस को महाराज भोज तथा स्वामी दयानन्दे सरस्वती जी ने पृथक सूत्र माना है, परन्तु व्यासदेव जो ने नहीं माना किन्तु अगले सूत्र के भाष्य में मिला दिया है।

( अर्थ ) जब आसन बढ़ होता है, तब उपाख्यना करने में कुछ परिश्रम पड़ना नहीं पड़ता और सरदी गर्भी अधिक बाधा करती है ।

### ( ४ ) प्राणायाम क्या है ।

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिदिच्छेदः प्राणायामः ।

यौ० पा० २ सू० ४८ ( भू० पृ० १७५—१७३ )

(अर्थ) आसन हिथर होनेके पश्चात् श्वास और प्रश्वास दोनों की गति के अवरोध को “प्राणायाम,, कहते हैं ॥

अर्थात्—जो बायु बाहर से भीतर को आता है, उस को श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है, उस को प्रश्वास कहते हैं । उन दोनों को जाने जानेके विचार से दोके नासिका का हाथ से कमी न पकड़े, किन्तु ज्ञान से ही उन के रोकने को प्राणायाम कहते हैं ॥

अब योगविद्या का प्रधान विषय जो प्राणायाम है, जिसे आगेकी धारणा, ध्यान, समाधि, और संयम नामक संपूर्ण मुख्य क्रियाएं सिद्ध हो जाने पर साक्षात् परमात्मा के साथ योग प्राप्त होता है । तथा जो ये मुक्ति में निःश्रेयस और आनन्द भोगता है, उस की सम्पूर्ण विधि कहेंगे । प्राणायामादि क्रियाएं इसी कारण योग के अन्तरङ्ग साधन हैं और प्राणायाम अन्तरङ्ग साधनों फी प्रथम श्रेणी वा मूल हैं ।

प्राणायाम करने से पूर्व अगले वेदमन्त्र द्वारा ईश्वर से प्रार्थना करनी उचित है ॥

### प्राणायाम विषयक प्रार्थना ।

ओं—प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे

चित्तं च पञ्चाधीतं च मे वाक् च मे पतश्च मे नहुश्च मे  
श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे वलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताय् ॥ यजु०

अ० १८ म० २

( अर्थ ) मे+ग्राणः+च मेरा+हृदयस्य जीवन मन+ओर  
क्षण देश में रहने वाला पवन ( पाण वायु तथा उदानवायु )  
मै+शपानः+च मेरा+नाभि से नीचे को जाने और नाभि प्रे  
ठहरने वाला पवन ( अपानवायु ) मे+ज्यानः च मेरे शरीर  
की सन्ति यों में ध्यास+पौर धनखय जो शरीर के उधिर  
आदि को बढ़ाना है, वह पवन ( व्यानवायु और धनखय  
वायु ) मे+श्रुः+च=मेरा नाम आदि प्राण का अंद+ओर  
अन्य पवन मै+चित्त+च=मेरी स्मृति आर्थित सुधि रहनी+  
और दुर्दि मे+आधीतं+च मेरा अच्छे प्रकार किया हुआ  
निश्चितशान+और रक्षा किया हुआ विषय मे+चाक+च=  
मेरी वाणी+और सुनना मे+मनः—च मेरी संकल्प विकल्प  
रूप आननःकरणकी वृत्ति+ओर आहंकार वृत्ति मे+चक्षः—च  
मेरा चक्ष, जिस से कि मैं देखना हूँ, वह नेत्र+और प्रत्यक्ष  
प्रमाण मे+श्रोत्रं+च मेराकान, जिस से कि मैं सुनना हूँ+  
और प्रत्येक विषय पर देव का प्रमाण मे+दक्षः च=मेरी  
चतुराई+और तत्काल भाव होना मे+वलं+च=‘तथा, मेरा  
वल+और पराक्रम—“ये सब,, यज्ञेन कल्पन्ताम्=धर्म के  
अनुष्ठान मे+कुर्मर्थ हो ॥

( भावार्थ ) मनुष्य लोग साधनों के सहित अपने प्राण  
आदि पदार्थों को धर्म के आचरण में नयुक्त करे ॥

आगे चार प्रकारके प्राणायाम का विधान उधिक विस्तौर  
पूर्वक स्पष्ट करके लिहते हैं, फर्योंकि यही मुख्य किया है; जिस

की परिपक्व दशा (परिणाम) ही आगे आने वाली सच कियार्देह है ॥

## अथ चतुर्विधप्राणायामं त्याख्यात्यासः

प्राणायाम चार प्रकार का होता है । उस का सविस्तार विचान । अनले दो सूत्रों में किया है । प्रथम सूत्र ४४ में तीन प्राणायामों की और दूसरे सूत्र ५० में चौथे प्राणायाम की विधि कही है । योगाभ्यासकी सब किया ध्यान से हो की जाती है, इस बात का सदा ध्यान रखना उचित है ॥

सतु वाञ्छाभ्यन्तरस्त्वभृत्तिदेशका-

लसंख्यामिः परिष्टुदीर्थसूत्तमः ॥

चाण्डाभ्यन्तर विषयः क्षेपी चतुर्थः ।

यो० पा० २ सू० ४४ ५०

(अर्थ) यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है (१) वात्त विषय वा प्रथम प्राणायाम, (२) आभ्यन्तर विषय वा द्वितीय प्राणायाम, (३) स्तम्भवृत्ति वा तृतीय प्राणायाम और ४ धाण्डाभ्यन्तर विषयक्षेपी वा चतुर्थ प्राणायाम, जो बाहर भी तर गोकर्ण से होता है ॥

इन चारों का अनुष्टान इस लिये है कि वित्त निर्मल हो कर उपासना में स्थिर रहे ।

ये चारों प्राणायाम किसी एक देश में संख्या द्वारा काल का नियम करने के कारण दीर्घ और सूक्ष्म दो दो प्रकार के हैं तथा देश काल और संख्या इन तीन उपलक्षणों करके त्रिविध भी कहे जाते हैं यथा देशोपलक्षित प्राणायाम (१) कालोपलक्षित प्राणायाम (२) और संख्योपलक्षित प्राणायाम ३ अर्थात् प्राणवायु को, नासिकादेश से बाहर निकाल कर

प्रथम प्राणायाम, अपानवायु को बाहर से भीतर लाकर भासि देश में भर कर दूसरा प्राणायाम, समानवायु को नाभि और हृदय के मध्यवर्ती अवकाश में स्थग्भन करके तीसरा प्राणायाम और प्राण अपान को नासिका में ठहरा कर चौथा प्राणायाम किया जाता है। ऐसे आरम्भ में थोड़ी देर तक ही किया जा सकता है, अतः सूज्ज्वल प्राणायाम कहाता है। अभ्यास लगाने से अधिक देर तक जब किया जाय वह दीर्घ प्राणायाम कहाता है। चारों प्राणायाम कहाता है। चारों प्राणायामों में इन तीन प्राणों से ही काम लिया जाता है॥

प्रत्येक प्राणायाम देशोपलक्षित इस लिये कहा जाता है, कि वह अपने॒ नियत देश में ही किया जाता है तथा प्रत्येक को फालोपलक्षित इस कारण कहते हैं कि इस का अभ्यास एक नियत फाल तक किया जाता है और संख्योपलक्षित प्राणायाम इस लिये कहते हैं कि प्रणायाम करते समय "ओम्", के नाप की संख्या की जाती है और इस संख्या द्वारा ही फाल का प्रभाग भी किया जाता है॥

स्मरण रहे कि द्वितीय तृतीय और चतुर्थ प्राणायाम तथा उन की धारणा के लिये केवल एकर पूर्वोत्तरस्थान ही नियत है किन्तु पृथम प्राणायाम की धारणा अनेक स्थानों में फी जाती है। यथा—हृदय, कण्ठकूप जिह्वामूल जिह्वाका मध्य जिह्वाग्र नासिकाग्र त्रिकुटी (भूमध्य) ब्रह्माएड दोनों होठों से लगे दाँतों के बीच में जहाँ जिह्वा लगाने से तकार योला जाता है वहाँ जिह्वा लगा कर। पूर्णवायु हृदय में ठहरता है अतः हृदय से ऊपर के देशों में ही पृथम प्राणायाम की धारणा हो। खफती हैं अर्थात् नाभि आदि। हृदय से नीचे के स्थानों में नहीं हो सकती॥

ध्यान एकस्तो कि प्रथम ब्रह्मारण में, द्वितीय सूमध्य में और तृतीय नासिकाग्र में हन तीन सुख्य स्थानों में क्रमशः धारणा किये जिन प्रथम प्राणायाम सिद्ध नहीं हो सकता। अन्य देशों में जो प्रथम प्राणायाम की धारणा की जाती है, वह केवल ध्यान ठहराने का अर्थात् चित्त की पक्काओता सम्पादन करने का अभ्यास करने से हेतु से की जाती है, परन्तु उससे प्राणायाम सिद्ध नहीं होता। प्रथम प्राणायाम सिद्ध तभी होता है, जब कि पूर्वोक्त क्रम से प्रथम और द्वितीय स्थानों की धारणा पक्की हो जाने पर नासिका के अग्रभाग चाली तीसरी धारणा परिपक्व होने के पश्चात् जब प्राणवायु का बाहर निकलना चिदित होने लगता है। अनेक स्थानों में धारणा करने से प्राणयोगी के बश में भी हो जाते हैं अर्थात् योगी जर्द चाहता है वहां प्राण द्वारा ले जाकर ठहरा सकता है। प्राण बश में होने से भन भी पक्काओत होता है ॥

### चतुर्विधि प्राणायाम की संक्षिप्त साधान्य विधि ॥

( १ ) “धात्यविपद्य” नामक “प्रथम प्राणायाम” की विधि यह है कि जब भीतर से बाहरको श्वास निकले, तब उसको बाहर ही रोक दे ॥ १ ॥

( २ ) “आभ्यन्तर विषय” नामक “द्वितीय प्राणायाम” की विधि यह है कि जब बाहर से श्वास भीतर को आवे, तब उसको जितना रोक सके उतना भीतर ही रोकदे ॥ २ ॥

( ३ ) “स्तम्भवृत्ति” नामक “तृतीय प्राणायाम” एवजे में न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर से आय किन्तु जितनी दूर सुख से हो सके, उसको जहां का तहां ज्यों का ल्यों पक्क दम रोकदे ॥ ३ ॥

( ध ) “चाह्वाभ्यन्तरविषयाक्षेपी” नामक “चतुर्थं प्राणायाम्” की विधि यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे तब बाहर ही कुछ कुछ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर आवे तब उस को भीतर ही थोड़ा थोड़ा रोकता रहे ॥ ८ ॥

आगे अलपूर्वक प्रत्येक प्राणायाम की विशेषविधि का विस्तार से स्पष्ट र वर्णन करते हैं ॥

## प्रथम प्राणायाम की विस्तृत विशेष की विधि ।

आरम्भ में प्रथम प्राणायाम की साधनरूप पूर्वोक्त तीन देश की धारणा पक्की करनी चाहती है । अर्थात् प्रथम ब्रह्म-एड में, फिर त्रिकुटी ( भूमध्यदेश ) में, पश्चात् नासिका के अग्रभाग में । जब वह तीसरी धारणा परिएकव हो जाती है, तब नासिकाग्र से ध्यान ठहराने के साथ ही प्राणवायु स्वतः बलपूर्वक बाहर निकलने लगता है तभी जानो कि प्रथम प्राणायाम सिद्ध हो गया । उक्त तीनों देशों में एक ही रीति से धारणा की जाती है, सो विधि नीचे लिखी है । सो दो प्रकार की है । ( १ ) आरम्भ की युक्ति को धारणा की विधि जानो और ( २ ) अन्तिम युक्ति को प्राणायाम की विधि जानो ।

## प्रथम प्राणायाम की आदिम विधि ।

जिसको प्रथम प्राणायाम की धारणा की विधि भी कहते हैं । आसन की पूर्वोक्त विधि के अनुसार प्रथम स्थिति से बैठ कर जिहा के अग्रभाग को उलटकर तालु में लगादें, फिर हृदय में ठहरने वाले प्राणवायु का ध्यान द्वारा ऊपर की ओर

आकर्षण केरके ब्रह्मारड में स्थापित करे और सूलनाड़ी को ऊपर खींच रखें। फिर उसही देश (ब्रह्मारड) में चित्त की समूर्य वृत्तियाँ तथा पञ्चजानेन्द्रियाँ की दिव्य शक्तियाँ को भी लगादे और मन ही मन में प्रणव (ओ३म् महामन्त्र) का ऊपर भी घटी (ब्रह्मारड में) शीघ्र २ एक रस करने लगे। और अपने आत्मा को सर्वथा इस मन्त्र के अर्थसहित जप में तत्पर करदे। इस प्रकार प्रातः लायं दोनों सन्धिवेलाओं में नियमपूर्वक एक एक बंदे भर निरन्तर अभ्यास करते २ जब प्राणवायु की उप्पता तो त्वचा से और औं शब्द शब्दयेन्द्रिय से उसी (ब्रह्मारड) देश में होने लगे, तब न्यून से न्यून तीन मासपर्यन्त अभ्यास करके ब्रह्मारड देश वाली प्रथम धारण पक्की करले। फिर उक्त दीति से झूमध्य में दूसरी धारण और नासिकाश में तीसरी धारणा भी परिपक्व करले। जब नासिकाश में भी शब्दस्पर्श द्वारा प्राणवायु अच्छे प्रकार विदित होने लगेगा, तब प्राणवायु नासिका के बाहर निकलने लगता है, परन्तु बाहर ठहरता कम है और भी घबराने लगता है, तब बाहर अधिक ठहराने के लिये नीचे लिखी दीति से अभ्यास करे।

## प्रथम प्राणायाम की अन्तिम विधि ।

“प्रच्छुर्देनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य” इस पूर्वोक्त वीगसूज के प्रमाण से जैसे अत्यन्त वेग से बमन होकर अन्त लता बाहर निकल जाता है, उसही प्रकार प्राणवायु को बोल से बाहर पौक्क कर बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे और सूलनाड़ी को ऊपर खींच रहे। जब प्राण के बाहर निकलने से घबराहट होने पर सहन न हो सके, तब उसे धीरे धीरे भीतर लेकर

विष्णुटी और ब्रह्माएड में क्रमसे थोड़ी थोड़ी देर छहरता हुआ हृदयदेश में ले जाय, फिर घासर निकाले और भीतर से जाय अर्थात् जितना सामर्थ्य और इच्छा हो, उतनी देर तक घास-घार इसही प्रकार अभ्यास करे। इस विधि से अभ्यास रुते रुते प्राण घासर अधिक ठहरने लग जाता है। निरन्तर नित्य प्रति नियमपूर्वक शतन्द्रता से पुरुषार्थपर्वक अभ्यास करने से द्वाय योनी के वश में हो जाते हैं।

प्रथम प्राणायाम की आदिम विधि सर्वत्र प्रचान है। अर्थात् सर्पर्णी योगाभ्यास की क्रियाओं में ( प्राणायामादि समाध्यन्त ) यह विधि एक ही रीति से की जाती है पर्याकि जिन जिन देशों में धारणा की जाती है उन देशों में ही ध्यान और समाधि भी होती है, परन्तु इतना भेद है कि जो जो देश जिस प्राण का है, वहां बदां उस द प्राण से ही काम लिदा जा सकता है। दूसरे इस बात का भी ध्यान रहे कि जिहा को उलट कर तालु में लगाना जिससे कि प्राण सीधा ऊपर ही को जाय तथा मूलनाड़ी को ऊपर खींच रखना, ये दो क्रिया केवल प्रथम प्राणायाम से ही सम्बन्ध रखती हैं, अन्य प्राणायामों में इनका कुछ प्राम नहीं। अत-पश्च दुबारा स्पष्ट करके फिर वही विधि इस निमित्त लिखी जाती है कि जिससे कोई सन्देह न रहे।

### प्रथम प्राणायाम की सर्पर्णी वित्तून विधि(पुनरुत्क)

( १ ) प्रथम आसन दृढ़ करे, फिर—

( २ ) जिहा को उलटकर तालु में लगावे और जिस देश में धारणा करनी हो, वहां अगली सब क्रिया करे।

( ३ ) किसी एक देश में ध्यान को ठहरावे।

- ( ४ ) उसी देश में व्यानद्वारा प्राणवायु को लेजाकर ठहरा है ।
- ( ५ ) नृत्यावी को कपर की ओर आकर्षित करे ।
- ( ६ ) उसी देश में चित्त की वृत्तियों और सब छानेन्द्रियों की उक्तियों को व्यानद्वारा ठहरा कर परमेश्वर की व्यापत्ति के अतिरिक्त अन्य किसी विषय में न जाने दे ।
- ( ७ ) प्रथम का भानुचिक ( बिंदु ) काष हीव्र एकलस करे ।
- ( ८ ) प्रथम के बप में संख्या करके काले का अनुसार करे और अम्बालद्वारा कांतदीवृद्धि इन्होंने प्रतिविन करे ।
- ( ९ ) प्रथम बायु को बाहर निकालने के बाय हृदय देश से उड़ाकर, प्रथम दूर्घा ( ब्रह्मारुड ) में, पिर छुट्टी में, पिर चालाप्र में स्थापित कर २ के एक २ वारेखा का अन्दराल करे ।
- ( १० ) पिर वारेखा व्यु को नींवर हे इने समय उत्तरी कम से अर्धान् चालाप्र से भृकुटी में, भृकुटी से ब्रह्मारुड में और ब्रह्मारुड से हृदय में एक २ स्थान में थोड़ी २ दूर उदर २ कर हृदय में स्थापित करदे ।
- ( ११ ) और अपने आनन्द को परमात्मा में लगा हे ।  
इस विधि में व्यारह छंग हैं, इन सबका प्रयोजन तीने लिंग जाना है—

अधिक देश, अस्त्रगण के बहाँ उस वैराजन्मवी वायु से ही काम होना चाहिये ।

अद्वैत २ सेस्ता चिन्ह है वे हिंदू देवता उन शारीरों में ही उपदेशी हैं कि जो प्रथम वारेखा वा लिंग करने के हृदय की जाती हैं ।

## प्रथम प्राणायाम के समतुल उद्यारहों अँगों का क्रमशः प्रयोजन ।

(१) आसन का प्रयोजन = आसन विषयके विपर्यासमें देखो।

(२) जिहा को तालुमें लगाने के दो प्रयोजन हैं । अर्थात्-

(१.) सात छिद्रों में होकर बाहर निकलने के स्वभाव चाले हृदय देशस्थ प्राणवायु का शरणदेशस्थ मार्ग जिहा द्वारा दोक देने से प्राण चायु सीधा ऊपर को ब्रह्मांड में ही सरलता से जाता है और नासिका के अतिरिक्त अन्य इन्द्रिय (छिद्र) द्वारा बाहर नहीं निकलने पाता, क्योंकि इन्द्रियों की शक्तियां मन के साथ ही साथ ऊपर को चली जाती हैं ।

(२) दूसरा यह भी प्रयोजन है कि यदि जिहा इस प्रकार टिकाई न जाय तो हिलती रहे वा औं शब्द का उच्चारण ही करने लगे, तो जिहा की चेष्टा होती रहने से मन का निरोध, ध्यान धारणा वा समाधि कुछ भी सिद्ध न हो सके ।

उक दो प्रयोजनों से जिहा के अधिभाग को उलटेकर तालु में लगा देना अति उचित है कि जिससे धारणा करने के स्थान में ध्यान उहर जाय ।

ध्यान एक प्रकार की विद्युत् ( विजुली ) है, जिसके और कर्षण से मन और मनके साथ उसकी प्रजारूप सब इन्द्रियों की शक्तियां स्वतः वहीं चली जाती हैं कि जहां ध्यान उहराया जाता है । अतः हठयोग सम्बन्धी घण्टुखी मुद्रा करके छिद्रों के रोकने की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती । सूर्य का जो सम्बन्ध किरणों से है, वही मन का इन्द्रियों के साथ है अतः जैसे किरणें सूर्य के साथ ही साथ रहती हैं, इसी प्रकार जहां मन जाता है वहां इन्द्रियां उसके साथ ही चली जाती हैं ।

इस प्रथम ग्राण्याम में वाणी, ओत्र और त्वचा; इन तीन उन्द्रियों की शक्तियाँ अपने २ विषयों का वोत्र (ज्ञान) करती हैं और वाणी को शक्ति प्रदानता से मन के साथ संयुक्त होती है।

## ईश्वरप्रणिधान अर्थात् समर्पण (भक्ति-योग) की पूर्ण विधि ।

अपने मन इन्द्रिय और आत्मा के संयोग से परमेश्वर की उपासना ध्यानयोग द्वारा करने में कठोपनिषद् का प्रमाण नीचे लिखा जाता है। दूसरे धृतियाम की विधि यही है।

यच्छेद्वादृष्ट्यनसी प्राङ्गस्तवच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्चान्त आत्मनि॥  
कठ० उ० अ० १ व० ३ म० १३ ( स० प्र० पू० १२६-१२७ )

( अर्थ ) त्रुद्धिमान् संन्यासी (वा योगी) वाणी और मन को अधर्म से रोके, उनको ज्ञान और आत्मा में लगावे उस ज्ञानस्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप परमात्मा के आधार में स्थिर करे। अब इस ही विषय को अर्थव्येद के प्रमाण से कहते हैं। यही द्वितीय धृतियाम की विस्तृत विशेष विधि है और ग्राण्याम में अति उपयोगी है।

आष्टाविशानि शिवानि शङ्मानि सह योगं भजन्तु मैं ।  
योगं प्रपद्ये क्षेमञ्च क्षेमं प्रपद्ये योगञ्च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु॥

अपर्व का० १६ अनु० १ व० ८ म० २ ( भ० पू० १६० )

( अर्थ ) हे परमैश्वर्यमुक्त महलमय परमेश्वर ! आप की कृपा से हम लागों को ध्यानयोगयुक्त उपासनायोग प्राप्त हो

तथा उससे हमको सुख भी मिले । इसी प्रकार आपकी कृपा से दश इन्द्रियें दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल, इन आद्भूत सङ्गतिकारक तत्त्वों से बने हमारे शरीर ( अर्थात् हमारा सर्वस्व ); भद्र = कर्णयां-मय कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होकर उपासनायोग का सदा सेवन करें, तथा हम भी उस योग के द्वारा रक्षा की और रक्षा से योग को प्राप्त हुआ चाहते हैं, इस लिये हम लीग रात्रि दिन आप को नमस्कार करते हैं । इति समर्पणम् ॥

इस मन्त्र से-प्रार्थना करके योगाभ्यास में सदा प्रवृत्त होना चाहिये क्योंकि ईश्वर की सहायता विना योग सिद्ध नहीं होता अर्थात् उक्त आद्भूतियों शम्भों के सहयोग से ही उपासना योग सिद्ध होता है ॥

[१] वाणी जब उलट कर स्थिर करदी जाती है, तब उस की शक्ति मन में स्वतः लग हो जाती है ।

( २ ) व्याज वायु के साथ मन का संयोग न होने देने से मन की शक्ति बुद्धि में लग हो जानी है । सम्प्राप्तसमाधि प्राप्त होने पर ।

( ३ ) जब प्रकृति का आवार छोड़ कर जीव अपने स्वरूप में स्थित होता है, तब बुद्धि की शक्ति जीव में लग हो जाती है । असम्प्राप्त समाधि प्राप्त होने पर ॥

( ४ ) जब जीवात्मा को निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है, तब वह स्वयं परमात्मा के आधारमें हो जाता है । उस द्वी की निर्विकल्प ( निर्व॑ज ) समाधि भी कहते हैं ॥

इस मन्त्र से जो अपना सर्वस्व परमेश्वर का समर्पण कर के उपासनायोग के सिद्ध होजाने के अर्थ प्रार्थना की गई, उस का अभिप्राय यहो है कि जब हम लोग चस्तुतः प्रेमभक्ति अद्वा और विश्वास, पूर्वक अपना सर्वस्व अधारंत् लापने शरीर के

अट्टुर्इसों तत्त्व ईश्वर की उपासना में ही समर्पित कर दें, तब ही हमारा कल्याण होगा । सारांश यह है कि इन्द्रियादि तत्वों को अपनी॒ कर्म चेष्टाओं तथा विषयों से पृथक् करके जब जीवात्मा अपने उक्त अट्टुर्इस तत्त्वयुक्त सर्वस्व के साथ ध्यान योग द्वारा उपासना योग-में प्रवृत्त होता है, तो मानों हमारे शरीरों के समस्त अंग परमात्मा के ही विन्तन में तत्पर हो गये । मन की एकाग्रता तथा निरुद्धावस्था में ऐसा ही होता है । यथा—

इदं निश्चलासन से सुस्थिर होकर तथा जिहा को तालु में लगा कर सब कर्मेन्द्रियों की चेष्टाओं का निरोध हो जाता है मानो वे सब इन्द्रियां जीवात्मा की आक्षासे उस के हितकारी उपासना योग को सिद्धि और मन की एकाग्रता और निर्विघ्नता सम्पादन करने के हेतु अपने जिन धन्धे छोड़ २ अपने राजा कों सेवा में एक वित्त से निमग्न हैं । इस प्रकार पांचों कर्मेन्द्रियां धारणा के देश में मन के साथ रहती है ॥

पांच ज्ञानेन्द्रियां भी मन के आचीन हैं । वे सब मन की एकाग्रता और निरुद्धावस्थाओं में अपनी २ वाह्य चेष्टाएं छोड़ देती हैं । परन्तु उन की दिव्य शक्तियां भीतर ही भीतर उस स्थान में कि जहाँ ध्यान द्वारा मनकी स्थिति होती है, अपनी अपनी सहायता करती है ॥

(क) यथा—वाणी को तालु में लगा लेने से उसकी वाणि चेष्टा रुक जाती है, परन्तु धारणा के देश में मन के सहयोग से उस की दिव्य शक्ति 'ओम्' मन्त्र का जाप करने लगती है । अतः यह वाणी की शक्ति की विद्यमानता का प्रत्यक्ष प्रमाण है उस समय जिज्ञासु को उचित है कि वहाँ ध्यान और मन को एकत्र रखके । यदि जिह्वा में ध्यान और उस के साथ मन

आजायगा तो वाणी हिलने वा औंम का उच्चारण भी करने लगे तो आश्चर्य नहीं ॥

( ख ) ध्यानरूपी विद्युतसे सब ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान होता है सो चलु बाता ज्ञान भी ध्यान के साथ धारणा के स्थान में चला जाता है । वहाँ ध्यान से जो ज्ञान होता है वह चलुका ही कार्यरूप ज्ञान है ।

( ग ) त्वचा से प्रत्यक्ष उप्पता का स्पर्श होता है ।

( घ ) औंम् पदके जाप का श्रवणरूप शब्द ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है ।

- ( ङ ) जिहा की ज्ञान शक्ति का काम रसों का आस्वादन करना है, मो मन की एकाग्र वा निरुद्धाचरस्था में जब जीवा-समा अपने इष्ट देव सचिवदानन्द स्वरूप परमात्मा के चिन्त-धन में तदाकार वृत्ति से ध्यानावस्थित होकर तत्पर और तन्मय होता है, तब उस को एक प्रकार के अकथनीय आनन्द का अनुभव वा आस्वादन होता ही है ।

अतः चार ज्ञानेन्द्रियोंका तो प्रत्यक्ष ज्ञान धारणाके स्थान में होता । ब्राह्मेन्द्रियों का वहाँ कुछ काम नहीं, परन्तु स्वभाव से सब इन्द्रियाँ मन के साथ और मन ध्यान के साथ रहता है, इस लिये ब्राह्मेन्द्रिय भी वहाँ रहती हैं ॥

## चमकदर्शन ( रोशनी ) का निषेध

चलु इन्द्रिय के ज्ञान का कथन ऊपर किया गया है, सो यह कहापि न समझना चाहिये कि किसी प्रकार का उज्जेला ( रोशनी ) तारे पटवोजने ( जुगुन् आदि का दर्शन वा चमक दिखाई देती होगी । यह बात ब्रह्मविद्या से आनभिर्ज लोगोंकी अविद्या जन्म, प्रमादयुक्त, मिथ्याभ्रमात्मक विश्वास जनक, कपोलकल्पित कल्पनामात्र है । ब्रह्मविद्या वेदोक्त सत्यविद्या है

प्रतः ब्रह्मविद्या विधायक वेदादि शास्त्रों में जहाँ २ ज्ञान के प्र-  
काश का वर्णन है, वहाँ २ नेत्र से दीखते वाली चमक वा रो-  
दनी नहीं है, प्रत्युत जीवात्माका वह स्वभाविक गुण हैं, जि-  
से ज्ञानस्वरूप परमेश्वर पहचाना जाता है। अर्थात् परमे-  
श्वर की प्राप्ति का युद्ध साधन ज्ञान है ॥

ऊपर दश इन्द्रियों के काम कहे, आगे दश प्राणी के नाम  
गिनाये जाते हैं ।

दश प्राण वे हैं कि — ( १ ) प्राण, ( २ ) अपान, ( ३ ) स-  
मान, ( ४ ) उद्धान, ( ५ ) व्यान, ( ६ ) नाग, ( ७ ) कूर्म, ( ८ )  
कृष्ण ( ९ ) देवदत्त और ( १० ) धनञ्जय ॥

प्यारहवां प्राण सूत्रात्मा नामक एक और मी.है कि जिस  
का इस विषय में उक्त वेदोक्त मन्त्र से कथन नहीं किया गया

इन में से प्राणवायु सब से प्रधान है। अन्य सब प्राण  
इसके आधीन हैं। अर्थात् जब तक देह में प्राणवायु रहता है,  
तब तक अन्य प्राण भी अपने २ विधित कर्मों को करते रहते हैं। ये तद्रूप प्राण उपासनायोग में नियुक्त जीवात्मा के शरीर  
को रक्षा करते हैं, पूर्वजन्मानुसार प्राण अपान और समान  
इनसे चार प्राणायाम भी किये जाते हैं। परन्तु अन्य प्राणों  
का प्राणायामी में हुच्छ काम नहीं लिया जाता। प्राणायाम  
करने के समय सब प्राणी की गति खूब हो जाती है ॥

अब तक वेदमन्त्रोक्त १० इन्द्रिय, १० प्राण, इन २०  
कल्याणकारक तत्त्वों का कथन हुआ। शरीर के शेष आठ  
शर्मों का कथन आगे करने हैं। वे ये हैं —

( १ ) मन, ( २ ) बुद्धि, ( ३ ) चित्त, ( ४ ) अहंकार, ( ५ )  
विद्या, ( ६ ) स्वभाव, ( ७ ) शरीर और ( ८ ) वल ।

( १ ) मन से परमात्मा के परम उत्कृष्ट नाम ओम् का  
अर्थत्तहित मनन (जप) किया जाता है ।

( १ ) व्युद्धि स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करती हुई तथा उत्तरोत्तर विश्वाल और निर्मल होती हुई परमात्मा के ज्ञान को भी प्राप्त करती है ।

( २ ) चिन्त से परब्रह्मपरमात्मा का चिन्तन ( स्मरण ) किया जाता है ।

( ३ ) अहंकार से जीवात्मा को सचिकल्पसमाधिपर्यन्त अपने ध्यातापने का बोध रहता है ।

( ४ ) विद्या से जीव का अविद्यान्धार दूर होकर परमात्मा के संग में अमृतरूप मोक्षानन्द प्राप्त होता है ।

( ५ ) स्वभाव भी योग का साधन है । अर्थात् जब मनुष्य अपने दुष्ट स्वभाव का त्याग करके उत्तम कर लेता है, तब उसके दुष्टकर्म उत्तरोत्तर ज्यय होते जाते हैं । तभी योग को सिद्ध कर सकता है ।

( ६-८ ) शारीर और घल से अत्यन्त पुरुषार्थ जब मनुष्य करता है, तब ही उसका फलरूप मुक्ति प्राप्त करता है । अतएव शारीरिक उन्नतिद्वारा शरीर को नैरोग्य पराक्रमयुक्त और आलस्यरहित रखना चाहिये ।

इस प्रकार देहस्थ अट्टौर्दसों तत्व उपासनायोग में जीवात्मा की सहायता करते हैं ।

### ( ३ ) एक देश में ध्यान ठहराने का प्रयोजन ।

चिन्त की एकाग्रता करना है और इस की विधि मुख्य उपनिषद् में इस प्रकार कही है ।

चित्त की एकाग्रता का विद्यान् अलंकाररूप में ।

प्रणवो धनुः शरो हातमा ब्रह्म तत्त्वस्यमुच्यते ।

अथमत्तेन वेदव्यम् शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ १ ॥

द्वितीय सुण्डक खण्ड २ मं० ४

( अर्थ ) प्रणव नाम परमेश्वरवाचक ओम् शब्द ही उस परमात्मारूपी लक्ष्य के बांधने के लिये मानो धनुष है । जीवात्मा ही मानो वरण है और वही ब्रह्म ( परमात्मा ) मानो निशाना है ।

उस ब्रह्मरूपी लक्ष्य को अप्रभावी होकर अर्थात् चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का उनके विषयों से सर्वथा रोककर क्षेवल परमात्मा के ही ध्यानमें मैं ठहरा कर और जीवात्मा स्वर्वं

ॐ टिप्पणी—ध्यान, ध्येय दिना नहीं ठहरता । अतः ध्येय पदार्थ अवश्य कुछ होना चाहिये । ध्येय पदार्थों में शब्द सब से स्थूल है । अर्थात् प्राण, मन, इन्द्रियादि सूक्ष्म ध्येय पदार्थों की अपेक्षा ज्ञान के आगे शब्द स्थूल नाम आकार वाला जाना जाता है । इस विषय में दृष्टान्त है कि जैसे पुत्र अपने पिता को जब पुकारता है, तब पिता पहचान लेता है कि यह मेरे पुत्र की वाणी है । यदि शब्द का आकार न होता अर्थात् शब्द स्थूल न होता, तो इन्द्रियजन्य ज्ञानद्वारा ग्रहण न किया जाता । अतएव प्रथम शब्द को ध्येय पदार्थ स्थापित करे, तब ध्यान तो शब्द को ध्येय करता है । कान उस शब्द को सुनता है अर्थात् ओरेम् के मानसिक जप का शब्द उस ध्यान करने के स्थान में सुनाई पड़ता है । “ओम्” पद के साथ तथा जीव और ईश के साथ पिता पुत्र के सम्बन्ध का भाव यहां सर्वथा घटता है ॥

लक्ष्य में लगे हुने वाण के समान और तदाकाग्नुस्ति बाला होकर धीर्घे । भूलकर भी अपने नित्य और ध्यान को छिगने न दे । अर्थात् जैसे तीर निशाने में बार पार प्रविष्ट हो जाता है, इस ही प्रकार आकारल्पी धनुष को तानकर जीवात्मा स्वयमेव उक्त धनुष में वाणरूप होकर परमेश्वरल्पी निशाने में प्रवेश करके तन्मय होकर उस परमात्मा के ध्यान में मग्न होजावे । जैसा अगले मन्त्र में भी कहा है ।

यदच्चिदपद्य यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहता ।  
लोकिनश्च । तदत्तदत्तरवल्ल स प्राणस्तदुवाङ्मनः ।  
तदेतत्सत्यं तदमृतं नद्वद्धध्यं सौम्यविद्धि ॥

मुण्डक २ खण्ड - मन्त्र २

‘हे ( सौम्य ) ग्रियशिष्य शौनक ! तुम निष्ठ्य करके जानो हि जो ब्रह्म ज्योतिःस्वरूप है, जो परमाणुओं से भी अति ही सूक्ष्म है, जिसमें पृथिवी सूर्य चन्द्रादि सब लोक लोकान्तर नथ उनमें वसने वाले मनुष्यादि प्राणी स्थित हैं, यह वही अत्रिनाशी ब्रह्म है, वही ब्रह्म प्राणिमात्र का जीवन हेतु है । यही ब्रह्म वाणी और मन का निमित्त कागण है । वही ब्रह्म सदा एकरस रूप ने विद्यमान रहता है और अमर है । उसडी को ध्यानयोग से वेधना चाहिये अर्थात् उस ही की ओर वार्तावार अपना मन लगाना चाहिये ।

## ध्याता ध्यान ध्यय आदि ग्रिषुटियाँ

ध्यानयोग वह साधन है कि जिसके द्वारा जीव अपने स्वरूप को जान कर परमात्मा के स्वरूप को भी विचार लेता है और सुक्ष्म हो जाता है ।

अपने स्पर्शप का ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता होने के लिये जीव को उचित है कि प्रकृतिजन्य स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों को क्रमशः ध्येय कर कर हो जाने। सो “ध्यानयोग” की धारणा और ध्यान से उन सब पदार्थों का ज्ञान होता है।

उक्त धारणा और ध्यान में तो ध्याता, ध्यान और ध्येय, इन तीन पदार्थों की विद्यमानता रहती है, परन्तु समाधि में जब जीवात्मा अपने को भी भूल जाता है और परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द में मग्न हो जाता है तब ध्याता, ध्यान और ध्येय, इन तीनों का भेदभाव कुछ नहीं रहता और इस समाधि अवस्था को ही विद्या वा विज्ञान तथा साधेज्ञता से धारणा और ध्यान को अविद्या वा कर्मोपासना जानो। क्यों कि ये : धारणा और ध्यान ) वाहा और आनन्दिक क्रियाविशेष के नाम हैं, विज्ञानविशेष के नहीं। परन्तु ये परमात्मा के तत्त्वरूप यथार्थस्वरूप का ज्ञान प्राप्त होने के साधन हैं ॥

( १ ) ध्यान करने वाला जीवात्मा ध्याता कहाता है ।

[ २ ) जिस प्रथल वा चेष्टा द्वारा मन आदि साधनों से ध्येय पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसको ध्यान कहते हैं ॥

( ३ ) जिसका ध्यान किया जाता है, उसको ध्येय कहते हैं ।

ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय—इस विद्युतियों को भी उपरोक्त प्रमाणे जानो ।

**(४) प्राण आदि वायु के आकर्षण  
का प्रयोजन तथा उसको  
ऊपर त्रिदाने और नचि**

## उतारने की कथा ।

ध्यान एक प्रकार की विद्युत ( विज्ञुनी ) है । जैसे चुम्बक पत्थर लोहे को खींच लेता है, इसही प्रकार ध्यान प्राणों को खींच कर ऊपर को चढ़ा और नीचे को उतार ले जाता है । अर्थात् जहाँ ध्यान ठहराया जायगा उसही स्थान पर प्राण अवश्य जाता है । प्राणों को चढ़ाने वा उतारने के लिये अन्य कोई चेष्टा, युक्ति किया वा प्रयत्न कुछ भी नहीं करेना पड़ता जैसे पूथम कह चुके हैं कि ध्यान के साथ मन और मन के साथ ' सर्मरण इन्द्रियों की शक्तियाँ स्वतः उस देश में चली जाती हैं, जहाँ कि ध्यान ठहराया जाता है । वैसे ही पूण भी स्वतः वहाँ चले जाते हैं । जब मनुष्य की इच्छानुकूल वा अशान और प्रमाद से ध्यान हट जाता है तब मन और इन्द्रियादि के सदृश पूण भी हट जाते हैं अर्थात् ऊपर को चढ़ जाते हैं वा नीचे को उतर जाते हैं । प्राणों के चढ़ाने तथा उतारने के विषय में लोग ऐसे धोखे में पड़े हुवे हैं कि उनके भ्रम का एकाएकी हटा देना कठिन है । सबको आजकल ऐसा विश्वास है कि पूण चढ़ा लेने के उपरान्त उनका उतारना कठिन है अर्थात् यदि उतारने की किसी स्थान न हो तो मनुष्य भर भी जाता है । यह मूर्खों की सी कथा ( कहानी ) सर्वथा झूँठी है, इस में कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिये । इसलिये स्पष्टता से यहाँ इस विषय का कथन कर देना अत्यधिक जान पड़ा कि जिससे भोले मनुष्य कभी ठगे न जा सकें । ऐसे २ संशयों का यथावत् निवारण तभी हो सकता है, जब कि कोई किसी आप योगाभ्यासी विद्वान् से उपदेश लेकर कुछ दिन स्वयं अभ्यास करके परीक्षा और अनुभव न ले । वह-

विद्याविधायंक वेदादिसच्छास्त्रानुकूल प्रसुपिष्ठत प्रन्थों, स्वामी दयानन्दस्वरूपतीकृतग्रन्थों तथा इस ध्यानयोग नामक प्रन्था-नुकूल शिक्षा पाने वालों को इस विषय की यथार्थता का पूर्ण निश्चय और निर्णय हो सकता है।

प्राण आदि वायु के आकर्षण करने का प्रयोजन भव की एकाग्रता करना ही है ॥

## (५) मूलनाड़ी को ऊपर की ओर आकर्षण करने का अभियाय ।

मूलेन्द्रिय ( मूल की नाड़ी ) रबड़ करे नलीं के समान एक पोली नाड़ी प्राणों के संचार ( आने जाने ) का सार्ग है । जब ध्यान ऊपर विष्ट हो जाता है, तब यह ( नूल की नाड़ी ) प्राणवायु से जो ध्यान के साथ ही ऊपर को चला जाता है, भर जाने के कारण स्वतः सीधी ऊपर और इस प्रकार लिंग जाती है, जैसे कि रबड़ की नली फूंक ( वायु ) से भरी जाने पर सतर ( सीधी ) जड़ी हो जाती है । मूलेन्द्रिय को मुषु-मणा नाड़ी भी कहते हैं । जो पैरों से लेफ्ट मस्तक में होती हुई चिकुटी ( भ्रूमध्य ) में इडा और ग्राहक के साथ मिल जाती है । जहां ये तीनों नाडियां मिलता है, इस चिकुटीनामक स्थान को चिवेणी भी कहते हैं । कि 'मूलेन्द्रिय को सीधे रखना' इस कथन का आशय यही है कि ध्यान को \* प्रथम

---

\* प्रथम प्राणायाम की धारणा के सुख तीर्त ही स्थान है । बहाएँ; चिकुटी और नासिकाप्र, हज तीन स्थानों को ही यहां समझना चाहिये । उनमें भी प्रथम नासिकप्र जानो । बहां ध्यान उद्धराने से प्राण बाहर निकलता है और सूक्ष्मिद्रिय तनी रहती है ॥

प्राणायाम की धारणा के स्थान में इहनापूर्वक दिक्षाये रखना, जिससे कि यह नाड़ी भी तनी दुई रहे और प्राणवायु अधिक द्वेर तक उस समय बाहर छहर सके, जब कि नासिकाग्र में धारणा करके प्रथम प्राणायाम किया जाना है। अर्थात् मूलेन्द्रिय के लिये रहने से ही प्राण नाक के बाहर अधिक ठहर सकता है। यही अभिप्राय इस किया का है ॥

## ( ६ ) चित्त और हृनिद्रियादि को ध्यान के स्थान में स्थिर रखने का अभिप्राय ।

चित्त और मन इन दोनों में इतना सूक्ष्म और अल्प भेद है कि जिस को अभेद सा मान कर दोनों को एक ही प्रायः मानते हैं और एक के स्थान में दूसरे पद का अहण भी इसी आशय से होना ही है । यह भेद ध्यानयोग का अभ्यास करतेर जब चित्त और मन के स्वरूप दो निर्मल बुद्धिद्वारा बोध होता है, तब ही यथावत् जाना जाता है । अतः यहाँ भी चित्त और मन इन दोनों पदों से एक ही अभिप्राय जानना चाहिये ॥

अब व्यायशास्त्रानुसार मन को स्वरूप कहते हैं ।

युगपञ्चानालुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम् ॥

व्या० अ० १ आ० १ सू० १६ ( स० प्र० सम० ३ पृ० ६० )

( अर्थ ) जिस से एक काल में दो पदार्थों का अहण न महीं होता उस को मन कहते हैं ।

अर्थात् चंचु आदि हृनिद्रियों का रूपदर्शन आदि अपने २ विषयों के साथ सम्बन्ध रहते हुये भी एक कालमें अनेक

ज्ञान उत्पन्न नहीं होते, इस से अनुमान होता है कि प्रत्येक इन्द्रिय का सम्बन्धी अव्यापक कोई दूसरा सहकारी कारण अवश्य है, कि जिसके संयोग से तो ज्ञान होना है और न्योग न रहने से ज्ञान नहीं होता है। ज्ञानवृहण के उस अव्यापक सहकारी कारण को मन कहते हैं।

इन्द्रिय, जिनके कारण नहीं, ऐसे स्मृति आदिकों का कोई कारण अवश्य मानना चाहिये। इस पूर्णाण से भी मन सिद्ध होता है।

पूर्थम पौष्णायाम से मन के स्वरूप का यथार्थज्ञान होता है।

ज्ञानयोगपद्यादेकं मनः ॥

इस न्यायशास्त्र के सूत्र का भी यही आशय है कि मन से एक कालमें अनेक ज्ञान नहीं होते, अतएव यह भी सिद्ध होता है कि मन एक ही है, इसी लिये मन को अव्यापक कहा।

चित्त चंचल है, क्योंकि वह विषयान्तर में शीघ्र २ गमन करता है, अर्थात् मन अनेक संकल्प उठाता और छोड़ता हुआ चिरकाल एक विषय में स्थिर रहता, जब तक कि उपाय न किया जाय, उस का उपाय यही है कि मन ( चित्त ) की जो प्रमाणादि अनेक वृत्तियाँ हैं, उनको पूर्व कहे हुए उपायों के अनुसार ध्यान द्वारा शरीर के किसी एक देश में स्थिर करके के ध्यान और तन को डिगने न दे, ध्यान के डिगते ही मन अपनी वृत्तियोंमें और इन्द्रियाँ विषयों में फँसने लगती हैं और ध्येय पदार्थ को छोड़ देनी हैं। अतएव मन के रोकने के लिये ध्यान का दृढ़ करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। अर्थात् ध्यान योग ही समाधि योग नामक उपासना योग का तथा ब्रह्म और मोक्ष प्राप्ति का मुख्य उपाय है। चित्त तथा इन्द्रियादि को ध्यान उहराने के स्थान में स्थिर करने का अभिप्राय वा प्रयोजन यह है कि समाधि योग सिद्ध हो जावे।

## (७] प्रणवका मानसिक (उपांशु) जाप शीघ्र एकरस करनेका अभिप्राय

इस विषय में तीन अङ्ग हैं। ( क ) मानसिक जाप ( ख ) शीघ्र जाप ( ग ) एक रस जाप।

( क ) मानसिक जाप का अभिप्राय वाणी का संयम करना मात्र है, जिस का प्रयोजन जिहा को तालु में लगाने के विषय में कह दिया गया है। वाणीके संयम से चित्त ( मन ) प्रकाश होता है।

( ख ) चित्त चञ्चल है, जब उस के चाञ्चल्य से ओम् पद के शीघ्र जाप में सहयोग लिया जाय तो सम्भव है कि ध्येय पदार्थ के अतिरिक्त अन्य विषय में प्रवृत्त न हो सके। यही “शीघ्र जाप का प्रयोजन है कि चित्त जपलप एक काम में ही लगा रहे।

( ग ) मन के स्थिर करने के लिये काल का नियम करना आवश्यक है। जैसे क्षण निमेपादि कल्पान्त अनेक काल की अवधि दा संज्ञा हैं, इस ही प्रकार एक वार ‘ओऽन्’ कहने में जो समय लगता है, उसको इस विषय में एक काल की सूक्ष्म से दूष्प्र अवधि मान कर औं मन्त्र के उच्चारण की संख्या प्राणायाम करते समय की जाती है। ऐसे जितनी चिनती तक ओम् कहते२ मन अन्य किसी संकल्प वा विषयमें न जाय, तब तक जानो कि जाप एवं रस हुआ। एक रस जाप करने का अभ्यास इस प्रकार घड़ागा चाहिये कि जब जप करते२ मन अन्य विषय को अहण करने लगे तो उस का ध्यान रस कर फिर १ से गणना करने का आरम्भ कर दे यथा-ओ१ ओ२ ओ३ ओ४ ओ५ ओ६ ओ७ ओ८ ५००००००० औं ६०० इस प्रकार पहली वार

यदि ५ तक गणना करने के उपरान्त मन चलायमान हो रहा हो तो दूसरी बार जब नष्ट शिरेसे गिनते लगे तो प्रतिशा कर ले कि इसधार न्यूनसेन्यून ६ गिनते पर्यन्त तो मनको डिगने न होंगा और ध्यान रखकर इस प्रतिशा के अनुसार जप करने लगे। इस रीति से एकरस जप करने का अभ्यास बढ़ता जाता है, प्रमाणादि ५ वृत्तियाँ तथा क्षिप्र सूढ़ और विक्षिप्त। इन तीन मन की अवस्थाओं में मन एक रस नहीं रहता। इस लिये ध्यान योग से उक्त अवस्थाओं और वृत्तियों का निवारण करना उचित है।

### आवरणलयता तथा निद्रावृत्तियों के स्वरूप के जानने की आवश्यकता

मन के पहले रस न रहने के दो विवरण कारण अर्थात् आवरण और लयता वृत्तियाँ भी हैं। ये दोनों निद्रावृत्ति के पूर्व रूप वा भेद हैं। ध्यानयोग से इन तोनों के स्वरूपका ज्ञान और उपासना समय में इन का निवारण उपासक को करना उचित है, क्यों कि दिना पहिवाने निद्रादि वृत्तियाँ जीती नहीं जा सकती। आसन ढड़ नहीं होता। और निद्रावश मनुष्य थोड़ी देर भी अच्छे प्रकार पलाश चित्त से नहीं बैठ सकता और उपासना करते समय निद्रा आती भी शीघ्र ही है और अच्छानक आकर मनुष्य को अचेत कर देती है, क्योंकि निद्रा के उक्त पूर्वरूपों की गति अति स्वदर है। निद्रा के ज्ञान होने से मनुष्य को अपने सोने तथा जागने का भी ज्ञान हो जाता है, अर्थात् वह जान लेना है कि अब निद्रा आगई और अब चली गई। जैसे अर्जुन ने निद्रा को जीत लिया था, इस ही प्रकार जब कोई अभ्यास करने से निद्रा दो जीत सकते हैं।

चिन्तकी पांच वृत्तियों में से निद्रा भी पद्म वृत्ति है। जैसे अन्य वृत्तियों पर जान हो जाता है, इस ही प्रकार निद्रानृति का ज्ञान हो जाने में किसी प्रकार का भी सन्देश नहीं करना चाहिए।

निद्रा नाम सोते समय में जीवात्मा और मन की रिथर्टि

मनुष्य जब सोता है, तब जीवात्मा लिङ्गदेह में प्रवेश कर आता है और मन सब इन्द्रियों स्वाधित दूर्मानाहृती में प्रवेश कर के शान्त होजाता है कि जैसे कल्पुश अपने सारे अङ्गों को भीतर सक्रांड लेता है और बाहर चंचलता से बलने वाला नग अपने विल में जाकर शान्त हो दैठता है॥

(निद्रा के परिचानने की विधि )

जब दिन और रात्रि के काम धन्धों से निश्चिन्त हो कर मनुष्य खोने लगे, तब त्रिकुटी में ध्यान लगा कर निद्रा के आने का ध्यान रखते और उस के स्वरूप के जातने का प्रयत्न करे। सोते समय जहाँ ध्यान लगा कर मनुष्य नोता है, जागते समय उस ही स्थान पर ध्यान लगा हुआ आगता है।

इत्यादि प्रकार से यज्ञ फारक चिन की वृत्तियों का लाने प्राप्त करके उन को हटाते रहने से प्रशंसा का मानसिक एकरस जाप होता सन्भव है, अन्यथा असन्भव है।

## पूरणव जाप की विधि ।

[ ८ ] प्रणावके जापवें संलया करके कालका अनुयान करे

ओम के जप करने की यह विधि है कि ध्यानलपी विज्ञुली द्वारा मन उथा उस की उंपूर्ण वृत्तियाँ और ज्ञानेन्द्रियों की विष्व क्षक्तियाँ आदि स्वयं को एक देश में ठहरा कर संयम करे और उच्च ही स्थान में भौत ब्रत पूर्वक मन ही मन में तंद्राकाश

द्युक्तिसे परमेश्वरमें घपने आत्मा को लगा कर ओम् का जाप करे, तब साक्षोवाह जाप पूर्ण होता है। जहाँ २ धारणा की जाती है वहाँ २ सर्वव इत्त ही चिथि से जाप किया जाता है, अन्यथा जप व्याहृत समझा जाता है।

प्रणव के जप में संख्या करने का कुछ अङ्ग तो प्रथम कह दुके हैं रोप वहाँ कहते हैं।

जितने कालसे एक बार ओम् कहा जाता है एक सिक्खण्ड उतनी ही देर में व्यतीत होता है। इस अनुमान से ६० बार एक रुप ओम् का मानसिक उडारण करनेमें एक मिनट होता है। यह घट्टे में ६० मिनट और ३६०० सिक्खण्ड होते हैं। अतः एक घट्टे भर के पूर्णाण से उपासना करने वाले भनुष्य को उचित है कि एक आवृत्ति में ६० तक ओं जपे, ऐसी ६० आवृत्तियाँ करने में पूरा घट्टा हो जाता है, ओं की उपासना मन ही मन में फरजा चाहिये, किन्तु हरथ की अंगुलियों पर नहीं।

संख्या करने का पूर्योगत पूर्यम कह दिया जया है।

प्रथम प्राणायाम की नासिकाग्र वाली तृतीय धारणा के परिपक्व हो जाने पर तब प्रोणवाद्य बाहर निकलने लगता है, तब छबराहृष्ट हो कर प्राण रुप भीतर चला जाता है, उस को नासिका के बाहर अधिक ठहरने का अभ्यास उत्तरोत्तर क्रमशः वहाँ तक बहाना चाहिये कि जितनी देर में ५०० बार ओं कह सके, उतनी देर पाण बाहर ठहरा रहे। किर ओं के स्थान में व्याहृतिमन्त्रों से अभ्यास करे अर्धात् आदि में इतनी देर प्राण बाहर ठहरावे कि जितनी देर में ओं सहित सप्त व्याहृतिमन्त्रों को न्यून से न्यून तीनबार पढ़ सके, किर २१ बार इन मन्त्रों को एक बार में पढ़ सकने तक का अभ्यास बहावे और इत्त को एक एक प्राणायाम समझे। पञ्चात् ऐसे

ऐसे तीन प्राणायाम एकवार में कर सकने का अभ्यास करें, अन्त में २१ प्राणायाम कर सकने की योग्यता प्राप्त करें।

जितनी देरदूषण वाहर ठहर सके, उसको एक प्राणायाम कहते हैं।

**ओम् का जप १ आङ्गारे वा दो आङ्गा से घटध्वा  
स्फूर्णि ३ मात्रा से**

प्रणव का जप करने वाले पुरुष को यदि उस के शर्य का चिन्नार वा शान न हो तौ जानो कि वह एक मात्रा से ओम् को जपता है। यदि अर्थचिन्नार सहित जपे तौ जानो कि वह २ मात्राओं से ओम् का जप करता है और जो उस आनन्द स्वरूप परमात्मा के समुच्च और उस ही के आश्राम और आनन्द के प्रकाश में निमग्न होकर जपे तौ जानो कि वह ओं का जप उस की तीनों मात्राओं से करता है।

[ ६ ] ब्रह्माएडादि तीन स्थान की धारणाओं  
का प्रयोगन्

प्रथम प्राणायाम सिद्ध करने के लिये नासिका के बाहर प्राण बायु को लाकर दाढ़ा करना होता है, जहो आसनमें एक साथ कदापि नहीं आ सकता। अतः तीन स्थान की धारणारूप तीन ओणी का क्रम एवला है। जो प्रथम तो प्राण को सीधा ब्रह्माएड में लाना ही कठिन है, किर भ्रुदी में किर नाकके बाहर तो अति कठिनता से निकलता और ठहरता है।

[ १० ] प्राण बायु को भीतर ले जाते समय क्रम से  
तीन स्थानों में थोड़ी २ देर ठहराये हुवे हृदय में  
ले जाकर स्थापित कर देने का अभिप्राय  
यह है कि प्राण उपासक के बश में होकर हच्छायुकूल  
जहाँ बाहो बहाँ ठहरा सके।

[ ११ ] और अपने आत्मा को परमात्मा में लगा हेने से  
पापोंका नाश होकर मोक्ष प्राप्त होता है ॥

नास्तिकाश्रम में धारणा करते॒ जब प्रथम प्राणायाम सिद्ध होजाने पर प्राण वायु वाहर निकलता अच्छे प्रकार चिदित होने लगे, तब प्राण को वाहर अधिक ठहराने के लिये ओं की संख्या चढ़ार कर जब अच्छे प्रकार एक रस ५०० वार ओं कहने तक प्राण वाहर ठहरने लगे तब वद्यमाण सम ध्याहृति मन्त्रों को उच्चारण करके प्राणायाम करना चाहिये । वे मन्त्र नौचे अर्थ सहित लिखे जाते हैं, इन सबसे ईश्वर ही के शूलों का फीर्तन और प्रार्थना होती है ।

**ओम् तथा व्याहृति का, अर्थ**

( १ ) ओं भूः=हे प्राणायाम परमेश्वर ! आप मेरी रक्षा कीजिये ।

( २ ) ओं भुवः=हे दुःखविनाशक परमेश्वर ! आप मेरी रक्षा कीजिये ।

( ३ ) ओं स्वः=हे मोक्षानन्दप्रद परमेश्वर ! आप मेरी रक्षा कीजिये ।

[ ४ ) ओं महः=हे सब के बड़े गुरु परमेश्वर ! आप मेरी रक्षा कीजिये ।

[ ५ ) ओं जनः=हे जगत्पिता परमेश्वर ! आप मेरी रक्षा कीजिये ।

( ६ ) ओं तपः=हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! आप मेरी रक्षा कीजिये ।

( ७ ) ओं सत्यम्=हे अविनाशी परमेश्वर ! आप मेरी रक्षा कीजिये ।

योग द्वारा ऊर्ध्वरेतां होने ये वेदाङ्गा ।

ऋग्वेद अ० ४० । अ० १ । व० ३३ । सं० ५ । म० २ । सू० ३२ ।

एवा हि त्वाघृतुथा यातयन्तं यथा विप्रेभ्यो

ददत्वं श्रणोमि । किन्ते ब्रह्माणो शृहते सखायो

ये त्वाया निदधुः कामयिन्द्र । १२ । ३३ । १ । २॥

**पदार्थः—**—ऐ [ इन्द्र ] परयैश्चर्वर्युक्तः । विद्या और पेश्वर्य से युक्त पनि की कामना करती हुई मैं (हि) निश्चय से (विप्रेभ्य) दुष्टिमान् जनों के लिये (मवा) धनों को (ददतम्) देने और (घृतुतुथा) घृतु घृतु के मध्य मैं (यातयन्तम्) संतान के लिये प्रयत्न करते हुए (त्वाम्) आप को (एवा) ही (श्रणोमि) सुनती हूं और (ते) आप के (ये) जो (ब्रह्माणः) चार वेद के जानने वाले (सखायः) मिथ हैं, वे (त्वाया) आप मैं (किम्) क्या (शृहते) ग्रहण करते और किस [कामम्] मनोरथ को [निदधुः] धारण करते हैं ॥ १२ ॥

**भावार्थः—**स्त्री, घृतुर् के मध्य मैं जाने की कामना चाला है वीर्य जिसका, ऐसे 'ऊर्ध्वरेता' अर्थात् वीर्य को दृथा न छोड़ने वाले ब्रह्मचर्य को धारण किये हुए उत्तम स्वभाव वाले और विद्यायुक्त उत्तम यशवाले जन को पतिपने के लिये स्वीकार करें । उस के साथ यथावत् वर्त्ताव केरके पूर्ण, मनोरथ चाली और सौभाग्य से युक्त होवे ॥ १२ ॥ मनोहवन वज्रुली होता है । योगी लोग इसे अब भी विजली द्वारा सिखाते हैं । मनोहवन का मन्त्र—

पुरो ना मन्दं दिव्यं सुचृक्षिप्रयति यज्ञे अग्निभव्यरे-

दधिध्वय् । पुरउर्ध्वथेभिः स हिनो विभावा स्वध्वरा

करति जातवेदाः ॥ १ ॥

अष्टुक ४ । अष्टरात्र ५ । वर्ग ६२ । मण्डल ३ । अनुवाद १  
सूक्त २० ।

**पदार्थः—**हे मनुष्यो ! आप लोग [ वः ] आप लोगों के [ पश्चिमि ] प्रथम ने ज्ञात्य [ अधरे ] अहिंसतीय [ यज्ञे ] संस्कृतिष्वरूप यज्ञ में [ उत्तरेभिः ] कहने ने योग्यों से [ पुरुः ] प्रथम [ मन्द्रम् ] आत्मद देने वाले वा प्रज्ञसतीय [ दिव्यम् ] शुद्ध [ छुट्टिम् ] उत्तम प्रकार चलते हैं, जिस ले उस [ अ-  
स्तियु ] विद्युतादिष्वरूप अग्नि को [ दिविष्वम् ] प्राप्त रख-  
रिये और जो [ नि ] तिक्ष्य कर के [ विभावा ] विशेष करने  
प्रकारक [ वात्मवेदाः ] प्रकृद युजों को जागने वाला [ नः ]  
हम सोग्यों का [ पुरुः ] प्रथम [ स्वधर्मा ] उत्तम प्रकार अहिंसा  
आदि घर्वों से युक्त [ करति ] करे [ सः ] वही हम लोगोंसे  
सत्त्वार फरने योग्य है ॥ १ ॥

**भावार्थः—**हे मनुष्यो ! दौने घड़ करने वाले यज्ञ में अग्नि  
को प्रथम उत्तम प्रकार स्थापित कर के उस अग्नि में आहुति  
देखर संसार का उपकार करने हैं, वैसे ही आत्मा के आगे  
प्रभास्ता को संस्थापित करके और प्रत्यक्ष उस के उपदेश  
से अग्न का उपकार करो ॥ २ ॥

इमू षु वो अतिथिष्वुपूर्वुर्बुद्धं विश्वार्णा विश्वा पतिमृद्धं  
से गिरा । वेतोहिवो जनुषा कच्चिदा शुचिष्व्योक्त्विदत्ति  
नर्वो यद्युनम् ॥ १ ॥

**पदार्थः—**हे विश्वाम् ! जिस कारण से आप ( इमम् ) उस  
( विश्वासाम् ) लम्पूर्ण ( विशाम् ) मनुष्य आदि प्रजाश्वों के  
( पतिय् ) पालक ( अतिथिम् ) अतिथि के समान एत्तमान  
( उपबुद्धम् ) प्रानःकाल में जागने वाले को ( झुक्से ) सिद्ध  
करते हैं ( गर्भः ) अन्तस्थि के समान जो ( उ ) तर्कनासहित

( दिव्यः ) पदार्थयोध की ( जनुपा ) उत्पत्ति से ( छुटेती ). अच्छे प्रकार व्यास होता ( इत् ) ही है तथा ( कृत् ) कभी ( चित् ) भी ( यत् ) जो ( शुचिः ) पवित्र ( अच्छुतम् ) नाश से रहित वस्तु को ( ज्योक् ) निरन्तर ( अत्ति ) भोगता है ( आ ) आशा करता है, वह विद्वान् होता है ॥ १ ॥

मार्गार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे अतिथि सत्कार करने वोन्ह है, वैसे ही पदार्थ विद्या जानने वाला सत्कार करने वोन्ह है. जो सबके अन्तस्थ नित्य विज्ञुली की ज्योति फ़ो जानते हैं, वे अभिषित दुखको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः प्राणायामः ।

अब “आभ्यन्तरविषय प्राणायाम” नामक दूसरे प्राणायाम की विशेषविधि विस्तारपूर्वक कहते हैं ।

( विधि ) नाभि के नीचे ध्यान लगाकर अपानवायु उदर में भरे, जब नाभि से लेकर कण्ठ तक भर जाय तब जल्दी से ध्वनि को कण्ठ में लाकर अपानवायु बन्द करदे । जब जी ध्वनि लगे तब धीरे २ ध्यान के साथ छोड़ दे । पुनः इसी प्रकार अपानवायु भरे और जितनी देर सहन कर सके, उतनी देर बन्द कर रखे । जब जी का ध्वनिना न सहा जाय तब ध्यानद्वारा धीरे २ छोड़दे । इस विधि से वारंवार अपानवायु भरे और थोड़ी देर रोक कर छोड़दे । और प्रथम प्राणायाम में कही विधि से ओं मन्त्र का जप करे और उसकी संख्या द्वारा अपानवायु को उत्तरोत्तर अधिक देर बन्द कर रखने का अभ्यास प्रतिदिन बढ़ता जाये ।

दूसरे प्राणायाम के तीन उपलक्षणों के आरण तीन नाम और भी हैं । यथा—

( १ ) कुम्भक प्राणायाम ( २ ) पूरक प्राणायाम और ( ३ ) रोचक प्राणायाम ।

इस प्राणायाम को कुम्भ नाम घड़े का है और मनुष्य के देह में नाभि ले लोकर कर्ण-देश पर्यन्त जहाँ योगी जन अपानवायु को भरते हैं, वह अवकाश एक प्रकार के घड़े की आण्टि के सद्गत है। तथा उदर नाम पेट की अलंकार की रीत से लोकमाया ले घड़ा कहते भी हैं।

इसी प्रणायाम को पूरक इस कारण ले कहने हैं 'कि जैले घड़े में जल भरा जाता है, वैसे ही इसके अनुष्ठान में नाभि ले कंठपर्कर्नन्त का अवकाश अपानवायु से पूरित किया जाता है। रेचन नाम छोड़ने वा निकाल देने का है, जो अपानवायु उदर में भरकर थोड़ी देर बहाँ थाम कर छोड़ वा निकाल दी जाती है, इस कारण इस ही प्राणायाम का तीसरा नाम रेचन भी रखा गया।

इस विषय को अच्छे प्रकार न जानने वाले लोग ऐसी भूल में पड़े हैं कि इस एक प्राणायाम के तीन भिन्न २ नाम होने के कारण से तीन भिन्न २ प्राणायाम बनाते हैं।

## अथमतथा द्वितीय प्राणायामविषयक

### कठोपनिषद् का प्रमाण ।

उर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।

मध्ये वामनभासीनं विश्वे देवा उपासते ॥

कठ० चल्ली ५ मन्त्र ३

[ भाष्य ] जो मनुष्य योगाभ्यास के अनुष्ठान में पूर्यम प्राणायाम करते समय—

[ प्राण-उर्ध्व-उन्नयति ] हृदयरुद्ध प्राणपायु को ऊपर अथवा बहारण में आकर्षण करता है [ चढ़ा ले जाता है ]

और दूसरा प्राणायाम करते समय—

(धारान्-अत्यद्-जस्यति) गुदा द्वारा चलने वाले अपान-पायु को उद्दर में ( घड़े की ली आळति वाले पेट में अर्थात् उख अवकाश में कि जो नासिदेश से लेकर करणदेशपर्यन्त के छिस्कून आनंद में ) खटा है ।

(मध्ये-आभीनय ) नाभि और करणदेश पे सम्ब में अन्तः-करणाल्लर्त इशांगुल अवकाश में विराजमन ( तं-वायिन्न ) उख प्रदात्व नित्वशुद्धप्रकाश स्वरूप्यु के जीवात्मा को—

( विश्वे देवाः ) सम्पूर्ण व्यवहारकाधक इन्द्रियां

[ उपालते ] सेवन करते हैं ।

इन मन्त्र में प्रथम तथा द्वितीय प्राणायाम की विधि कही है । इसमें यह बात भी सिख की है कि यागाभ्यास करते समय सम्पूर्ण इन्द्रियां जीवात्मारूप राजा की सेवा = स्वाकरी में प्रज्ञा की नई लतपर रहती हैं तथा [ अष्टाविंशानि शिवानि शम्भानि० ] इस अथर्ववेद की श्रुति से भी यही बात सिख है, अथर्व प्रार्थना यही की वर्ण है कि हे परमात्मन ! हमारे आद्वाहसों शाम डयासना का सेवन नहरे । योगाभ्यास करते समय प्रथम उख पेशमन्त्र द्वारा इसी प्रकार प्रार्थना सबको करनी उचित है और इस प्रार्थना के अनुसार ही अपना वर्तमान उखे अर्थात् अपना सर्वद्वय परज्ञा परमात्मा को समर्पित करदे और देवोऽक्षयमयुक [ निष्काम कर्म ] में सदा तत्पर रहे ।

### अथ तृतीयः प्राणायामः ।

अब “ नन्मस्वरूप्ति प्राणायाम ” नामक एतीय प्राणायाम की विशेष विधि विस्तारदृष्टक कहते हैं ।

( क्रिया : जब तीसरा प्राणायाम करना चाहे, तब न तो प्राणवायु छो भीतर हे जाय, किन्तु जितनी देर सुचपूर्वक हो

सके, उन पूर्णों को जहाँ का तहाँ, ज्यों जात्यों एक दम [एक साथ] रोकदे ।

(विधि) उपर्युक्त क्रिया की विधि यह है कि—पूर्णवायु के ठहरने का स्थान जो हृदयदेश है और अपानवायु के ठहरने का स्थान जो नाभिदेश है, इन दोनों स्थानों के मध्यबृत्ति अधकाश में स्थित लमानवायु के आधार में स्तम्भबृत्ति से ध्यान को लगाए अर्थात् ध्यान से समानवायु को पकड़कर थाम ले । जब मन घबराने लगे, तब ध्यान ही से उसको छोड़दे । पुनः बारथार इसही प्रकार करे, अर्थात् सुखपूर्वक जितनी देर हो सके उतनी ३ देर बारनवार अस्थास करे, ध्यानद्वारा स्तम्भबृत्ति से पूर्ण और अपान दोनों जहाँ के तहाँ सक जाया करते हैं । योग की लम्पूर्णक्रिया सर्वत्र ध्यान से ही की जाती है । इस बात का उपासक को सर्वदा स्मरण रहे । अतएव अनेक बार यह उपदेश उपयोगी लक्षणोंमें क्रिया यथा है ।

स्तम्भन, खड़ा वा बन्द करना, तथा पकड़ और थाम लेना, ये पर्यायवाची शब्द स्तम्भबृत्ति के जार्थ हैं ।

### अथ चतुर्थः प्राणायामः ।

अब “बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी पूर्णवायम्” मायक चतुर्थ प्राणायाम की विशेषविधि विस्तारपूर्वक दर्हते हैं ।

(विधि) समान्य विधि इस प्राणायाम की पूर्व यह कही गई है कि “जब इवास भीतर से बाहर को आदे तब बाहर ही कुच्छ २ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर जादे तब उस को भीतर ही थोड़ा २ रोका रहे”

अर्थात् जब प्राणवायु भीतर से बाहर निकलने लगे तब उस से विरुद्ध उस को न निकलने देने के लिये अपानवायु

को पाहर से भीतर ले और जब वह ( अपानवायु ) बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राणवायु से धक्का देकर अपानवायु की गति को भी रोकता जाय ।

इस प्रकार एक हूसरे के विरुद्ध किया करे तो दोनों प्राणों की गति रुक़ार के प्राण अपने वश में होने से भन और इन्द्रिय भी स्वाधीन होजाते हैं । चल पुरुषार्थ बढ़ कर बुद्धि पेसी तीव्र, सूक्ष्मकृप होजाती है कि बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है, इस से मनुष्य के शरीर में वीर्य बृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर चल पराक्रम और जितेन्द्रियता होती है । फिर वह मनुष्य सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर सकता है । लवी भी इसी प्रकार योगभ्यास करे । देखो योगसूत्र “प्रच्छुर्वनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य,, इस ग्रन्थ के पृ० ११३ में तथा सत्यार्थप्रकाश समु० ३ पृ० ४० में वही विधि यहाँ ज्यों की त्यों पुनरुक्त है ।

## अर्थ प्राणायाम की संचित विधि का विस्तार ।

“ऊपर से लावो प्राण और नीचे से लाओ अपान और दोनों का युद्ध नासिका में कराओ”

अर्थात् दृदय देश में ठहराने और भीतर से बाहर जाने का स्वभाव वाले प्राणवायु को ऊपरकी ओर चढ़ाकर ब्रह्मांड में होकर सूमध्य में ला कर, छिकुटी के तले स्थापित करो और नाभि के नीचे ठहरने और बाहर से भीतर आने के स्वभाववाले अपानवायुको बाहर से लाकर नासिका के छिप्पों के भीतर लेकर स्थापित करो । अब दोनों को धक्का देकर एक हूसरे के विरुद्ध किया करके लड़ाई कराओ । अर्थात् न

तो प्राण को बाहर निकलने दो और न अपान को भीतर जाने दो । इस प्रकार विस्त्र किया करने से दोनों प्राण वश में हो जाते हैं । इस प्राणायाम को करते समय मन इन्द्रियादिकों को चिकुटी में ध्यान द्वारा स्थिर करो ।

अब भगवद्गीता के अनुसार चौथे प्राणायाम की विधि लिखते हैं—वद्यमाण श्लोकों में प्राणायाम और प्रत्याहार ये दोनों योगक्रिया आ गई हैं ।

स्पर्शान् कृत्वा वहिर्दीर्घश्चकुर्वैवान्तरे भूवोः ।

प्राणापानौ सपां कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥?॥

यतेन्द्रियमनोदुद्धिर्पुर्वनिर्योक्तपरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्तेव सः ॥२॥

भ० गी० अ० ५ न्लोक० २७-२८

( वायान्—स्पर्शान्—वहिः कृत्वा ) वाय हन्द्रियों के विषयों को त्वाग फर, अर्थात् चित्त की उन हृत्तियों को कि जो इन्द्रिय नोलकों के द्वारा बाहर निकलकर तथा चारों ओर फैलकर अपनेर रूपादि विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त होकर मनको बलायनात् कर देती हैं विषयों से हटा कर और उन सम्पूर्ण हृत्तियों को भीतर की ओर मोड़कर

( चक्षुः—च—एव—भूवोः—शन्तरे—कृत्वा) और दोनों मुकुटियों के मध्य चिकुटीनामक देश में चक्षु शादि इन्द्रियों सहित मन को अर्थात् ध्यान को स्थिर करके

( नासाभ्यन्तरचारिणौ—प्राणापानौ—खगौ—कृत्वा ) नासिका के छिद्रों द्वारा ही संचार करने ( आने जाने ) का स्वभाव रखने वाले प्राण और अपान दोनों वायुओं का ( समी—कृत्वा ) समान करके, अर्थात् एक दूसरे के समुज ( रामने )-

विश्वद्वपन्न से स्थापित करके, परस्पर विश्व किया करने वाला अर्थात् वाहर निकलने के स्वभाव वाले प्राणे को वाहर न निकलने देने वाला तथा भीतर आने के स्वभाव वाले अपान को भीतर न आने देने वाला

(यः—मुनिः) जो कोई मननशील शेगी और ब्रह्मका शेष उपासक

(इतेन्द्रियमनोबुद्धिः—मोक्षपरायणः) इन्द्रिय, मन और बुद्धिको जीतनेवाला और निरन्तर मोक्षमार्गमें ही तत्पर और

(विगतेच्छाभयक्रोधः) इच्छा, भय और क्रोध से रहित होता है

(सः—सदा—मुक्त—पव) वह सदा मुक्त ही है।

## चतुर्थ प्राणायाम भगवद्गीता का दूसरा प्रमाण ।

अपाने जुहति प्राणे प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणः

अपरे नियताशाराः प्राणान् प्राणेषु जुहति ॥

म० ग०० अ० ४ श्ला० २९

(अन्वयः) अपरे नियताशाराः प्राणायामपरायणः

प्राणापानगतीरुद्ध्वा प्राणान् प्राणेषु जुहति ॥

“अत्र प्रश्नः—अपरे ते केन विधिना प्राणान् प्राणेषु जुहति ? उत्तरम्—अपाने प्राणे जुहति तथा प्राणे अपानं जुहति”

( \* अर्थ ) चुकाहारविहारपूर्वक अपने मन और शरीर को न्यौग्र और शान्त रखने वाले तथा प्राणायामों के ध्युषण में तत्पर रहने वाले अन्ययोगाभ्यासीजन प्राणवायु तथा अपानवायु हन दोनों की गति को रोककर प्राणों में प्राणों का हवन करते हैं “इस विषय में प्रश्न आया कि वे अन्यद्योगीजन किस विधि से प्राणों में प्राणों का हवन करते हैं ?” उत्तर यह है कि अपान में प्राण का हवन करते हैं तथा प्राण में अपान का हवन करते हैं ॥

इस प्राणों के युद्धक्षयी देवातुर संग्राम में दोनों प्राणों के परमाणुओं का ऐसा संगम हो जाता है कि मानो जह और हुन्द के संयेलन करने से उनके परमाणुओं का संयोग होकर अर्थात् दोनों शापस में रल मिलकर अन्योन्य सायुज्य से लय हो गये हैं ।

कु टिष्ठय — भगवद्गीता के चतुर्थांश्याय के इस उन्तीनवें श्लोक के साथ इससे पूर्व के श्लोकों की संतानि है । जहाँ प्रथम से जपयोग, तपोयोग, अग्निहोत्रादि कर्मयोग में तत्पर धर्मतिष्ठ ज्ञोर्दि का वर्णन किया गया है कि कोई किसी प्रकार और ज्ञोर्दि किसी प्रकार धर्म मार्ग में प्रवृत्त है । वहाँ यह भी कथन है कि शोगाभ्यास में तत्पर अन्य योगी-जन प्राणों में प्राणों का हवन करते हैं, अर्थात् गार्हपत्याग्नि आहवनीयाग्नि और दक्षिणाग्नि इन तीन अग्नियों के अग्निहोत्रादि होम को संचालनाश्रम में त्याग कर निरन्तर होकर उच्च होमादि कर्म के स्थान में प्राणों में प्राणों का होम करते हैं ॥

अर्थात् इस चौथे प्राणायाम की क्रिया को ही प्राणों में प्राणों का सय करना वा प्राणों में प्राणों का हवन करना कहते हैं।

इष चतुर्थ प्राणायाम को ही शतपथ ग्राहण के चक्रमाण प्रसाणानुसार प्राणों की लड्डाई देवासुरसंग्राम भी कहते हैं, क्योंकि प्राण घनका देकर अपान की गति को जीतकर उसे भीतर नहीं आने देता, इसी प्रकार अपान भी प्राण को घाहर निकलने नहीं देता।

## श्री व्यासद्व मुनि तथा महीष स्वामी द्यानन्द सरस्वती सम्पादित चारों प्राणायामों की विधि ।

प्राणायामों की क्रिया के विषय में अनेक भ्रमजन्य विश्वास लोक में सम्प्रति हो रहे हैं- अनपद श्री व्यासदेव हुनिहृत योगभाष्य के अनुसार जिसको कि श्री भगवान् ख्वामी द्यानन्द सरस्वती जी ने स्वमन्तव्य सिद्धान्तरूप से सत्प्रखीउ कृष्णदेवादिभाष्यसूमिका में आवश्यकतालुकूल लिज द्विष्पणसहित प्रतिपादन किया है। मैं फिर इस विषय को स्वप्रतया प्रकाशित करने के हेतु लीचे लिखता हूँ। इस विषय में प्रबोध करने से पूर्व श्रद्धे प्रकार समझ सेना उचित है कि प्राणायाम किसको कहते हैं। सो पूर्वोंक पातल योगसूत्र में कह दिया गया है कि—

तस्मिन्स्तिश्वासप्रश्वासयोर्गच्छेदः प्राणायामः ।

इहासन पूर्वक निष्काल निष्काल्प सुखपूर्वक स्थित होकर श्वास और प्रश्वास की गति को दोकरने को प्राणायाम कहते

हैं। अर्थात् शरीरस्थ वायु ( प्राणों ) के सञ्चार को रोक कर उन प्राणों ( ) को अपने वश में कर लेना प्राणायाम कहाता है। इस सूत्र पर श्रीव्यासदेवजी अपने भाष्य में कहते हैं कि—

सत्यासनजये वाद्यस्य वायोराचमन श्वासः ।  
काप्ताचस्य वायोनिन्सारणं पश्वासस्तयोर्गतिवि-  
च्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ व्या० दे० या० ॥

जब कोई योगासन करने को उपलिखित हो तो प्रथम अपना आसन जमा ले, तदनन्तर अर्थात् आसन सिद्ध हो जाने के पश्चात् जो बाहर के वायु का आचमन करना ( पीना वा भीतर ले जाना ) है, उसको तो श्वास कहते हैं और कोष ( पेट ) में भरे हुवे वायु के बाहर निकालने को प्रश्वास कहते हैं। इस प्रकार श्वास के भीतर आने और प्रश्वास के बाहर निकालने की जो दो प्रकार की गतियाँ हैं, उन दोनों चालों का रोकना रूप जो प्राणनन्दन का अभाव है, वही प्राणायाम कहाता है इस भाष्य के द्विष्पर्णरूप भाष्य में श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का भी कथन ऐसा ही है कि—

आसने सम्यक्सिद्धे कृते वाद्याभ्यन्तरगधनशीलस्य  
वायोऽशुक्त्या शनैःशनैःरभ्यासेन जयकरणमर्थात् स्थिरी-  
कृत्य गतनभावकरणं प्राणायामः ॥ ( भू० पृ० १७५ )

आसन अच्छे प्रकार सिद्ध हो जाने के उपरान्त बाहर भीतर आने जाने का स्वभाव रखने वाले वायु का युक्तिपूर्वक धीरे धीरे अभ्यास करके जय ( वश ) में कर लेना अर्थात् उस वायु को स्थिर करके उसकी भाँति ( जाल का संचार ) का अभाव करना प्राणायाम कहाता है। इन दोनों महर्षियों के कथन में चारों प्राणायामों का संक्षिप्त सामान्य पर्खन किया

गया है आगे फिर चारों की विधि दो योगमूलों में जो कही है, सो यह है कि-

**सतु वाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिवृष्टोदीर्घसूक्ष्मः । वाह्याभ्यन्तरविपयाक्षेपी चतुर्धः ॥**

परन्तु वह (प्राणायाम) चार प्रकार का होता है । एक तो “दात्रविषय” दूसरा “आभ्यन्तरविषय” तीसरा “स्तम्भवृत्ति” और चौथा “वाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी” ।

इन चारोंमें नियन्त्रेश का नियम, काल और संख्याका परिमाण,(परिवृष्टः)अर्थात् जिस प्राणायाम और उसकी धारणा के लिये जोर स्थान नियत है, उस न में जितनी देर होसके उतनी देर तक ओरेम् यम्हामन्त्र की मनसिक उच्चारणपूर्णक संख्या करके ध्यान को चारों ओरसे समेटकर उसी एक रथः न में हान-हृषिद्वारा हड्हता से उहरा कर श्वास प्रश्वास की गति को रोकना चाहिए ( दीर्घसूक्ष्मः ) उक्त रीति से जो कोई ( यथा बूतन योगी ) शोड़ी देर ही प्राणायाम कर सके तो उसको सूक्ष्म प्राणायाम जानो और जो कोई कृताभ्यास योगी अधिक समय तक प्राणों की गति का अचरोध कर सके उसको दीर्घ प्राणायाम जानो ।

“ सतु वाह्याभ्यन्तरर० ” इस सूत्र में तीन प्राणायामों की विधि है, उस्पर व्यासदेव जी का भाष्य आगे लिखते हैं । यत्र प्रश्वासपूर्व को गत्यभावः सं वाह्यः ॥ १ ॥

यत्र श्वासपूर्व को गत्यभावः स आभ्यन्तर ॥ २ ॥

तृतीयस्तम्भवृत्तिर्दीर्घत्रोभयाभावाः सञ्छुत्ययत्नाद्ववति

यथा तप्तन्यस्तम्भुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्सुर्गपद्मगत्यभाव इति ॥ व्या० दे० भा० ॥

जहाँ ( जिस प्राणायाम में ) प्रश्वासपूर्वक ( प्राणवायु की ) गति का अभाव हो, उसको “ वाह्यविषय ” ( प्रथम ) प्राणायाम कहते हैं ॥ २ ॥

जहाँ श्वासपूर्वक ( अपानवायु की ) गति का अभाव हो, उसको “ आङ्गन्तरविषय ” ( द्वितीय ) प्राणायाम कहते हैं ॥ २ ॥

तीसरा स्तम्भवृत्ति प्राणायाम कहाता है, जिसमें श्वास और प्रश्वास दोनों की गति का अभाव ( सकृत्यत्वात् ) एक दम वायु को जहाँ का तहाँ ज्यों का त्यों एक ही बार में ध्यान को झट से दृढ़ करके ज्ञानदृष्टि द्वारा प्रयत्न करके एक साथ ही रोक कर किया जाता है । इसमें द्वयान्त है कि जैसे तपते हुये गरम पत्थर पर डाला हुआ जल सब और से संकुचित होता [ सुकूङ्हता ] जाता है । इसी प्रकार श्वास और प्रश्वास [ अपान और प्राण वायु ] दोनों की गति का एक साथ अभाव किया जाता है ।

जल फा स्वभाव फैलने का है । अर्थात् जहाँ गिरता है । वहाँ पर फैल कर अपना प्रवेश किया चाहता है, परन्तु जब गरम पत्थर पर गिरता है, तब तनिक भी नहीं फैलने पाता, ग्रस्तुत फैलने के स्थान में गिरते के साथ ही सिकुड़ने लगता है । इसही प्रकार वायु का स्वभाव गति [ विचरना ] है, किन्तु स्तम्भवृत्ति प्राणायाम करते समय ध्यान ठहराने के साथ ही दोनों प्राण जहाँ से तहाँ एक ही साथ तत्क्षण रोके जाते हैं ।

ऊपर कही विधि में सर्वत्र ध्यान ठहरा कर ज्ञानदृष्टिद्वारा प्राणायाम करना बताया गया है, न कि आङ्गुलियों से नक्सोरे द्वाया कर या अन्य प्रकार श्वास खींच कर । इस विषय का भी प्रमाण भीमान् स्वामी द्वानन्द सरस्वती जी जी बताई हुई विधि में आगे कहते हैं ।

वालवुद्धिभिरङ्गुलयं गुणाभ्यां नासिकात्रिदमवरुद्ध्य-  
प्राणायामाः । क्रियते सखलु शिष्ठेस्त्याज्य एवास्ति, कि-  
न्चत्र वाहास्यन्तराङ्गेषु शान्तिर्शथिलये सम्पाद्यसर्वाङ्गेषु य-  
थावत् स्थितेषु सत्यु वाहादेशं गतं प्राणं तत्रैव यथाशक्ति  
संरुद्ध्य प्रथमोवाहारूप्यः प्राणायामाः कर्त्तव्यः ॥ १ ॥ त-  
पोपासफैयोवाहादेशादन्तः प्रधिशति तस्याभ्यन्तर एवय-  
थाशक्ति निरोधः क्रियते रा आभ्यन्तराद्वितीयः सेवनीयः  
पूर्वः ॥ एवं वाहाभ्यान्तराभ्यापत्तुष्टताभ्यां द्वाभ्यां कदाचिद्दु-  
भयोर्युगपत्सरोधो यः क्रियते सस्तन्त्रनृचिस्त्रुतीयः प्राणा-  
यापोऽध्यसनीयः ॥ २ ॥ भू० पू० २७५

वालवुद्धि आर्थात् प्राणायाम की जिया थौर थोगविद्या में  
आनभिद्ध लोग अंगुलियों और अंगुठे से नक्सोरों को बन्द क-  
रके जो प्राणायाम किया करते हैं, यह रीति विद्वानों को अव-  
श्यमेव छोड़ देनी चाहिये । किन्तु विच्च की समूर्ख वृत्तियों  
तथा मन और इन्द्रियों की चंचलता और चेष्टा को शिथिल  
करके ( रोक कर ) धन्तःकरण को रागद्वेषादि दुश्चारों से  
हटा कर तथा वाह्य और आभ्यन्तर इन्डियों और अङ्गोंमें शा-  
न्ति और शिथिलता ( निश्चलता ) सम्पादन करके, सब अङ्गों  
को यथावत् स्थित करके अर्थात् सुख से सुस्थिर आसन पूर-  
र्वक वैठ कर, वाहर निकले हुए प्राण चायु को बहीं ( वाहर  
ही ) शथा शक्ति ( जितनी देर हो [सके उतनी देर ] रोक कर  
प्रथम नामघाता प्राणायाम किया जाता है ॥ १ ॥

तथा वाहर से जो ( अपान ) चायु देह के भीतर प्रवेश  
करता है, उस का जी उपासक ( योगी ) जन भीतर ही यथा

शक्ति निरोध करते हैं, इस विधि से सेवनीय दूसरा अर्थात् आभ्यन्तर प्राणायाम कहाता है ॥ २ ॥

इस प्रकार दोनों वाह्य और आभ्यन्तर प्राणायामों का अनुष्ठान ( सीख कर पूर्ण आभ्यास ) करके प्राण और अपान दोनों वायुओं का जब कभी जो ( युगपत्संरोधः ) एक दम से अच्छे प्रकार निरोध किया जाता है सो तो सरा स्तम्भवृत्ति नामक प्राणायाम उक्त विधि से ही आभ्यास करने योग्य है ।

आगे चौथे प्राणायाम की विधि कहते हैं ।

देशकालसंख्याभिर्वाहविषयः परिद्वषः आऽक्षमः तथा आभ्यन्तरविषयः परिद्वष आक्षिम उभयथा दीर्घमूल्यः तत्पूर्वको भूमिनयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामस्तुतीयस्तु विषयानालांचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसंख्याभिः परिद्विषो दीर्घमूल्यमश्चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयात्रभागणात् क्रमेण भूमिनयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्यर्थं विशेष इति यः प्राणायाम उभयाक्षेपी स चतुर्थं गच्छते ॥ व्याद भाव

( ' वाहाभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः ' ) यह जो योगदर्शन का चतुर्थ प्राणायाम विषयक पूर्वोक्त सूत्र है, उस पर श्रीयुत व्यासदेवजीने भाष्य करने में चारों प्राणायामों का भेद पृथक् पृथक् दर्शाकर चतुर्थ प्राणायाम में जो विलक्षणता जाताई है। सो आगे कहते हैं कि—

वाहाविषयनामक प्रथम प्राणायाम में तो देश, काल और संख्या करके परिद्वष 'प्राणवायु' वाहर फेंका जाता है और आभ्यन्तर विषय नामक दूसरे प्राणायाम में देश, काल और संख्या करके परिद्वष 'आपत्तवायु' भी तर जो फेंका जाता है (उभयथा दीर्घ-

सूक्ष्मः ) काल और संख्या के परिमाण से दोनों प्राणायाम दीर्घ तथा सूक्ष्म होता है ( तत्पूर्वकः ) ये दोनों प्राणायाम कम पूर्वक अभ्यास करते २ ( भूमिजयात् ) जब अच्छे प्रकार परिपक्ष हो जाय, अर्थात् प्रथम प्राणायाम तो अपनी नासिका भूमि में जब पक्का हो जाय फिर दूसरे प्राणायाम का अभ्यास भी जब नहीं भूमि में परिपक्क हो जाय, इस क्रम से जब दोनों प्राणायाम की क्रिया खील कर पक्का अभ्यास हो जाये तब प्राण और अपान इन दोनों की गति के अभाव ( रोकने ) से चतुर्थ प्राणायाम किया जाता है ।

तीसरे और चौथे प्राणायामों में भेद यह है कि प्राणवायु का विषय नासिका और अपान का विषय नाभि चक्र है, इन दोनों विषयों का लक्ष्य वा विचार किये विना ही आरम्भ करने के साथ तीसरे प्राणायाम में एक बार ही दोनों प्राणों की गति गति का अभाव किया जाता है और देश, काल, संख्या से परिवृष्ट दीर्घ सूक्ष्म यह ( तीसरा ) प्राणायाम भी होता है किन्तु चौथे प्राणायाम में पूर्थम तो क्रम पूर्वक पूर्थम और द्वितीय प्राणायामों की भूमियों में अभ्यास परिपक्क करना होता है, पश्चात् श्वास और पश्चास ( अपान और प्राण ) इन दोनों के विषयों ( नाभि और नासिका नामक भूमियों ) का लक्ष्य करके ( उभयाक्षेप पूर्वकः ) प्राण को बाहर की ओर और अपान को भीतर की ओर फेंकते हुये दोनों की गति को रोकना होता है । अतः जो उभयाक्षेपी \* प्राणायाम है उसी

---

\* द्विप्राण - चौथे प्राणायाम को उभयाक्षेपी इस विधि से करनी होती है कि इस में प्राण को बाहर निकालने और अपान को भीतर लेने की दोनों क्रियाएं जो एक दूसरे के विरुद्ध हैं, की जानी हैं और दोनों प्राणों में धक्कमधक्क का संग्राम तुल्य होता है ।

को चतुर्थं प्राणायाम कहते हैं। इस चौथे प्राणायाम में यही विशेषता है।

चतुर्थं प्राणायाम के विषय में श्री स्यामी दयानन्द सर-  
स्वती जी की विधि आगे कहते हैं ॥

नवथा—यदोदराद्वाहादेशं प्रति गन्तुं प्रथमक्षणे प्र-  
दृत्तते तं संलक्ष्य पुनः वाहादेशं प्रत्येव प्राणाः प्रज्ञेसव्याः  
पुनश्च यदा वाहादेशादाभ्यन्तरं प्रथममा गच्छेत्तमाभ्य-  
न्तर एव पुनः च यथाशक्ति गृहीत्वा तत्रैव स्तम्भयेत्स द्वि-  
तीय एवं द्वयोरेतयोः क्रमेणाभ्यासेन गन्यभावः क्रियते सः  
चतुर्थः प्राणायामः ॥ ( भू० प० १७५, १७६ )

यस्तु खलु तृतीयोऽस्ति स नैव व्राह्माभ्यन्तराम्या-  
सस्यापेक्षां करोति किन्तु यत्र यत्र देशे प्राणौ वर्तते तत्र  
तत्रैव सकृत्स्तम्भनीयः ( भू० प० १७६ )

### ( आश्चर्य दर्शन )

यथा किमप्यद्युतं हृष्ट्रा मनुष्यश्चक्षितो भवति तथैव  
कार्यमित्यर्थः ॥ ( भू० प० १७६ )

( तथ्याः— ) उस चतुर्थं प्राणायाम की क्रिया इस विधि  
से करनी होती है कि जब प्रथम प्राणायाम करते समय प्रथम  
क्षण में पेट से बाहर को जाने के लिये जो प्राणवायु प्रवृत्त  
होता है, उस को ( संलक्ष्य = यह व्यासदेव जी के भाष्य में  
कहे 'परिष्ठप्तः' पद का अर्थ है कि-अच्छे प्रकार लक्ष्य कर ले-  
ने के उपरान्त नासिका के बाहर बाले देश की ओर प्रणो तो  
फैकना ( अर्थात् मवनवत् बलपूर्वक बाहर निकालना ) आ-

हिये । यह तो प्रथम प्राणायाम की सी विधि हुई । तदनन्तर जब नासिका के बाहर बाले देश से भीतर नाभि की ओर आने लगे तब प्राणों को भीतर की ओर आने के प्रथम क्षण में ही भीतर को अहण करके बाहरवार यथा शक्ति ( जितनी देर सुख पूर्ववक दोसके उतनी देर ) प्राणों को (शपानघायु) को भीतर ही रोकता रहे । यह दूसरे प्राणायाम की विधि हुई इस प्रकार जब क्रमशः इन दोनों प्राणायामों को अभ्यास करते २ परिपक्क कर ले तब प्राण और अपान इन दोनों प्राणों की गति के अभाव नाम रोकने के लिये जो क्रिया की जाती है, वही चौथा प्राणायाम है ।

परन्तु तीसरा जो प्राणायाम है वह बाह्यविषयनामक प्रथम तथा आम्यन्तर विषयनामक दूसरे प्राणायामों के अभ्यास करने की अपेक्षा नहीं करता प्रत्युत जिस २ देश में जो २ प्राण वर्तमान हैं उस २ को बहाँ का बहीं ( सहृद ) एकदम झट से रोक देना चाहिये । अर्थात् तीसरे प्राणायाम करते समय न तो प्राण को बाहर निकालने और न अपान को भीतर लेने की क्रिया करनी होती है । अतएव प्रथम और दूसरे प्राणायामों को सीखने और अभ्यास करने की कुछ अपेक्षा इस तीसरे प्राणायाम में नहीं होती, अर्थात् पूर्थम और दूसरा प्राणायाम सीधे विना भी तीसरा प्राणायाम सिखाया जा सकता है । परन्तु चौथा प्राणायाम विना प्रथम और छठीय प्राणायामों के सीधे कदापि नहीं सीखा जा सकता । यही तीसरे और चौथे प्राणायामों में विलक्षणता है ॥

जिन दो योगी महानुभावों की उपनिषद् प्राणायाम की क्रिया ऊपर लिखी हैं, उन दोनों की विधियों में चौथे प्राणायाम की क्रिया के उपदेश में पूर्व के तीनों प्राणायामों का

वर्दुन सी पाया जाता है। तो इस अभिप्राय से है कि चारों प्राणायामों का नेत्र अच्छे प्रकार बनाया जाकर इन की चिकित्साएँ में भ्रम न पढ़े, क्योंकि प्राण और अपान इन दो पूर्णों की ही गति के रोकने का प्रयत्न चारों में है ॥

## आश्चर्य दर्शन से चकित होकर योग के सिद्ध होने का निश्चय ।

( यथा किञ्चन्यद्वृत्तं ) जिस प्रकार कोई अहुन वार्ता देखकर मनुष्य चकित हो जाता है, ऐसा तीव्र और प्रबल मुहूर्धार्थ इन प्राणायामों के अन्यात लगने में करना उचित है। अभिप्राय यह है कि चौथे प्राणायाम के सिद्ध होनाने के पश्चात् जद निरन्तर ( अनध्यायरहित ) ऋद्धिक २ देर तक सहायि का अनुष्ठान करते २ कुछ काल व्यवसेत होता है तो मनुष्य को अपने जीवात्मा का हान होता है, तब चकित होकर बड़ा आश्चर्य सा उत्पन्न होता है, जिस का बाणीहारा मनुष्य कुछ कथन नहीं कर सकता। उत्पन्न शीघ्र ही परमात्मा को भी वह मनुष्य विचार लेता है तब तो अत्यन्त ही विस्मय में मनुष्य रह जाता है। इतः उपरोक्त संस्कृत वाक्य से स्वामी जी का यहो आशय है कि ऐसा प्रबल प्रयत्न करे जिस से आत्मा और परमात्मा को जानकर भोक्त्र श्रापत हो। जीवात्मा भी एक अहुत ददार्थ है, जिसको अपना जान जय होता है, तब अति चित्तिमुखीत विनश्यति । जैसा अगली श्रुति में कहा है—

ओ—न चूनमग्निं नो रवः कस्त्वेन यद्गुणतम् ।

अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरत्पुत्रार्थीतं विनश्यति ।

मृ० अ०२ । अ०३ । द० ४ । म० ५ । अ० स० ६० । म० ७ ।

( अर्थ ) हे+मनुष्याः = हे मनुष्यो यत्+अन्यस्य+सञ्चरे-  
वयं = समरकूचरितुं शातुं योग्यम्)+चित्तम्=(अन्तःकरणस्य  
स्मरणात्मिकांवृत्तिम् +उत्त+आधीतम्= आ समन्वात्+धृतम्  
जो + औरों को + अच्छे प्रकार से जानने योग्य+चित्त  
अर्थात् अन्तःकरण की स्मरणात्मिका वृत्ति+आौर+सब और  
धारण किया हुआ विषय न+अभि-दि-नश्यति = नहीं विनाश  
को प्राप्त होता न+“अद्य—भूत्वा” + नूनम् + अस्ति “आज  
होकर” + निवित रहता है नो+इवः—“व”= और न अगले  
दिन निवित रहता है । तत्+अद्यनम्+तत्+अद्यनम्+कः+वेद  
उस+आध्यर्यस्वरूप के समान वर्तमान को+कौन+जानता है ।

( भावार्थ ) जो जीवरूप होकर उत्पन्न नहीं होता और  
न उत्पन्न होकर विनाश को प्राप्त होता है नित्य आध्यर्य गुण  
कर्म स्वभाव वाला अनादि वेतन है; उसका जानने वाला भी  
आध्यर्यरूप होता है अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही  
आध्यर्यस्वरूप है ।

## देवासुरसंग्राम ।

सत्य शास्त्रों के अनुकूल जो देवासुरसंग्राम की कथा है,  
वह निरुक्त तथा शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों में रूपकालकार से  
याप्तानश्यतः वर्णन की गई है । वहां वास्तविक देव और  
आसुरों का विवेचन करते समय मनुष्य का मन और ज्ञान  
इन्द्रियों देवता माने गये हैं । मनको राजा तथा इन्द्रियों को  
उसकी सेना मानी है और प्राणों का नाम असुर रक्षा है,  
उनमें राजा प्राण और अपानादि अन्य प्राण उसकी सेना में  
गिनती हैं । इनका भी परस्पर विरोधकूप युद्ध हुआ करता है  
मन का विज्ञानवल बढ़ने से प्राणों का निश्रह ( पराजय ) और

प्राणीं को प्रवत्तता प्राप्त होने से मन आदि का निश्चह (परांजय) हो जाता है। यह उक्त कथां का आशय है।

ईश्वर, प्रकाश के परमाणुओं से मन पंचकालेन्द्रिय, उनके परस्पर संयोग तथा सूर्य आदि को रचता है। जो प्रकाश के परमाणुओं वा द्वानकृपो प्रकाश से युक्त होने के कारण हुर [देव] कहाते हैं और अन्धकार के परमाणुओं से पांच प्रभेन्द्रिय दश प्राण और पृथिवी आदि लोकों को रचता है। जो प्रकाशरहित होने के कारण असुर कहाते हैं; उनका परस्पर विरोध रूप युक्त नित्य होता है।

देवसंक्षक मन तथा इन्द्रियगण प्राणादि असुरों को जीत कर इनको अपने वश म करके अपना काम लेते हैं। किन्तु मृत्यु समय पूरण जिनको यम भी कहते हैं, पूछल हो जाते हैं। तब ये ही यम गण मन इन्द्रिय आदि सहित जीवात्मा को उसके कर्मानुसार जिस र स्थान में जाने का वह भागी होता है, वहां ले जाते हैं।

[ भ० प० २० २८७-२९० ]

## वीर्याकर्षक प्रणायाम अर्थात्

### ऊर्ध्वरेता होने की विधि

योगमार्ग में पृष्ठुति रखने वाले जिक्षासुओं के कल्याणार्थ दो प्राणायाम आगे और भी कहे जाते हैं, इनमें से पक का नाम “वीर्याकर्षक वा वीर्यस्तम्भक प्राणायाम” और दूसरे का नाम “गर्भस्थापक प्राणायाम” जानो। उनकी विधि और फल क्रमशः नीचे लिखते हैं।

### वीर्याकर्षक प्रणायाम ।

( सामान्य विधि ) पूर्थम नाभि में ध्यान ठहरा कर

ध्यान से ही अगनवायु को दक्षिण नासाद्विद द्वारा उदर में भरे और कुछ देर अर्धात् जितनी देर सुखपूर्वक होसके उतनी देर वहीं ठहरा कर वामनासारन्ध से धीरे २ बाहर निकाल कर जितनी देर सुख पूर्वक हो सके बाहर भी रोके । दूसरी बाहर वामनासारन्ध द्वारा उसी प्रकार भरे, रोके और दक्षिण नासिकाद्विद से बाहर छोड़दे । इतनी क्रिया को एक पूणायाम जानकर ऐसे कम से फम सात प्राणायाम धरने से धीर्य का स्वम्भन और आकर्षण होने से धीर्य वृथा क्षय नहीं होता ।

[ विशेषधिति ] यह कोई नियम नहीं कि पूर्यम दाहिने ही नथने से भरे और वाँचे से छोड़े, किन्तु नियम यह है कि किसी एक नथने से भरे और दूसरे से छोड़े । अतः अपान वायु को भरते समय पूर्यम नाभि में ध्यान ठहरा कर एक नथन से [ अपान वायु का ] उदर में भरे, फिर शोषिता से ध्यान से ही दोनों नथनों को बन्द करदे और जितना सामर्थ्य हो उतनी देर वहीं रोककर दूसरे नथन से धीरे धीरे बाहर निकाल दे । जब तक कामदेव का चेग और हन्त्रिय शान्त न हो, तब तक यही क्रिया चारंबार करता रहे । जब शान्त हो जाय तब भी कुछ देर इस पूणायाम को करता रहे, जिससे धीर्य ऊपर चढ़ जाने से शेष न रहने पावे ।

( फल ) इस प्राणायाम के करने से प्रदर और प्रमेहादि से दुःखित स्त्री पुरुष का रज और धीर्य लघुशंका द्वारा बाहर निकल जाया करता है और जिसके कारण वे प्रतिदिन निर्बल होते जाते हैं वह ( रज, धीर्य ) क्षय न होकर भ्रातुर्जीए दोग जाता है । अथवा जब कभी अकस्मात् कामोहीन होकर तथा स्वप्नावस्था में सोते समय स्वप्न द्वारा रज वा धीर्य स्वलिंग होजाने की शंका हो सो सावधान और सचेत होकर

भट्टपट उठकर तत्काल ही इस प्राणायाम के कर लेने से वीर्य अपने ठहरने के दथान ब्रह्मार्घड में आकर्पित होकर ऊपर चढ़ जाता है और इन्द्रिय शान्त होकर कामदेव का वेग शान्त हो जाता है और उपासक योगी ऊर्ध्वरेता होता है। इस प्रकार सुरक्षित वीर्य की वृद्धि होकर शरीर में बल, पराक्रम, आरोग्य, वैर्य और शुद्धि की वृद्धि होती है।

यह प्राणायाम धृष्ट सिद्ध कर सकता है कि जिसने प्रथम और द्वितीय प्राणायाम सिद्ध कर लिये हैं।

( परीक्षा ) वीर्य चढ़ जाने की परीक्षा इस प्रकार की जाती है कि प्राणायाम फर चुकने पर उस ही समय लघुश्युका करने में तार न आवे तो जानो कि वीर्य का आकर्षण भली भाँति हो गया।

जब स्त्री पुरुष के प्रकान्न सहधार आदि समयों में कामों इन्द्रियों द्वारा नवसर हो, उस समय भी इस प्राणायाम को करने से कामदेव का वेग रुक्कर इन्द्रिय शान्त और वीर्य का आकर्षण होता है।

इस प्राणायामकी क्रियामें अपान वायु वीर्यका स्तम्भनकर के बाहर नहीं निकलने देता और प्रातः वायु उतरे हुये वायुको ब्रह्मार्घड में चढ़ा ते जाता है। अतएव इसके दो नाम हैं। वीर्यकिंपक प्राणायाम तथा वीर्यस्तामक प्राणायाम।

## संस्थापक प्राणायाम ।

अथात्

गर्भधान विधि ।

वीर्यप्रक्षेप के समय पुरुष प्राणवायु को धीरे रहीला छोड़े और स्त्री अपान वायु को आवश्यक बल पूर्वक करे, यही गर्भस्थापन का प्राणायाम है।

परन्तु जो स्त्री और पुरुष दोनों जने प्राणायामादि योग-क्रिया को जानते हैं वेदी इसप्रकार गर्भाधानक्रिया कर सकते हैं अन्य नहीं ।

इस विधि से गर्भस्थापन करने पर यदि तीन ऋतुकालों में भी गर्भस्थिति न हो तो जो स्त्री वा पुरुष रोगी हूँ वह अच्छे वैद्य से अपने रोग का निदान और चिकित्सा करावें । अन्या स्त्री का कुछ भी उपाय नहीं हो सकता ।

( फल ) इस प्राणायाम के करने से योगमार्ग में प्रवृत्त और सन्तानोत्पत्ति के अभिलाषी गृहस्थी जिज्ञासु की ऋतु-दानक्रिया व्यर्थ नहीं जाती, अर्थात् गर्भस्थिति अवश्य होती है अतः उसके शरीर का वीर्य अनेक बार वृथा कीण न होने से पराक्रमादि यथावत् बने रहते हैं और उसके संसार और परमार्थ दोनों साथ २ सिद्ध होते चले जाते हैं ।

इस विषय की विस्तृत विधि स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत संस्कारविधि में देखो ।

ओं—या जामयो वृष्ण इच्छन्तिशक्ति नमस्यन्ती-  
ज्ञानते गर्भपस्तिन् । अच्छा पुत्रं धेनवो वावशाना  
महथरन्ति विभ्रतं वपुंपि ॥

ऋ० आ०३ । अ०४ । व०२ । म०३ । अ०५ । द०० ५७ । मन्त्र ३ ।  
( अर्थ ) याः॥नमस्यन्तीः॥( ब्रह्मचारिणः )

जामयः॥( प्राप्तचतुर्विंशतिवर्षी युवनयः )

जो॥सत्कार करती हुई॥चौचीस वर्ष की अवस्था को  
प्राप्त युवती ब्रह्मचारिणी स्त्रिया

वृष्णो—( वीर्यसे उत्समर्थाय प्राप्तचत्वारिंशत्पर्वाच ब्रह्मचा-  
रिणे )॥इच्छन्ति वीर्यसेवन में समर्थ चालीस वर्षकी शायु को

प्राप्त व्यवहारी के लिये सामर्थ्य की इच्छा करती है—और अस्मिन् कर्मयुक्ति धन्तु<sup>\*</sup> जानते इस संसार में कर्म के धारण करने को जानती हैं।

“ताः—पतीन्+वावशानः

“वे—पतियों की,, कामना करतीःदुई”

थेनवः—“वृषभान्-इव,,+महः+वपूषि+  
विभ्रतम्+अच्छ्वः+चरन्ति

विद्या और उत्तम शिक्षायुक्त व्यालियों के सदृश वर्त्त मान गौर जैसे द्वृपदों का वसे+वडे पूज्य+कर वाले शरीरों को धारण और पोषण करने वाले \*श्रुति पुत्र को ब्रह्मण करती हैं।

भावार्थः—वे ही कन्याएँ मुख को प्राप्त होती हैं कि जो अपने से दुरुनी विद्या और शरीर, वल वाले अपने सदृश प्रेमी पतियों की उत्तम प्रकार परीक्षा करके स्वीकार करती हैं। वैसे ही पुरुष लोग भी प्रेमपात्र दिव्यों को ब्रह्मण करते हैं, वे ही परस्पर प्रीतिपूर्वक अनुकूल व्यवहार से वीर्यस्थापन और आकर्षण विद्या को जान, गर्भ को धारण, उसका उत्तम प्रकार पालन, सब संस्कारों को करके वडे भाग्य वाले पुत्रों को उत्पन्न कर अनुल आनन्द और विजय को पूर्ण होते हैं, इस से विपरीत व्यवहार से नहीं।

## प्राणायामों का फल ।

अगले दो स्त्रों में पूर्वोक्त चतुर्विध प्राणायामों का फल कहा है।

ततःक्षीयते प्रकाशावरणम् ।

किञ्च धारणासुच योग्यता दनसः ॥

यो० पा० २ सूत्र ५१-५२ ( १७७ )

( अर्थ ) इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के शान का ढकने वाला आवरण जो अग्नान है, वह नित्यपूर्ति नष्ट होता जाता है और शान का प्रकाश धीरे धीरे घटता जाता है । ५१ ।

इस अभ्यास से यह भी फल होता है कि परमेश्वर के बीचमें मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्षपर्यन्त उपासनायोग और शानकी योग्यता घटती जाती है तथा उससे ध्यवहार और परमार्थका विवेक भी बराबर घटता रहता है ।

दृष्टन्ते ध्यायमानार्थं धातुनां च यथामलाः ।

तथेन्द्रियाणां दृष्टन्ते दोषः प्राणस्य निग्रहात् ॥

(अर्थ) जैसे अग्नि में तपाने से सुबरण आदि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निमेल हो जाते हैं ।

प्राणाय “ध्यानयोग” का चौथा अङ्ग है ।

आगे प्राणायाम का फल श्रुतिप्रमाणद्वारा कहते हैं ।

आम्-अविने मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्था अमृतो ग्रहाभ्याम् । सरस्वत्युपवाकैव्यानं नस्यानि वर्हिवदैर्जेजान । य०अ० १६३०६०

[ अर्थ ] “यथा” ग्रहाभ्याम् “सह”

जैसे ग्रहण करने हारों के साथ

सरस्वती०घदरे०उपवाकै०जजान

प्रशस्त विज्ञानयुक्त स्त्री०वेरों के समान+सामीप्यभाव किया ज्ञाय जिनसे उन कर्मों से +उत्पत्ति करती है ।

[ \* अच्छा = अच्छु अत्र संहितायात्मति दीधः ]

“तथा,, वीर्याय नसि प्राणस्य अमृतः पन्था:

“उसी प्रकार,, जो वीर्य के लिये नासिका में प्राण का नित्यमार्ग “वा,,

मेषः१ अधिः२ न इत्पानम् ८ नस्यानि ५ चर्दि॑ उपयुज्यते,,  
दूखरे से स्पर्द्धा करने वाला १ और जो रक्षा करता है उसके २ समान, सब शरीर में व्यास वायु ३ नासिका के हितकारक धातु और ४ यढ़ाने हारा ५ उपयुक्त किया जाता है ॥

**भावार्थः—**जैसे धार्मिक न्यायाधीश प्रजा की रक्षा करता है, वैसे ही प्राणायामादि से अच्छे प्रकार सिद्ध किये हुये प्राण, योगियों को सब दुष्टों से रक्षा करते हैं। जैसे विदुषी माता विद्या और अच्छी शिक्षा से अपने सन्तानों को बढ़ाती है वैसे ही मनुष्यान किये हुये योग के अङ्ग योगियों को बढ़ाते हैं।

प्राणायाम करने से पूर्व इस चार प्रकार की बाणी को जानना आवश्यक है। जैसा कि निम्नलिखित मन्त्र में उपदेश है ।

वन्नाजा सीमनदतीरदधा दिवो यह्नीरवसाना  
अनरनाः । सना अत्र युवतयः सयोनीरेकं गर्भन्दधिरे  
सप्त बाणीः ॥ ६ ॥

अ० २ । अ० ८ । व० १३ । म० ३ । द० १ । स० ६

**पदार्थः—**हे मनुष्यो ! जैसे विद्वान् [सन बाणीः] सात बाणीयों को [सीम्] सब ओर से [घनाज] प्राप्त होता है, वैसे [आव] यहां [अनदतीः] अविद्यमान अर्थात् अतीव सूक्ष्म जिन के दन्त [अदध्याः] अहिंसनीय अर्थात् स्तकार करने योग्य [दिवः] देवोप्यग्रान् [यह्नीः] बहुत विद्या और गुण स्वभाव से युक्त [अवस्थानाः] समीप में ठहरी हुई [इनग्नाः] सब ओर से आभूपण आदि से ढकी हुई [सनाः] और नवाली [सयोनीः]

समान जिनकी ओनि अर्थात् एक माता से उत्पन्न हुई लड़ी के [गुवनयः] प्राप्त योद्धना स्त्री [एवम्] एक अर्थात् असदायक [गर्भम्] गर्भ को [दधिरे] धारण करती हैं, वे सुखी दूर्यों न हों । ६ ॥

**भावार्थः—**जो समान रूप स्वभाव धाली स्त्रियां अपने २ समान पतियों को अपनी इच्छा से प्राप्त होकर परस्पर प्रीति के साथ सन्तानों को उत्पन्न कर और उनकी रक्षा कर उनको उत्तम शिक्षा दिलाती हैं, वे सुखयुक्त होती हैं । जैसे परा. पश्यन्ती, मध्यमा, वैसरी, कर्मोपासना, सानपकाश करनेवाली तीनों मिलकर और सात वाणी सब व्यवहारों को सिद्ध करती हैं, वैसे ही बिहान् स्त्री पुरुष, धर्म काम और मोक्ष को सिद्ध कर सकते हैं । ६ ॥

पृक्षो वपुः पितुमान्नित्य आशये द्वितीयमासस्त्रिवासु  
मातृपु । तृतीयमस्य वृषभस्य दोहसे दश प्रमिति जनयन्त  
योपणः ॥ ७ ॥

**शृग्वेद अ० २ अ० २ व० ८ म० १ श० ३२१ स० १४१**  
**पदार्थः—**[नित्य.] नित्य [पितुमान्] प्रश्नसित अन्युक्त में पहिले [पृक्षः] पूँछने कहनेयोग्य [वपुः] सुन्दररूप का [आशये] आशय लेता अर्थात् आभित होता हुँ [अस्य] इस [वृषभस्य] यज्ञादि कर्मद्वारा जल वर्षनि वाले का मेरा [द्वितीयम्] दूसरा अन्दर रूप [सप्त शिवासु] सात प्रकार की कल्याण करने [सा लृपु] और मान्य करने वाली माताओं के समीप [का] अच्छे प्रकार वर्त्तमान और [तृतीयम्] तीसरा [दशप्रमिति] दश प्रकार उत्तम मिति जिस में होती है, उस सुन्दररूप को [दो-हसे] कामों की परिपूर्णता के लिये [योपणः] प्रत्येक व्यवहारों को मिलाने वाली हत्री [जनयन्त] प्रकृट करती हैं । ७ ।

**भावार्थः—**इस मन्त्र में चाचकलुमोपमालङ्कार है ।

जो मनुष्य इस जागत में सात प्रकार के लोकों में ब्रह्मवर्य से प्रथम गृहाश्रम से दूसरे और चालप्रस्थ वा सन्यास से तीसरे कर्म और उपासना के विज्ञान को प्राप्त होते हैं वे दश इन्द्रियों द्वारा प्राणों के विषयक मन बुद्धि चित्त अहकार और जीव के ज्ञान को प्राप्त होते हैं । २ ।

कर्म उपासना करके फिर दश इन्द्रियों का ज्ञान होता है, फिर दश प्राणों का, फिर मन का, फिर बुद्धि का, चित्त का, फिर अहकार और जीव के ज्ञान को प्राप्त होता है इनको जानना आवश्यक है । इस के पश्चात् परमात्मा के जानने का जीव को सामर्थ्य होता है ।

**निर्यदी बुध्नान्महिप्रस्य वर्द्धस ईशानासः शब्दाक्रन्त  
मूरयः । यदीमलु प्रदिवो मध्वाधवे गुहा संतं भातरिश्वा  
मथायति ॥ ३ ॥**

**पदार्थः—**[यत्] जो [ईशानासः] ऐश्वर्य शुल्क [सूरयः] विद्वान् जन [शब्दाक्रन्त] दल से जैसे [आधवे] सब और से अब्द आदि के अलग करने के निमित्त [भातरिश्वा] प्राणदात्यु जाठ-राजिन को [मथायति] मध्यता है वैसे [महिप्रस्य]. वडे [वर्द्धसः] दृष्टि अर्थात् सूर्यमण्डल के सम्बन्ध में स्थित [बुध्नात्] अन्तरिक्ष से [ईम] इस प्रत्यक्ष द्वयवहार को [अनुक्रन्त] कम से प्राप्त हो वा [मध्वः] विशेष ज्ञानशुल्क [प्रदिवः] कान्तिमान् आत्मा के [गुहा] गुहाशय में अर्थात् बुद्धि में [सन्तम्] वर्तमान [ईम] प्रत्यक्ष [यत्] जिस ज्ञान को [निपक्नन्तः] निरंतर क सखे प्राप्त हो उस से वे सुखी होते हैं । ३

**भावार्थः—**वही व्यवेच्चा विद्वान् होते हैं, जो धर्मचुष्टान घोगान्यास और सत्संग करके अपने आत्मा को जान, पर-

मात्मा को जानते हैं और वेही मुमुक्षुजनों के लिये इस शान को विदित कराने के योग्य होते हैं । ३ ।

ऋ० अ० २ अ० २ व० ८ म० १ अ० २१ स० १४१

कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाशवध्वरः ।

का ह कस्मिन्नसि श्रितः ॥ ३ ॥

**पदार्थः**—हे ( अग्ने ) विद्वान् । ( जनानाम् ) मनुष्यों के धीच ( ते ) आप का ( कः ) कौन मनुष्य ( ह ) निधय करके ( जामिः ) जानने वाला है ( कः ) कौन ( दाशवध्वरः ) दान देने और रक्षा करने वाला है । तू ( कः ) कौन है और ( कस्मिन् ) किस में ( श्रितः ) आश्रित ( असि ) है ( इस सब बात का उत्तर दे ) । ३ ।

**भावार्थः**—वहुत मनुष्यों में कोई ऐसा होता है कि जो परमेश्वर और अग्न्यादि पदार्थों को ठीक २ जाने और जनावे, क्योंकि वे दो अत्यन्त आश्र्य गुण कर्म और स्वभाव धाले हैं ॥

ऋ० अ० १ अ० ५ व० २३ म० १ अ० १३ स० ७५

ते यायिनो मग्नि सूप्रचेतसो जामी सयोनी मिथुना

समोक्सा । नव्यं नव्यं तन्तुसातन्वते दिवि समुद्रे

आन्तः कवयः सुर्दीतयः ॥ ४ ॥

**पदार्थः**—जो ( सुप्रचेतसः ) सुन्दर प्रसन्नचित्त ( मायिनः ) प्रशंसितछुद्धि वा ( छुद्धीतयः ) सुन्दर विद्या के प्रकाश धाले ( कवयः ) विद्वान् जन ( समोक्सा ) समीचीन जिनका निवास ( मिथुना ) ऐसे दो ( सयोनी ) समाज विद्या वा निमित्त ( जामी ) सुख भोगने वालों को ग्रास हो वा जान कर ( दिवि ) विजुली और दर्थ के तथा ( समुद्रे ) अन्तरिक्ष वा समुद्र के ( आन्तः ) धीच ( नव्यं नव्यं ) नवीन नवीन ( तन्तुम् ) विस्तृत

घस्तुवि शान को [ ममिरे ] उत्पन्न करते हैं ( ते ) वे सब विद्या और सुखों का [ आत्मन्वते ] अच्छे प्रकार विस्तार करते हैं । ४ ।

**भावार्थः**—जो मनुष्य आत्म अध्यापक और उपदेशकों को प्राप्त हो, विद्याओं को प्राप्त हो वा भूमि और विजुली को जान, समस्त विद्या के कार्यों को हाथ में आंचले के समान साक्षात् कर, औरों को उपदेश देते हैं, वे संसार को शोभित करने वाले होते हैं । ४ ।

जो ब्रह्मविद्या गुरुलक्ष्य है, पुस्तकों में देखने से नहीं आती। पुस्तकों का पढ़ना, लिखना आवश्यक है, क्योंकि गुरुजन इन पुस्तकों के ही प्रभारणों से शिष्यों को उपदेश करते हैं, जैसे हाथ पर आंचला रखना होता है, इसी प्रकार गुरुजन यथार्थ वोध करा सकते हैं । अब भी जिन पुरुषों ने सद्गुरुओं से सीखा है, वे औरों को सिखा सकते हैं । और यह सब को आवश्यक है ।

द्विषो नो विश्वतो मुखाति नावेष पारय ।

अप नः शौशुच्चदध्यम् ॥ ७ ॥

ऋ० अ० १ अ० ७ च० ५ म० १ अ० १५

**पदार्थः**—हे [ विश्वतोमुख ] सब से उत्तम ऐश्वर्य से युक्त परमात्मन् । आप [ नावेष ] जैसे नाव से समुद्र के पार हों, वैसे [ नः ] हमलोगों को [ द्विषः ] जो धर्म से द्वेष करने वाले अर्थात् उस से विशद चलने वाले हैं उन से [ अति पारय ] पार पहुँचाइये और [ नः ] हमलोगों के [ अध्यम् ] शबुओं से उत्पन्न हुये दुःख को [ अप शोशुच्चत् ] दूर कीजिये । ७ ।

**भावार्थः**—जैसे न्यायाधीश नाव में बैठा कर समुद्र के पार वा निर्जन जङ्गल में डाँकुओं को रोक के प्रजा की पालना करता है, अच्छे प्रकार उपासना को प्राप्त हुआ ईश्वर अपनी

उपासना करने वालों के काम, क्रोध, लोभ, मोह, भ्रम, शोकरूपी शब्दश्लोकों को शीघ्र निवृत्त कर जितेन्द्रियपर आदि गुणों को देता है । ७ ।

**त्री रोचना दिव्या धारयन्त द्विरणयःशुचयोधारपूताः ।  
अस्वप्नजो अनिमिपा अदव्याउरुशंसा ऋजुवे मत्त्यायि**

ऋ० अ० २ अ० ७ च० ७ म० २ स० २७

**पदार्थः—**—जो ( हिरण्ययः ) तेजस्वी ( धारपूताः ) विद्या और उत्सम शिद्धा से जिन की वाणी पवित्र हुई, व ( शुचयः ) शुद्ध पवित्र ( उरुशंसा ) बहुत प्रशंसा वाले ( अस्वप्नजः ) अ, विद्यारूप निद्रा से रहित विद्या के व्यवहारमें जागते हुए ( अ-निमिपा : ) आत्मस्थ रहित और ( अदव्याः ) द्विशा न करने के योग्य अर्थात् रक्षणीय विद्वान् लोग ( ऋजुवे ) सरल संवभाव ( मत्त्यायि ) मनुष्यके लिये ( ओ ) तीन प्रकार के ( दिव्य ) शुद्ध दिव्य ( रोचना ) वच्चियोग्यं छान वा पदार्थों को [ धारयन्त ] धारण करते हैं, वे जगत् के कल्याण करने वाले हौं ॥ ८ ॥

**भावार्थः—**—जो मनुष्य जीव, प्रकृति और परमेश्वरकी तीन प्रकार की विद्या को धारण कर दूसरे को देते हैं और सब को अविद्यारूप निद्रा से उठा के विद्या में जगाते हैं वे मनुष्यों के मंगल करने वाले होते हैं ॥ ८ ॥

**ओष्ठाविव मध्वास्ने वदत्ता स्तनाविन पिष्यतं जीव-  
से नः । नासेव नरतन्वो रक्षितारा कर्णाविव दुश्रुता  
भूतमस्मे ॥ ९ ॥**

ऋ० २ अ० २ अ० ८ च० ५ म० २ अ० ४ स० ३४ ॥

**पदार्थः—**—हे विद्वानो ! तुम जो ( आस्ने ) दुश्च के लिये ( मधु ) मधुर रसको ( ओष्ठाविव ) ओष्ठोके समाज ( वदत्ता )

कहने हुये ( जीव से ) जीवने को ( सत्ताविवर ) स्त्रीलों के समान ( नः ) एमारे लिये ( पित्ततम ) दढ़ाते आर्थिं जैसे स्त्रीलों में उनप्रे हुये दुर्घटसे जीवन बढ़ाता है वैसे दढ़ाते हो ( नातेव ) और नालिका के समान ( नः ) इमारे ( तन्वः ) शरीर की ( रक्षितारा ) रक्षा करने वाले वा ( आस्मे ) हम लोगों के लिये ( कर्णादिन ) कर्णी के समान ( तुश्ट ता ) जिनमे सुन्दर अवण दौला प्रै ऐसे [ भूतम् ] दोने हैं, उन वायु और अग्नि को विदिन कराइए ॥ ६ ॥

**भावार्थः—**जो शब्दोपक दिहा से रस के समान स्त्रीलों से दुर्घट के समान, नारियों से गन्ध के तुल्य, कान से शब्द के समान समस्त विद्यार्थी को प्रत्यक्ष करते हैं, वे जगत्पूज्य होते हैं ॥ ६ ॥

जिस प्रकार जिहूग रम्य को प्रत्यक्ष करती है और नारियों गन्ध को शौर गन्ध को स्त्रीलों से और शब्द कान से, इसी प्रकार इन हन्त्रियों को शुद्धजन प्रत्यक्ष करायें, और फिर परमात्मा को प्रत्यक्ष करायें, तब शिष्य को ज्ञान होना संभव है और इसी प्रकार ऋषि लोग उहिले प्रत्यक्ष कराया करते थे और जिन्होंने गुरु से विद्या सीखी है, वह अब भी प्रत्यक्ष करने हैं तब मनुष्य का जीवन मरण का भय हुआ है और सुकृत के भूत को प्राप्त होना है और इस के लिये सब जीवों को पुरुषार्थ करना चाहिये और आर्य लोगों को तो अवश्य जानना चाहिये है, क्योंकि इन पर जगत् का उपकार करने का भार है ॥

यस्वा मूर्ख्यं रवार्भातुस्तपमसा विद्यदास्तुरः ।

अक्षेत्रविद्याधा दुर्घो शुद्धनाभ्यदीध्युः ॥ ५ ॥

पदार्थः—( सूर्य ) हे सूर्य के सदृश (यथा ! चर्तमान )  
जैसे ( अहेवित ) क्षेत्र अर्थात् रेत्रा गणित को नहीं जानने  
वाला ( मुग्धः ) मूर्ख कुछ भी नहीं कर सकता है, वैसे ( यत )  
जो ( स्वर्भास्तुः ) प्रकाशित होने वाला विजुलीरूप [ आहुरः ]  
जिन का प्रकट रूप नहीं, वह [ तमसा ] रात्रि के अन्धकार  
से अविद्यत् ] युक्त होता है। जिस सूर्य से [ मुचनानि ]  
लोक [ अदीधरुः ] देखे जाते हैं, उस के जानने वाले [ त्वा ]  
आप का हम लोग आश्रयण करें ॥ ५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे विजुली गुप्त हुई अन्धकार  
में नहीं प्रकाशित होती है, वैसे ही विद्या रहित मूर्खजन वा  
आत्मा नहीं प्रकाशित होता है और जैसे सूर्य के प्रकाश से  
चंपूर्ण सत्य और असत्य व्यवहारों को प्रकाशित करता है ५

अ० ४ अ० २ अ० ११ म० ५ अ० ३ स० ४

आ धर्णसिर्वृद्धिवो रराणो विकेविर्गन्त्वोपभिहु  
वानः । गना वसान ओपधीरमृधस्त्रिपतुभृंगोहृषभोव  
योधाः ॥ १३ ॥

अ० ४ अ० ४ अ० २ अ० २२ कं० अ० ३ स० ४ अ० ४ अ० ३

पदार्थः—हे विद्वान् जैसे [ धर्णसिः ] धारण करने वाला  
[ वृद्धांदिवः ] वड़े प्रकाश का [ रराणः ] दान करता हुआ [ वि-  
श्वेभिः ] स पूर्ण [ ओपभिः ] रक्षण आदि के करने वालों के  
साथ [ हृवानः ] ग्रहण करता और [ गनाः ] वाणियों को  
[ वसानः ] आच्छादित करता हुआ [ ओपधीः ] सोमलतादि  
का [ अमृधः ] नहीं नाश करने वाला [ त्रिधातुभृङ्गः ] तीन  
धातु अर्थात् शुक्ल रक्त कृष्ण गुण हैं शृंगों के सदृश जिन के  
और [ वयोधः ] सुन्दर आयु को धारण करने वाला [ वृषभा ]

यृष्टि फारक सूर्य-संसार का उपकारी है, वैसे ही आप संसार  
के उपकार के लिये [ध्रामन्तु] उत्तम प्रकार प्राप्त हुजिये ॥१३॥

**भावार्थः—**—जो विद्वान् तीन गुणों से युक्त प्रकृति के जाने,  
ने, घाणी के जानने, नहीं दिसा करने, औषधियों से रोगों के  
निवारने और ब्रह्मचर्य आदि के बोध से अवस्था के यढ़ाने  
बाले दोते हैं वही संसार के पूज्य हैं ॥ १३ ॥

यं च सूर्यं स्वर्भूतुस्तपसाविष्यद्वायुरः ।

अत्रयस्तम्बविन्दन्नशः ? न्येशकनुवद् ॥ ६ ॥

अ० अ०४ अ० २ व० १२ म० ५ अ०३ स० ४० प०३३२व०३३४

**पदार्थः—**—हे विद्वानो ! [ स्वर्भूतिः ] सूर्य से प्रकाशित  
[ आस्तुरः ] मेघ ही [ तमसा ] अन्धकार से [ यम् ] जिस  
[ सूर्यम् ] सूर्य को [ अविष्यद् ] नाड़िन करता है [ नम् ] उस  
को [ वे ] निष्पाय फरके [ अवयः ] विद्या में दृढ़ जन [ अनु-  
अविन्दन ] अनुकूल प्राप्त होवें [ नहि ] नहीं [ अन्ये ] अन्य  
इस के जानने को [ अशक्तुवन् ] समर्थ होवें ॥ ६ ॥

**भावार्थः—**—हे मनुष्यो ! जैसे मेघ सूर्य को ढोप के अन्ध-  
कार उत्पन्न करता है और जैसे सूर्य मेघ का नाश और  
अन्धकार का निवारण कर के प्रकाश को प्रकट करता है वैसे  
ही प्राप्त हुई विद्या अविद्या का नाश कर के विद्वान् के प्रकाश  
को उत्पन्न करती है । इस विवेचन को विद्वान् जन जानते  
हैं अन्य नहीं ॥ ६ ॥

रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।

इन्द्रो मायाभिः पुरुषपैयते युज्ञाहास्य इरयशता दशो ॥

अ० अ०४ अ०७ व० ४३३ म०६ अ०४ स० ४७ प०३३५ व० १६३

**पदार्थः—**—हे मनुष्यो ! जो इन्द्रः ] जीव [ मायाभिः ] तु  
द्वियों से [ प्रतिलक्षणाय ] प्रत्यक्ष कथन के लिये [ रूपं रूपम् ]

रूप रूप के [ प्रतिरूपः ] प्रति रूप आर्थात् उस के स्वरूप से वर्तमान [ वभूत ] होता है और [ पुरुषरूपः ] वहन शरीर धारण करने से अनेक प्रकार का [ इच्छते ] पाया जाता है [ तद् ] वह [ अस्य ] इस शरीर का [ रूपम् ] रूप है और जिस [ अस्य ] इस जीवात्मा के [ हि ] निष्पत्ति कर के [ इश ] दश संख्या से विशिष्ट और [ शना ] सौ संख्या से विशिष्ट [ हरयः ] घोड़ों के समान इन्द्रिय अन्नःकरण और प्राण [ कुक्काः ] युक्त हुये शरीर को धारण करते हैं, वह इस का सामर्थ्य है ॥ १८ ॥

**भावार्थः—** है मनुष्यो । जैसे विजुली पदार्थ पदार्थ के प्रति तद्रूपहोती है वैसे ही जीव शरीर के प्रति तत्स्वभाव चाला होता है और जब वाहूविषय के देखने की इच्छा करता है, तब उस को देखके तत्स्वरूपाशान हम जीव को होता है और जो जीव के शरीर में विजुली के भिन्न असंख्य नाड़ी हैं, उन नाड़ियों से सब शरीर के समाचार को लाना है । ८ ।

जो विडान् योगविद्या के जानने वाले हैं, वह हृदयाकाश में स्थित जीवात्माके यथायोग्य ध्यानकरण विजुलीसे काम लेता है और जो इस विद्या को नहीं जानते नहीं इस विजुली को नहीं जानने और न उसमें यथायोग्य काम ले सकते हैं। इस लिये अब जीवमात्रों को और आर्यों को ध्येयेन करके इस विजुली-रूपी विद्या को जान कर यथायोग्य सवक्तो जनावें और शो १०८ स्वरमी दयानन्द सरस्वतीजी के परिश्रम को सफल करें जिनके उद्योग से वेदविद्या के दर्शन हम लोगों को मुड़े, जो नाममात्र बद्री से अस्तान थे ।

### ( ५ ). प्रत्याहार ।

स्वविषयामम्पयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ( यो ० पा ० ५ सू ० ४३ )

( अर्थ ) अपने विषय वा पेसाप्रयोग अर्थात् अनुष्ठान न कर के चित्त के स्वरूप द्वे समान जो इन्द्रियों का भाव है, उस ध्यानावस्थित शान्त वा निरद्वावस्था को प्रत्याहार कहते हैं ।

अर्थात् जिसमें चित्त इन्द्रियों के सद्वित अपने विषय को प्रत्याग कर केवल ध्यानवस्थित होजाय, उन्न प्रत्याहार कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जब चित्त विषयों के चिन्तन से उपरत होकर अपने २ विषयों की ओर नहीं जाता । अर्थात् चित्तकी निरद्वावस्था के तुल्य इन्द्रियों भी शान्त और स्वस्थ वृत्ति को प्राप्त हो जाती है ।

( भावार्थ ) प्रत्याहार उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है ।

प्रत्याहार को ही “अपरिग्रह” “शम दम” ‘इन्द्रियनिग्रह’ कहते हैं । प्रत्याहार “ध्यानयोग” का पांचवाँ अङ्ग है ।

### प्रत्याहार का फल ।

अगले सूत्र में प्रत्याहार का फल कहते हैं ।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् । यो० या० २ सू० ४४

उक्त प्रत्याहार से इन्द्रियां अत्यन्त ही चश में हो जाती हैं । तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय हो के जहां अपने मनको ठहराना वा चलाना चाहे उसी में ठहरा और चला सकता है, फिर उसको शान होजाने से सदा ज्ञात्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं और तब ही मोक्ष का भागी होता है । इस प्रकार मोक्ष के साधनों में तत्पर भनुष्य मुक्त होना है । मोक्ष का भागी बनने की योग्यता प्राप्त करने वाले को मोक्षके साधनों का ज्ञान और उनका यथावत् आचरण करना उचित

है। अतएव आगे प्रथम मोक्ष के साधन बता कर पञ्चात्-  
धारणादि शेष योगाङ्कों की व्याख्या तीसरे अध्याय में भी  
द्यायगी।

## साधनचतुष्टय अर्थात् मुक्ति के चार साधन ।

( मुक्ति का प्रथम साधन )

योगाभ्यास मुक्ति का साधन है। अतः यह "ध्यानयोग-  
प्रकाश ग्रन्थ" आद्योपान्त योगमार्ग का यथावत् प्रकाश करने  
हारा होने के कारण मोक्षसाधक ही है, इस लिये ग्रन्थारम्भ  
से लेकर जो कुछ उपदेशरूप से अवतक वर्णन हो चुका है  
और जो आगे कहेंगे, उसके अनुसार अपने आचरण और  
अभ्यास करने से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। आगे मुक्ति  
के विशेष उपाय कहे जाते हैं। जो मनुष्य मुक्त होना चाहे वह  
उस मिथ्याभाषणादि पापकर्मों को कि जिनका फल दुःख है  
छोड़ दे और सुख रूप फल देनेवाले सत्यभाषणादि धर्माचरण  
अवश्य करे। अर्थात् जो कोई हुःख को छुड़ाना और सुखको  
प्राप्त होना चाहे वह अधर्म को छोड़ कर धर्म अवश्य करे।  
फ्योर्कि दुःख का पापाचरण और सुख का धर्माचरण मूल  
कारण है। सत्पुरुषों के संग से विवेक अर्थात् सत्यासत्य  
धर्मधर्म, कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय अवश्य करे। और पृथक्  
पृथक् जाने और स्वशरीरान्तर्गत पद्धति कोश का विवेचन करे  
सो अवण चतुष्टय ( अर्थात् ) अवण ( १ ) मनन ( २ ) निदि-  
ध्यासन ( ३ ) और साक्षात्कार ( ४ ) द्वारा यथावत् होता है।  
जिनकी व्याख्या नीचे लिखी है।

( १ ) श्रवण—जब कोई आप विद्वान् उपदेश करे, तब शान्त चित्त होकर तथा ध्यान देकर सुनाना चाहिये, क्योंकि वह सब विद्याओं में सूक्ष्म है। और उस सुने हुवे को याद भी रखें। इस प्रकार सुनने को श्रवण कहते हैं।

( २ ) मन—एकान्त देश में बैठकर उन सुने हुवे विषयों वा उपदेशों का विचार करना। जिस बात में शंका हो उसको पुनः पुन धूँछना और सुनने के समय भी बत्ता और शोता उचित समझें तो प्रश्नोच्चर छारा समाधान करें। इस प्रकार निर्णय करने को मनन फहते हैं।

( ३ ) निदिव्यासन—जब सुनने और मनन करने से कोई सन्देह न रहे, तब ध्यानयोग से समाधिस्थ बुद्धि छारा उस बात को देखना और समझना कि वह जैसा सुना वा विचारा या वैसा ही है वा नहीं इस प्रकार निर्णय करने को निदिव्यासन कहते हैं।

( ४ ) साक्षात्कार—अर्थात् जिस पदार्थ का जैसा स्वरूप, गुण, और स्वभाव हो, उसको वैसा ही वायातथ्य जान लेना साक्षात्कार कहाता है।

### ( ५ ) पञ्चकोश ठ्यारुया ।

आगे पञ्चकोशों का वर्णन करते हैं। कोशकहते हैं भंडार (खलाने) को, अर्थात् जिन पांच प्रकार के समुदायों से यह शुरीर बना है, वे कोश कहते हैं, उनमें से—

[ १ ] प्रथम सबसे स्थूल=अन्नमय कोश है।

[ २ ] दूसरा उससे सूक्ष्म=प्राणमय कोश है।

[ ३ ] तीसरा उससे सूक्ष्म=मनोमय कोश है।

[ ४ ] चौथा उससे सूक्ष्म=विद्वानमय कोश है।

[ ५ ] पाँचवाँ संघर्ष = अग्रमन्दक्षय कोश है ।

( अ ) अग्रमन्दक्षयकोश—इनमें से अग्रमन्दक्षयकोश संघर्ष स्थूल है, जो त्वचा से लेकर अस्तियपर्यन्त का लमुदाय पृथिवीमय है । इसमें संघर्ष ऋत्से से समझन देह के रोम रोम उक्त कायथावत् शान प्राप्त होता है संघर्ष करने की विधि यह है कि संसार शुरीर में शिर से लेकर नाखपर्यन्त सम्पूर्ण त्वचा, माँस, रुधिर, अस्तिथि वेदा आदि से बने शुरीर की सब भिन्न भिन्न नाड़ियों में पृथक् २ विभाग से एक साथ ही विस्तृत [फैला हुआ] ध्यान उड़ाते । [ देसो य० जश० ह२ म० ६७ ]

( आ ) प्राणमयकोश—इसरा प्राणमय कोश है, जिस में पांच प्राण तुल्य हैं, अर्थात् [ क ] प्राण [ ख ] अपान, [ ग ] समान, [ घ ] उदान और [ ङ ] व्यान ।

### ( य ) पांच प्राणों के कर्म ।

[ क ] प्राण वायु वह है, जो हृदय में उड़ाता है और भीतर से सात छिर्दी [ ३ मुख, रनासिकाछिद्र, नशांस्क, रकान् ] द्वारा बाहर निकलता और भीतर के बन्दे परमायु बाहर पौँफता है । जब प्रथम प्राणायाम की प्रथम धारणा बहाएड़ में प्राणवायु को स्थिर कर के अभ्यास करते २ परिपक्क होजाती है, तब धातुज्ञीण [ प्रदर और प्रमोह रोग ] नष्ट हो जाते हैं और पुष्ट वा धीर्य, नाढ़ा हो फट चरफ़ के तुल्य जमता है । और स्त्री के रजा का विकार भी दूर होता है तथा जाठराग्नि प्रबल प्रदीप होकर पात्र शक्ति की दृष्टि होती है । विष्टव्य रोग विनष्ट होता है । स्वप्रावस्था में जब स्वस द्वारा अपान वायु धीर्यको गिराने लगता है, तब प्राणवायु तत्त्वण ही अल्दो से ओगी को जगा कर रखा करता है अर्थात् उस समय योगी

जाग कर “वीर्यस्तम्भक” प्राणायाम कर से तो वीर्य ऊपर प्रह्लाएँड में चढ़ जाता है, फिर वहाँ प्राण धायु से वीर्य का आकर्षण और पुष्टि होती है ॥

[ ख ] अपानवायु वह है जो नाभि से ठहरता है और बाहर से भीतर आता है। यह शुद्ध धायु को भीतर लाता है, गन्ती वायु तथा मल मूत्र को शुद्ध और उपस्थेन्द्रिय छारा बाहर भिराता है। वीर्य को स्त्री गर्भाधान समय इस अपानवायु से ही ग्रहण करती है, इस के अशुद्ध होने से गर्भस्थिति नहीं होती। वीर्य चढ़ाने का प्राणायाम अपान से किया जाता है। प्रतःकाल मैं शौच जाने से पूर्व योगीको दूसरा प्राणायाम जिस से कि अपानवायु नाभि के नीचे फेरा जाता है अवश्य भ्रंब करना चाहिये, क्योंकि इस के करने से मल भड़ता है। अपानवायु गन्दे रुधिर को भी शुद्ध छारा बाहर फेंक देता है अपानवायु से वीर्य का स्तम्भन होता है और प्राणवायु से वीर्य का आकर्षण होता है ॥

[ ग ] समान ॥ वायु वह है, जो हृदय से लेकर नाभि पर्यन्त के अवकाश में ठहरता है और शरीर में सर्वत्र रस

श्लृष्टिपृण - योगी को उचित है कि भोजन के एक प्रणटे उपरान्त अर्थात् जब समानवायु भोजन किये हुए पदार्थ को खम्भेट कर योताकार सा बनाले और उस को पचाने और रस बनाने वाली क्रिया का आरम्भ करे उस समय डकार के आनेसे बान लेना चाहिये कि जल दीनेकी आवश्यकता और अपसर है और तब प्यास भी लगनी है, तब जल पिया करे और पेसा ही अप्यास करले। अधिवा आवश्यकता जान पड़े तो सोजन के मध्य मैं जल पीना उचित है, किन्तु पश्चा । कम से कम पक घाए उपरान्त ही जल पीना चाहिये ।

पहुचता है, अर्थात् भोजन किये अग्र जल को पचा कर तथा रस बना कर अस्थि मेंदा “मज्जा, चर्म बदाने वाली नाड़ियों को पृथकर चिमाग से देता है और भुक्त अग्रादि का ४० दिन पश्चात् समान वायु द्वारा ही वीर्य बनता है ॥

[ घ ] उदान वायु यह है जो करण में ठहरता है और जिस से करणस्थ अन्न पान भीतर को खें चा जाता और बल पराक्रम होता है, अर्थात् खाये पीये पदार्थों को करणसे नीचे की ओर खींच लेजा कर समान वायु को सौंप देता है । इस को यम भी फहते हैं, क्यों कि मरणसमय यह अन्न पान श्रहण करने का काम नहीं करता और मृत प्राणी के जीवात्मा को उस के कर्मों के अनुसार यथायोग्य भागों के स्थान में पहुँचा देता है । सोंत समय यह सत्त्वगुणी गाढ़निद्रा में परमात्मा के आधार में जीवात्मा को स्थित करता है, तब जीव को आनन्द होता है जिस को यह नहीं जानता कि ऐसा आनन्द किस कारण हुआ । समाधि में योगी को परमात्मा से मेल करा के बस के आधार में आनन्द प्राप्त करता है, तब यथावत् परमात्मा का ज्ञान होने से जो आनन्द होता है, वह चाणी से नहीं कहा जा सकता ॥

[ ङ ] व्यान वायु वह है, जो शरीर में सर्वत्र व्यास रहती है और जिस से सब शरीर में चेष्टा आदिकर्म जीव मन के संयोग से करता है । समान वायुकों बनाया हुआ रस रुधिर होकर व्यानवायुद्वारा ही समस्त देव में भिन्न २ नाड़ियों द्वारा फिरता है ॥

[ र ] आगे अन्नमयकोश चिपयक उपनिषदों और वेदों के प्रमाण लिखते हैं ।

पायुपस्थेऽपाने चक्षुःश्रोत्रे हुखनासिकाभ्याम् प्राणःस्वर्णं  
प्रातिष्ठते धधयेत् समानः । एष हृतद्वुत् यज्ञसवन्नचति  
वस्पादेताः सप्तार्चिषो यन्नन्ति ।

[ प्रश्न० उप० प्रश्न३ मं० ५ ]

( अर्थ ) शुदा और उपस्थेन्द्रिय में ( विमूत्र का स्वाच्छ  
फलने वाला अपान वायु स्थित रहता है ( जो पाहिर से हुख  
परनाखुदों को लाकर यतीर में प्रविष्ट फलता है ) चक्षु, श्रोत्र,  
हुख, लासिका, के सत्र छारों से निकलने वाला प्राणवायु  
स्वर्णं हृदय में उिथत रहता है ( जो शरीर के ऊंचे परमाखुदों  
को दाहर फेंजता है ) प्राण और अपान दोनों के सम्बन्धमें समान  
वायु स्थित है, जो साथे हुवे अन्न को पचाता हुआ रसादि  
निकाल कर ) समान विभाग से सब नाड़ियों में पहुंचाता है  
( और सब धातुओं को बनाकर ठीक २ शर्वस्थित करता है )  
और एके हुवे अन्न से बने रसादि धातुओं के छारा ही देखना  
आदि विषय की प्रकाशक दीतियां अर्थात् इन्द्रिय का हुखके  
ये सात छारा लग्नर्थ होते हैं ।

हृदि त्रैप व्यात्मा । अन्नैतदेवतातं नाडीनां तासा  
शतंशादसेकैलस्यां द्वासस्तिर्द्वासत्तिः प्रतिशासानाडीसह-  
स्ताणि भवन्त्यात्मा व्यावरपरति ॥ ग्रन्थ० उ० प्रश्न० इयं० ६

[ अर्थ ] हृदय में जीवात्मा रहता है । हृदि ही हृदय में  
एक जो एक नाड़ियां हैं उन [ १०६ नूल नाड़ियों में से एक  
एक की लौ सो शायद नाड़ियां 'कुटी' हैं । उन एक २ शायद  
नाड़ियों की वहस्तर वहस्तर हजार अति शायद नाड़ियां होती  
हैं, इन सब नाड़ियों में व्यान नामी प्राण विचरता है ।

अर्थात् शरीर में सर्वेत्र फैली हुई जिन नाड़ियों में यही प्रधान धातु संचार करता है, उनकी संख्या इस मन्त्र में की है, लो इस प्रकार जानो कि:—

जो सम्पूर्ण मूल नाड़ियाँ गिनाई गई हैं	६०६
प्रत्येक मूलनाड़ी की शाखानाड़ी	$(101+100)=20100$
हैं सी सौ, अतः सब शाखानाड़ी हुईं } इश हजार एक सौ	
और प्रत्येक शाखानाड़ी को } प्रतिशाखा नाड़ी है वहत्तर } १०१००+९२००=७२७२००००००	
वहत्तर सहस्र. अतः सब प्रति } वहत्तर करोड़ और वहत्तरलाख शाखानाड़ी हुईं।	
सम्पूर्ण मूलनाड़ी, शाखा नाड़ी और } ७२७२८०००१	वहत्तर करोड़ वहत्तरलाख
प्रतिशाखानाड़ी मिलकर हुईं } दस हजार दो सौ एक	दस हजार दो सौ एक

आदि में गिनाई हुई १०१ मूल नाड़ियों की भी सब में प्रधान एक ही है, उस प्रधान मूल नाड़ी को चुपुणा नाड़ी भी कहते हैं, जो धूध से लेकर बहाएँ में होती हुई नासिका के कपर भ्रमध्य के त्रिकुटी देश में इडा और पिंगला नाड़ियों में जा मिली है। यह वही मूल की नाड़ी है जिसके प्रथम प्राणायाम कहते समय सीधी ऊपर को तनी हुई रहने से प्राणावातु नासिका के बाहर आधिक ठहरता है इसही नाड़ी के मध्यस्थ एक देश में जीवात्मा जा वाल है। इस नाड़ी के साथ मनको उंचुक्क उठने वाले थोनीजन आत्मज्ञान को प्राप्त करते हैं। प्रधान मूलनाड़ी यही है।

आगे प्रश्नोदनिष्ट के प्रगाण द्वारा उदानवायु का घण्टे परते हैं।

अथैदयोर्ध्वं उदात्तः पुण्येन पुण्य लोकं नपति

पापेन पाप्तुभास्तुमेव पुण्यलोक्य ॥

सत्त० उ० प्रक्ष० दृ० सं० ७

[ अथ+एक्या = ] अब उदानवायु का क्रत्य कहते हैं कि लो उस एक मूलेन्द्रियनाम की नाड़ी के के साथ ।

[ ऋच्च+उदानः ] शरीर के ऊपर बाले विभाग नाम रख देश में [ पुण्येन पुण्यं लोकं नयति ] पुण्यकर्म से जीवात्मा जो स्वर्ग नाम सुख भोग की उत्तम सामग्री से युक्त उसम योनि वा रमणीय दिव्यस्थान लोक को पहुंचता है ।

[ पापेन पापम् ] अधम योनि वा नरकस्त्रप दुःख की सामग्री से युक्त स्थान में वेदोक्त ईश्वरसापालन से विद्यम् [ अधर्मयुक्त ] सकाम फर्मों के करने से जीवात्मा को ले जाता है ।

[ उभाभ्यां भनुष्यलोकमेव ] पाप पुण्य दोनों के स्वभाव होने से भनुष्य योनि को प्राप्त कराता है ।

अर्थात् उदानलामकप्राण ही लिङ्गशरीर के साथ जीवात्मा को शरीर से निकालता है और शुभाशुभ कर्म के अनुसार भनुष्यादि योनि और खर्मन्तरक आदि भोगको प्राप्त कराता है ।

प्राणमय कोश में अर्थात् लिंग जिस स्थान में जोलो प्राण रहता है, उस दै वै संयम फरने से इत्येक प्राण वथा उस दृश की वेद्यशौं का बहावद् ज्ञान होता है ।

स्वर्ग नरक कोई स्थानविशेष नहीं । पश्चर्वयभोग की सामग्री जिस से सुख प्राप्त होता है, अथवा मोक्ष का नाम स्वर्ग है । इस ही प्रकार दुःख के भोगने की सामिनी पा नाम बरक है ।

ओम्-इन्द्रायाहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिजः उत्वे दृष्टिष्व न अनः॥ अ० अ० १ अ० १ व० ५ स० १ अ० १ अ० ५ स० ६

अनेन धन्वेणैश्वेषैन्द्रशब्देन वायुरुपदिवरयते ॥

आगे इसी विषय में वेद के प्रमाण कहे जाते हैं ।

इस ग्रन्थ में ईश्वर ने इन्द्र शब्द से खोलिक वायु [शारीर] का उपदेश किया है ।

### ( खात्य )

[हरिधः] = जो वेगादि गुण युक्त

[दतुजातः] = शीघ्र चलने वाला

[शून्य] = खोलिक वायु है, वह

[खुते] = प्रस्तरक उत्पन्न वारी के अवहार में

[नः+प्रह्लाहिः] = हमारे लिये वेद के द्रव्यों को

[शारीरादिः] = शर्करे प्रकार प्राप्त करता है, यथा यह

[नः+चानः] = हम लोगों के आनन्दादि व्यवहार का

[वधिष्य] = धारण करता है ।

भावार्थ—जो शारीरक ग्राण है, उह सब किया का निमित्त होकर जाना, पीना पचाना, प्रदूष फरना और त्यागना आदि कियाओं से कर्म को करने वाले तथा शुरीर में रुधिर आदि आतुरों के विसर्गों को उग्र २ गे ८ दंडोंने पाला है, इसीकि बहु ग्राण शरीर आदि की पुष्टि, सुन्दरी और उप नाम नाम फा हेतु है ।

अन्तश्शरति रोचनास्य शाहादप नती ।

उपर्यन्यहिरो दिवश् ॥ य० अ० ३ मन्त्र-७ ॥

### ( खात्य )

[ अस्य ] = [ या अस्य धान्ते ] = जो इस अच्छि की

[ प्राणात् ] ॥ [ ब्रह्माएव शरीरयोर्मध्य ऊर्ध्वेषमन् ] शीलात्

इंद्रियों और शरीर के दीन में ऊपर की ओर जाने के

स्वभाव वाले वायु से

( विभानली ) = ( अपानमधोगमनशीलं वायुं निस्पादयन्ती विद्युत् ) जीवे की ओर जोने के लक्षभाव वाले वायु को उत्पन्न करती हुई । ( रोचना ) = ( दीक्षिः ) = प्रकाशक्षणी विजुली

[ अन्तः ] = ( शरीर ब्रह्मांडयोर्मध्ये ) = शरीर और ब्रह्मांड के मध्य के [ चरति ] = गच्छति ] = चलती है ॥

[ दीक्षिः ] = [ स महिपोनिः ] वह अपने शुणों से बड़ा अग्नि [ दिवम् ] = [ सूर्यलोकम् ] = सूर्य लोक को

[ प्यस्त्रद् ] = [ वि ] विविकार्ये [ अस्यत् ] एवापयति । विविध प्रकार से प्रकट परता है ॥

भावार्थ—मनुष्य को जानना आहिये कि विद्युत नाम से प्रसिद्ध सब मनुष्य के अन्तःकरण में रहने वाली जो धनिकी कान्ति है वह प्राण और अपान जे लाय युक्त होकर प्राण, अपान, अग्नि और प्रकाश आदि सेषाओं के व्यवहारों को प्रसिद्ध करती है ॥

पञ्चवेद के तीसरे धर्माय के धारम से अग्नि ( विजुली ) का वर्णन है । इस रातवें मन्त्र में ईश्वर ने उपदेश किया है । कि वही विजुलीरूपं भौतिकाग्नि शरीरस्थ प्राणों को प्रेरणा करती है ॥

असिप्रत्य-एह है कि जितने शरीर के भीतर और धाहर के व्यवहार तथा इन्द्रियादि की वेष्टाएं हैं वे सब विजुली से ही, सिद्ध होती हैं । इसी नियम के अनुसार योगाभ्यास सम्मधी प्राणायामादि कियाएं भी द्वान विजुली विना नहीं होसकतीं, नाक को हाथ से द्वाने आदि की कुछ आवश्यकता नहीं ॥

ओं-वातो दा मतो दा गन्धर्वाः सूस्मि अङ्गातिः ।

ते फङ्गेऽश्वमधुज्ञस्ते धरिमन् जवयादधुः य०श० ६ ० ७

( भाष्य )

‘ये विद्वासः’=जो विद्वान् लोग [ वातः+वा ]=वायु के समान तथा मनः+वा ]=मन के सम तुल्य “वायु” [ सप्त-विश्वतिः ] जैसे सत्त्वार्हस [ गन्धर्याः =ये वायव इन्द्रियाणि च धरन्ति तु ] पायु इन्द्रिय और भूतों को धारण करने हारे [ अस्मिन् =अस्मिन् जगत् ] इस जगत् में ‘[ अत्र ] पहिले नाम सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुवे हैं [ अश्वम्+अयुज्ञन् =व्यापकत्ववेगादिगुणसमूह दम् युज्जन्ति ] व्यापकता और वेगादि गुण समूहों को संयुक्त करते हैं । ते=ते खलु ] वे ही लोग [ जब्द् =वेगम् ] वेग को [ आ+अद्भुः =आ सम-न्तात् धरन्ति ] सब और से धारणा करते हैं ।

भावार्थ-एकादश प्राण [ अर्थात् एक तो समष्टिवायु नाम सूक्ष्मात्मा तथा प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाम, कूर्म, कुक्कुल, देवदत्त और धनञ्जय] वारहवां मन तथा मन के साथ ओजादि दश इन्द्रिय और पांच सूक्ष्मभूत ये सब मिलकर २७ [ सत्त्वार्हस ] पदार्थ ईश्वर ने इस जगत् में पहिले रखे हैं । जो पुरुष इन के गुण, कर्म और स्वभाव को डीकर जान कर यथा योग्य कार्यों में संयुक्त करता है “वर्ही प्रह्लविद्या का अधिकारी है, अर्थात् उसको सीख सकता है,,

इसी आशय को लक्ष्य में धर के मुक्ति के साथन रूप इन विषयों का प्रथम वर्णन किया है, क्यों कि आगे धारणादि अवशिष्ट योगांगों के अनुष्ठान से इन सब का यथार्थ द्वान् प्राप्त करना होगा ।

धनञ्जय पायु में संयम करने से आयु बढ़ती है ।

( इ ) अनोमयकोश = तीसरा मनोमयकोश है, जिस में मन के साथ अहंकार तथा वाक्, पात्, पाणि, पायु और उप-स्थ, ये पांच कर्मान्दियाँ हैं ।

इन में संयम फरने से आहंकार ख़ित सफल कर्मनियर्थ और उन की शक्तियों का ज्ञान होता है ।

( इ ) विज्ञानमयकोश = चौथा विज्ञानमय कोश है, जिस में बुद्धि, चित्त तथा ओव्र, त्यचा, नेब, जिह्वा और गालिका, यह पाँच ज्ञानेन्द्रियां हैं, जिनसे जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है ।

बुद्धि में संयम फरने से विज्ञानमय कोश अर्थात् बुद्धि चित्त तथा समस्त ज्ञानेन्द्रियों और उन की विव्य शक्तियों का अध्यावत् ज्ञान होता है ।

( उ ) आनन्दमय कोश = पाँचवा आनन्दमय कोश है, जिस में कि प्रीति, प्रसन्नता, आनन्द, न्यून आनन्द, अधिक अनन्द और आधार कारण रूप प्रकृति है । जिस के आधार पर कि जीवात्मा रहता है ॥

जब जीवात्मा अपने स्वरूप में संयम करता है, सब उस को आनन्दमय कोश के सम्पूर्ण पदार्थों का भिन्न २ अध्यावत् ज्ञान होता है ॥

जून पाँच कोशों से जीव सब प्रकार कर्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है ॥

आगे शरीर की अवस्थाओं का वर्णन करते हैं ।

( ख ) अवस्था त्रय वर्णन

इस शरीर की तीन अवस्था है ( १ ) जाग्रत् ( २ ) स्वप्न और ( ३ ) सुषुप्ति ॥

( १ ) जाग्रत् अवस्था — तात्रत् अवस्था दो प्रकार की है ।

एक तौ यह कि जिस में जागता हुआ मनुष्य भी विविध ग्रिगुणात्मक संकल्प विकल्पों में इस प्रकार फंसा रहता है; जौ से स्वप्नायस्था में भाँति २ के सुभ देखता हुआ यह नहीं

खात्रा कि मैं सोया हुआ हूँ वा जागता हूँ । 'इति लाभत् अवस्था को अविद्यारूपी निद्रा कहते हैं, यद्यों कि जीव अपने आपे को भूला हुआ सा अपने कर्त्तव्य-कर्त्तव्य का हाल बही रखता । इस आभ्रत् अवस्था में हज वा विशेषतः वम प्रथाम रहता है ॥

दूसरी शुद्ध सत्त्वमय लाभत् अवस्था होती है, जिस में द्वेषल सत्त्व ही प्रदान होता है और तब जीव यमाचरण की ओर कुरता है

( ३ ) स्वप्न अवस्था—लाभत् और सुषुप्ति इन दोनों की सन्निधि के समय को जिस में कि मनुष्य लोता हुआ स्वप्न देखता है अर्थात् जाग्रत् और सुषुप्ति के मध्य की दशा को स्वप्नावस्था कहते हैं । यह भी दो प्रकार की है । एक तौर वह कि जिस में लाभत् का ज्ञान अधिक होने से स्वप्न द्यों का यो याद दना रहता है, दूसरी वह कि जिस में सुषुप्ति का ज्ञान अधिकतर रहने से स्वप्न पूरा २ बहीं याद रहता ॥

सुषुप्ति अवस्था—गाड वा गहरी निद्रा को कि जिस में समाधि के सदृश मनुष्य अपने आपे को भूला हुआ अचेत पड़ा सोता रहता है, उसे सुषुप्त्यावस्था कहते हैं । तथापि स्वतिवृत्ति इस अवस्था में भी यनी रहती है, यद्यों कि उब मनुष्य गाढ़निद्रा से जागता है तब कहता है कि मैं अनन्दपूर्ण सोया । स्मृति के विभाषेसारे अनुभव याद नहीं रह सकता ।

आभ्रत् अवस्था में लंयम करने से तीनों अवस्थाओं का अर्थार्थ शान होता है ।

आगे शरीर वय का वर्णन करते हैं ।

### ( ग ) शरीर त्रय ।

जिसर आधारके आश्रय जीवात्मा जन्म मरण हथा मोक्ष में भी रहता है, उसको शरीर कठते हैं जो बुद्धि तीन शक्ति का माना पता है । वथा-

( १ ) स्थूल ( २ ) सूक्ष्म ( ३ ) कारण ।

( स्थूल शरीर—जो प्रत्यक्ष हाङ्ग, भाँख, चाह ज्ञान इति पहुता और मृत्यु समय में छूट जाता है, वह स्थूल शरीर कहाता है ।

( २ ) सूक्ष्म शरीर—जो पञ्चप्राण, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च दूष्मभूत, मन और बुद्धि इन सच्चरह तत्वों का समुदाय अन्म मरण आदि में भी जीव के साथ रहता है । वह सूक्ष्म शरीर कहाता है । इस के दो भेद हैं—

[ क ] भौतिक शरीर और [ स ] स्वामात्रिक शरीर

[ क ] भौतिक शरीर वह कहाता है जो सूक्ष्मभूतोंके अंशों से बना है ।

[ स ] स्वामात्रिक शरीर वह कहाता है जो जीव के स्वाभाविक गुण रूप है, यह स्वामात्रिक शरीर पूर्वोक्त पञ्च कोश और अवस्था ब्रय से पृथक है और जीव जब अपने स्वरूप में संयम लगता है । तब वायातंत्र्य जान लेता है कि मैं हन सब से व्याप्त हूँ ।

स्वामात्रिक शरीर को इस दृष्टान्तके जानी किजैसे किची एक स्थान में रक्षे हुवे पिंजरे में एक पक्षी बास करता हो इस ही प्रकार अस्ति उसे निर्मित शरीर मानो एक स्थान है, उस से सच्चरह तत्वों का बना सूक्ष्म शरीर मानो एक पिंजरा है उस पिंजरे में जो मुख्य जीव है, वही मानो एक पक्षी है ।

इस भीतिक और स्वाभाविक शरीरों से बने सूक्ष्म शरीर खें ही सुक हो जाने पर जीवात्मा भोक्ता सुख के आनन्द का भोग करता है, अर्थात् मुक्ति में जीव सूक्ष्म शरीर के आश्रय रहता है।

( ५ ) कारण शरीर—तीसरा कारण शरीर यह है। कि जिस में सुषुप्ति आवस्था अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है। यह प्रकृतिकृप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिये एक है।

पूर्वोक्त तीन प्रकार के शरीरों से भिन्न एक चौथा तुरीय नामक शरीर जीवका और भी है, कि जिसके आश्रय समाधि में परमात्मा के आनन्द स्वरूप में जीव मन होता है। इस ही समाधि संस्कारजन्य शुद्ध आवश्यका का पराक्रम मुक्ति में भी अंधावत् सहायक रहता है। इसमें जीव केवल ईश्वरके आधार में रहता है। तुरीय शरीर को ही तुरीयावस्था भी कहते हैं।

इन सब कोश और आवस्थाओं से जीव पृथक हैं, क्योंकि सब मृत्यु होती है, तब प्रत्यक्ष देखने में आना है कि जीव इस पृथक् देह को छोड़ कर चला जाता है। यही जीव इन सब का ऐरक, सब का धर्ता, साक्षी, कर्ता और भोक्ता कहातां है। जो कोई मनुष्य जीवको कर्ता भोक्ता, न माने तो जान लो कि वह अशानी और अविवेकी है, क्यों कि विना जीव के ये खब पदार्थ जड़ हैं इनको सुख दुःखोंका भोग वा पाप पुण्यकर्तृत्व कभी नहीं हो सकता, किन्तु इन के गमनन्द से जीव पाप पुण्यों का कर्ता और सुख दुःखों का भोक्ता है।

अर्थात् जब इन्द्रियाँ अर्थों में, और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा कर के अच्छे वा बुरे कर्मों में लगाता है, तभी वह वहिमुख्य हो जाता है। उस ही समय अच्छे कान्दों में भीतर से आनन्द, उत्साह निर्भयता और बुरे

कर्मों में भय, „जल्दा आदि उत्पन्न होती है। वह अन्तर्यामी की शिला है। जो कोई इस शिलाके अनुकूल पर्चता है वही सुख्य दृष्टि सुखों को प्राप्त होता है और जो विपरीत वर्तता है, वह अन्ध दृष्टि सुख भोगता है।

यहाँ तक संक्षेप से सुक्ति का प्रथम साधन कहा, अत्ये दूसरा साधन कहा जाता है।

## [ २ ] सुक्ति का द्वितीय साधन (वैराग्य)

सुक्ति प्राप्त करने का दूसरा साधन वैराग्य है। वैराग्य-वान् वा वीतराग होना रागादि दोषों के त्यागने को फहते हैं सो विवेकी पुरुष ही त्यागी वा वैरागी हो सकता है। विवेक [ भले तुरे को पहिचान वा परीक्षा ] से निर्णय कर के जो सत्य और असत्य जाना हो उस में से सत्याचरण का अहश्य और असत्याचरण का त्याग करना विवेक कहाता है। अर्थात् पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के गुण कर्म, स्वभाव को जान कर उनसे उस परमेश्वर की आप्ना पालन और चपासना में ध्यान योग द्वारा तत्पर होना उस से चिरचूलना, सुधिं से उर्पकार लेना, विवेक कहाता है। पूर्वोक्त दूषणों को त्याग कर राज्यशासन, प्रजा पालन युद्धस्थ कर्म आदि धर्मानुकूल करता हुआ मनुष्य भी योगी और विरक्त होता है, किन्तु भूठे सुख की इच्छा से आलस्य वश निष्पुरुण-पार्थी होकर अधर्मचारी मनुष्य घर घार छोड़, भूमि सुखवा, कापायास्वरधारी वैरागियों का सा देष मात्र वबा लेने से थथाब त् वैराग्य को नहीं प्राप्त होता।

## ( ३ ) लुक्किका तृतीय साधन पद्मक सम्पत्ति ।

लुक्कि का सीलरा साधन पद्मक सम्पत्ति है । अर्थात् इन छोटे प्रकार के वर्षों का जो शगादि पद्मसङ्घषिति कहाते हैं पर्याप्त भ्रमुषान करना । वे क्यों कर्म के हैं ।

[ १ ] शम, [ २ ] दम, [ ३ ] उपरति, [ ४ ] तितिक्षा, [ ५ ] अद्वा और [ ६ ] समाधान, इन सब की प्राप्त्या आये कहाते हैं ।

( शम )—आपने आत्मा और अन्तःकरण का अधर्मसंचरण से हटा कर धर्माच्चरण में प्रवृत्त रखना अर्थात् मन को [ शान्त करके शमन करना था ] वशमें रखना, शम कहाता है

( दम )—इन्द्रियों को दमन करके अर्थात् जीत कर आपने वश में रखना अर्थात् थोड़ादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचारादि बुरे कर्मोंसे हटा कर जितेन्द्रियत्वादि शुभ वर्षों में प्रवृत्त रखना, दम कहाता है ।

( ४ ) तितिक्षा—छुट कर्म करने वाले पुरुषों ले दूर रहना और स्वप्नमेव विरुद्ध का अधर्मयुक्त कर्म जो सकाम कर्म कहाते हैं, उनसे सदा पृक्कल रहना, उपरति धर्म कहाता है ।

( ५ ) तितिक्षा—निन्दा, स्तुति, हानि, लाभ, आदि चाहे किसेना ही क्यों न हो, परन्तु हर्ष शोक को छोड़कर सुकृति साधनोंमें सदा लगा रहना, अर्थात् स्तुति वा लाभ आदि में हर्षित न होना और निन्दा, हानि आदि में शोकातुर न होना । आशय यह है कि उक्त छन्दों का सहन करना, तितिक्षा धर्म कहाता है ।

(५) अङ्गा-वेदादि सत्त्वरास्त्र और हनके पीढ़ी के पूर्ण धार्म विद्वान्, सत्योपहेश मदामर्यादे के घचलों एवं विश्वास फलना अस्त्रा कहाती है।

(६) समाधान—चित्त की प्रकाशता को समाधान करते हैं।

(७) शुस्ति का चतुर्थ ताइन—शुशुक्त्व।

शुशुक्त उस मनुष्य को कहते हैं कि जिस को शुक्ति वा शुक्ति के लाभतों के अनिस्तिक धन्य लिसी विषय वा पदार्थ में प्रीति नहीं रहती। जैसे चौथा शुशुक्त मनुष्य को अन्न जल के सिवाय दूसरा कुछ भी आपदा नहीं लगता, इस प्रकार प्रोक्षमार्ग में निरन्तर तत्पर रहने को शुशुक्त्व कहते हैं।

इति धी-परमहंस परिचयकान्वयार्णं परमदोमिला  
थी मद्वद्यनन्दनरसवर्णोऽन्तर्मिळां प्रियेण दर्कमण्डा  
नन्दस्त्रालिगा दशौरेः प्याद्योऽप्यामात्रास्त्रान्त्ये  
कर्मयोगोगान द्यितीमोऽप्याव-संग-ऽप्याम् ॥२॥

० ओ॒र॒क् ०

अथ उपरिका पौरी नाम

तृतीयोऽन्तर्मिळां च ॥

—०३०-०३०—

वल्लवा ॥

अचिन्त्याव्यक्तलयाय [निर्गुणाय शुष्टास्ते ॥  
समस्तजगदाधार अद्यये पूर्वदे नयः ॥ २ ॥

अर्थ-चित्त से चिन्तन अर्थात् मन आदि इन्द्रियों द्वारा अहशु नहीं किया जा सकता, जो अव्यक्त रूप है; जो अपने से सिन्न जीव प्रकृति आदि पदार्थों के गुणों से रहित होने के कारण निर्जुण है, जो अपने अनन्त स्वभाविक क्षान बल कियादि गुणों से युक्त होने के कारण सगुण है, जो समस्त जगत् को धारण कर रहा है, उस ब्रह्मस्वरूप परमात्मा का मैं वारबार प्रमाण करता हूँ।

जगद्गुरो नयस्तुभ्यं शिवाय शिवदाय च ।

योगीन्द्राणाऽच्च योगीन्द्र शुरुणां शुरुवे नदः । ८ ।

( अर्थ ) हे समस्त चराचर जगत् के शुरु ( पूज्य ) हे भ्रह्मलमय । हे सब को भोक्त कल्याण रूप के देने हारे । हे परम उत्तम योगियों के परमशिरोमणि योगी ! हे शुरुओं के शुरु आपको मैं वारबार विनयपूर्वक भक्ति भ्रेम और अद्वा से अभिवादन करता हूँ ।

ध्यायन्ति योगिनो योगात् सिद्धाःसिद्धेश्वरं च यद् ।

ध्यायामि सततं शुद्धं भगवन्तं सनातनस् ॥ ९ ॥

( अर्थ ) जिस शुद्धस्वरूपः सद्गुरौश्वर्तसम्पद सनातन और सब सिद्धों के स्वामी स्वयं सिद्ध परमेश्वर का योग सिद्ध योगीजन समाधियोग द्वारा ध्यान करते हैं उसी परमात्मा का मैं भी तिरन्तर अनन्तनापूर्वक ध्यान करता हूँ ।

विमलं सुखदं सततं सुहितं, जगति प्रततं तद्देहदगतं  
मनसि शक्तं यदि चस्य सुखी, सनेष्टास्ति सदेश्वर-  
सायधिकः ॥ ४ ॥

( अर्थ ) जो पूर्णकाम तृप्त व्रष्ट, विमल, सुखकारक, सर्वदा उम्र क्षमा द्वितकारक, और जगत् मैं व्याप्त है, सब देखों के माध्य-

है जिस के मन में इस ब्रह्म की प्रकटता (यथार्थ विद्यान्) है। वही मनुष्य ईश्वर के आनन्द का भागी है और वही सबसे उद्दैव अधिक सुखी है पेसे मनुष्य को धन्य है पेसे ब्रह्मनिष्ठ महाशानी आस विद्वानी को भी मेरी ओर से वन्दना प्राप्त हो।

विद्वेषप्रभागीहु बृणोति योहितम्,

नरःपरात्मानमतीवमानतः ।

आशेष दुःखातु विमुच्य विद्यया

स मोक्षपाप्नोति न कामकामुकः ॥५॥

(अर्थ) जो धर्मात्मा नर इस संसार में अत्यन्त प्रेम, विद्या सत्संग, छुविच्छारता, निर्वैरता, जितेन्द्रियता, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार (आश्रय) करता है, वही जन अतीव भाव्यशाली है क्योंकि वह मनुष्य यथार्थ सत्य विद्या से संस्फूर्ण दुःख से छूट के परमानन्द नामे परमात्मा का नित्य संग्रह जो मोक्ष है उज्जको प्राप्त होता है। अर्थात् फिर कभी जन्म मरणादि दुःखसागर को नहीं प्राप्त होता। परन्तु जो विषयलग्नपट, विचाररहित, विद्या धर्म जितेन्द्रियता सत्संग रहित, छुल कोपट अभिमान दुराग्रहादि दुष्टता सुख है इस घोक्ष छुज को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि वह ईश्वरकी से विमुक्ष है इस लिये जन्म मरण ज्वर आदि पीड़ाओं से पीड़ित होके सदा दुःखसागर में ही पड़ा रहता है। इससे खबर मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और डलकी आज्ञा से विरुद्ध कभी न होवें किन्तु ईश्वर तथा डलकी आज्ञा में तत्पर होके इस लोक (संसार व्यवहार) और परलोक (जो पूर्वोक्त योग) इनकी जिह्वि धर्यावत् करें वही सब मनुष्यों की कृत-इन्द्रियता है।

ऐसे हक गगवहमक भावयनाली और फलकल्प युक्तपौ को  
भी देवी और से बन्दना प्राप्त हो । (द्या० विं)

### इत्यार्थका ।

ओ॒ग-शृ॒चं नाचं प्रपद्ये यन्मा॑ यजुःप्रपद्ये साम प्राणं  
प्रपद्ये चक्षुः शोत्र प्रपद्ये । वागोऽनः सदाजी॑ यवि शाया-  
पानी॑ ॥ यजु० शा० द६ यं० १ ॥

(अर्थ) हे (मनुष्याः) हे “मनुष्यो (यथा; मवि) (प्राणानान्)  
जैसे ” मेरे आत्मा से प्राण और अपान उपर नीचे के प्राण  
(छड़ी भवे ताम्) दृढ़ हो ।

(मम) मेरी (काक्) वाणी+(‘ओजः’) साजसवल को (प्रा-  
न्तुयात्) प्राप्त हो (ताम्यात् च) उस वाणी और उन इवासों  
के (लह) साथ (शहम्) मैं(ओजः) शरीर बल को (प्रन्तुयात्)  
प्राप्त होऊँ ।

(कृत्यम्) वृग्वेदस्य (वाचम्) वाणी को (प्रपद्ये) प्राप्त  
होऊँ (मनः) मनन वाले वाणी (क्षचुः) अन्तःकरण के तुल्य  
यजुवेद को (प्रपद्ये) प्राप्त होऊँ ।

(प्राणम्) प्राण की नियम, अर्थात् योगात्मासादिक उपा-  
निषद के साधक, (आम) सामाजिक को, (प्रपद्ये) प्राप्त होऊँ ।

(क्षचुः) उत्तम देव, (शोधम्) और शेष कान को,  
(प्रपद्ये) प्राप्त होऊँ, (यथा) कैसे, (वूदम्) दुम लोग (एतानि)  
इन स्वयको, (प्राप्तुत) प्राप्त होओ ।

(थापार्थी) हे विद्वानो ! दुग लोगों के लाग से मेरी इन्द्रेद  
के तुल्य प्रशंसनीय वाणी, यजुवेद के उत्तम लक्ष, आम वेद  
के प्रदृश प्राण, और उच्छव तत्त्वों के कुछ जिव द्वितीय तुल्य  
खब उपदेखों से दक्षिण और समर्थ होवे ।

ओम्—यन्मे छिद्रं चक्षुरो हृदस्य मनसो वाति  
दृष्टण तृहस्पतिर्वेतदधातु । शन्नो भवतु भुवनस्य  
तस्पतिः ॥ यज० अ० ३६—३८० २

( अर्थ ) यत् जो ( ये ) मेरे ( चक्षुरः ) नेत्र की 'वा'  
( हृदयस्य ) अन्तःकरण की ( छिद्रम् ) न्यूनता "वा" ( मनसः )  
मन की ( अति दृष्टम् ) व्याकुलता है "वा" ( तद् ) वह, ( तृह-  
स्पतिः ) चड़े आकाशादि का पालक परमेश्वर, ( मे ) मेरे  
लिये ( दधातु ) पुष्ट वा पूर्ण करे, ( यः ) जो ( भुवनस्य सब  
संसार का ) ( पतिः ) इत्तक ( अस्ति ) है ( सः ) वह ( नः )  
इमारे लिये, ( शम् ) छलवाणीकारी, ( भवतु ) होवे ।

( भावार्थ ) सब मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर की  
उपासना और आशा पालन से अहिंसा धर्म को स्थीकार कर  
जितेन्द्रियता को सिद्ध करें ।

## मानस शिव संकल्प ।

अथ मनसोवरीकरण विषयमाह

आगे छुः मन्त्रो मे मन की शान्ति और एकाग्रता निर्मित  
आर्थना करते ह—

ओम्—यज्ञाग्नो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।  
दूरङ्गमं डयोतिषाऽज्यांतिरकन्तन्मे मनः शिव संकल्पस्तु ॥

यजुः अ० ३५० म० १ ॥

( अर्थ ) ( हे जगदीश्वर वा विद्वान् भवद्जुग्महेण ) मे  
जगदीश्वर वा विद्वान् ! आप की कृपा से—

( यत् ) जो ( दैवम् ) आत्मा में रहने वा जीवात्मा का  
क्षाधन ( दूरङ्गमम् ) दूर जाने, मनुष्य को दूर तक सेजाने वा

अनेक पदार्थों का ग्रहण करने वाला । ( ज्योतिषाम् ) शब्दादि विषय प्रकाशक श्रोत्र आदि इन्द्रियों को ( ज्योतिः ) प्रकाश करने वा प्रवृत्त करने हारा “और”

( एकम् ) एक ( असहाय ) है ( जाग्रतः ) “तथा” जाग्रत् अवस्था में ( दूरम् ) दूर २ ( उत्+एति ) उद्देति भागता है ।  
 ( उ ) और ( तत् ) जो ( सुप्तरथ ) सोंसे हुवे का ( तथा ) ( श्व ) उसी प्रकार ( अन्तः ) भीतर अन्तःकरण में ( एति ) आता है । ( तत् ) वह ( मे ) मेरा ( मनः ) संकल्पविकल्पात्मक मन ( शिवसंकल्पम् ) कल्याणकारी धर्मविषयक इच्छा वाला ( अस्तु ) हो ।

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की आक्षा का सेवन और निदानों का संग करके अनेकविध सामर्थ्य युक्त मन को शुद्ध करते हैं । जो जाग्रत् अवस्था में विस्तृत व्यवहार वाला है, वही मन सुखुमि अवस्थामें शान्त होता है । जो वेग वाले पदार्थों में अति वेगवान् शान्त का साधन होते से इन्द्रियों के प्रवर्तक मन को चला ये करते हैं, वे अशुभ व्यवहार को छोड़ शुभ व्यवहार में मनको प्रवृत्त कर सकते हैं ।

धोम्—येन कर्पाण्यपसो मनीपिणो यज्ञे कुरुनन्ति विदथेषु धोराः । यदपूर्वं यज्ञमन्तः प्रजानां तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ य० अ०४३३० २ ।

( अर्थ ) ( हे परमेश्वर वा विष्णु भगवत्संगेन ) हे परमेश्वर वा विष्णु आप के संग से ( येन ) जिस ( मनसा ) मन से ( अपस ) सदाकर्म धर्म निष्ठा ( मनीषिणः ) मन को दमन करने वाले ( धोराः ) और ध्यान करने वाले कुरुनान् लोग ( यज्ञे ) अग्निहोत्रादि वा धर्मयुक्त व्यवहार वा योग्यज्ञ में

( विद्येषु च ) और युद्धादि व्यवहारों में कर्माणि+क्रेवन्ति  
=अत्यन्त इष्ट कर्मों को+करते हैं ।

( यत् ) जो ( अपूर्वम् ) सर्वोत्तम गुण कर्म स्वभाव वाला  
है ( प्रजानाम् ) और प्राणिमात्र के ( अन्तः ) हृदय में ( यज्ञम्  
घर्त्तते ) पूजनीय वा संगत एकीभूत होरहा है ।

( तत् ) वह ( मे ) मेरा ( मनः ) मनन विचार करना रूप  
मन ( शिवसंकल्पम् ) धर्मिष्ठ ( अस्तु ) होवे ।

[ भावार्थ ] मनुष्यों को चाहिए कि परमेश्वर को उपासना  
ना, सुन्दर विचार, विद्या और सत्संग से अपने अन्तःकरण  
को अधर्माचरण से निवृत्त कर धर्म के आचरण में प्रवृत्त करें।

ओम्—यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ञोतिरन्त रम्ते  
मजासु । यस्मात् ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः  
शिवनंकल्पमस्तु । य० अ० ३४ मं० ३

[ अर्थ ] [ हे जगदीश्वर ! ] हे जगदीश्वर [परमयोगिन्]  
वा परमयोगिन् [ विद्वन् ] विद्वन् ! [ भवज्ञपनेन ] आप के  
ज्ञाने से । [ यत् ] जो [ प्रजासु ] मनुष्यों के [ अन्तः ] अन्तः-  
करण में आत्मा का साथी होने से [ असृतम् ] नाशहित  
[ ज्योतिः ] प्रकाश रूप मय और—[ यस्मात् ] जिसके [ ऋते ]  
विना [ किञ्चन ] कोई भी [ कर्म ] काम [ न ] नहीं [ क्रियते ]  
किया जाता । [ तत् ] वह [ मे ] सुभ ज्ञानदान् का [ मनः ] सब  
कर्मों का साधन रूप मन ( शिवसंकल्पग् ) कल्याणकारी  
परमात्मा में इच्छा रखने वाला [ थास्तु ] हो ।

[ भावार्थ ] हे मनुष्यो ! जो अन्तःकरण दुर्द्विजित और  
अहंकाररूप वृत्ति वाला होने से चार प्रकार से भीतर प्रकाश  
करने वाला, प्राणियों के सत्र कर्मों का साधक, अविनाशी मन

है उसको न्याय और सत्य आचरण में प्रवृत्त कर पक्षपात्र, अन्याय, और अधर्मचरण से तुम लोग निवृत्त करो ।

ओम्-येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिहीतममुतेन सर्वम् । येन यज्ञस्तायते सप्तशोता तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु । य० अ० ३४ म० ४

[ अर्थ ] [ हे मनुष्योः ] हेमनुप्यो [ येन ] जिस [ अमृतेन ] नाश्चरहित परमात्मा के साथ युक्त होने वाले [ मनसा ] मन से [ भूतं ] व्यतीत हुआ [ भुवम् ] वर्चमान कालसम्बन्धी [ भविष्यत् ] और होने वाला [ सर्वम् ] सब [ इदं ] यह त्रिकालस्थ वस्तुमात्र ( परिगृहीतम् ) सब ओर से गृहीत [ भधति ] होता है अर्थात् जाना जाता है ।

[ येन ] जिससे [ सप्तशोता ] सात मनुष्य होता, वा पाँच प्राण, छठा जीवात्मा और छव्यक्त सातवां, ये सात लेने देने वाले जिसमें वह [ यज्ञः ] अग्निएषोमादि वा विद्यानरूप व्यवहार [ तायते ] विस्तृत किया जाता है । [ तत् ] वह [ मे ] मे मेरा [ मनः ] योगयुक्त चित्त [ शिव संकल्पम् ] मोक्षरूप संकल्प वाला [ अस्तु होवे ।

[ भावार्थ ] हे मनुष्यो ! जो चित्त योगाभ्यास के साधन और उपसाधनों से सिद्ध हुआ भूत, भविष्यत्, वर्चमान तीनों काल का हाता, सब सृष्टि का जानने वाला, कर्म उपासना और ज्ञानका साधक है उसका सदाही कल्याणमें प्रवृत्त करो ।

ओम्-तस्मिन्नृत्यः साप यजूर्थंषि यस्मिन् भतितिष्ठा रथनाभाविवराः । यस्मिन्थित सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु य० अ० ३४ म० ५

[ अर्थ ] [ यस्मिन् रथनामौ इव आरा : ] जिस मनमें जैसे रथ के पटिये के बोत्र के काष्ठ में आरा लगे होते हैं, वैसे

[ ऋचः ] ऋग्वेद [ यजूर्ण्धिः ] यजुर्वेद [ साम ] सामवेद [ प्रतिष्ठिता ] सब और से स्थित और [ यस्मिन् ] जिस में [ अथर्वाणः प्रतिष्ठिताः भवन्ति ] अथर्व वेद स्थित हैं ।

[ यस्मिन् ] जिसमें [ प्रजानां ] प्राणियों का [ सर्व ] समर्प [ चित्तम् ] सर्व पदार्थ सम्यन्धी ज्ञान [ आत्म ] सूत्र में मणियों के समान संयुक्त [ अस्ति ] है ।

[ तत् ] वह ( मे ) मेरा ( मनः ) मन ( शिवसंकल्पम् ) कल्याणकारो वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रचाररूप संकल्प धारा ( अस्तु ) हो ।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम लोगों को चाहिये कि जिस मन के स्वस्थ रहने में ही वेदादि विद्याओं का आधार और जिस में सब व्यवहारों का ज्ञान एकत्र होता है, उस अन्तम् करण को विद्या और धर्म के आचरण से पवित्र करो ।

ओ—सुपारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभि-  
र्षाजिन इव । इत्पनिष्ठंयदजिरं जविष्ठंतन्मे मनः शिव-  
सङ्कल्पमस्तु ॥ य० अ० ३४ म० ६ ॥

अर्थ—( यत् ) जो मनः जैसे सुन्दर चतुर सारथि नाम गाड़ीधान् ( अश्वानिव ) लगाम से घोड़ों को सब और से छलाता है वैसे ( मनुष्यान् ) मनुष्यादि प्राणियों को ( नैनी-यते ) शीघ्र इधर उधर छुमाना ह और ।

[ अमीशुभिः ] जैसे राहिसयों से ( वाजिन इव ) वेगवाले घोड़ों को ( नियच्छ्रुति च घलात् ) सारथि बश में करता है, वैसे सारथिः ) अश्वान् इव प्राणिनः नयति । प्राणियों को नियम में रखता है ।

[ धृत् ] जो [ हृत्प्रतिष्ठितम् ] हृदय में स्थित [ अजिरम् ] विषयादि में प्रेरक धा चृद्धादि अवस्था रहित और [ जविष्टम् ] अत्यन्त वेगवान् [ अस्तिं ] है ।

[ तत् ] वह [ मे ] मेरा [ मनः ] मन [ शिवसंकल्पम् ] मंगल मय नियम में इष्ट [ अस्तु होवे ॥ ]

**भावार्थः**—जो मनुष्य जिस पदार्थ में आसक्त है, वही वल से सारथि धोड़ों को जैसे, प्राणियों को ले जाता है और लगाम से सारथि धोड़ों को जैसे, वैस वश में रखता है, सब मूर्ख जन, जिस के अनुकूल वर्तते और विद्वान् अपने वश में करते हैं, जो शुद्ध हुआ सुखकारी और अशुद्ध हुआ बुखदायी है जो जीता गया सिद्धिको और न जीत लिया गया असिद्धि को देता है वह मन मनुष्यों को अपने वश में रखना चाहिये ।

## अथ उपासनायोगे समाधियोगः ॥

### ( ६ ) धारणा

देशवन्धवित्तस्य धारणा यो० पा० ३ सू० १

[ अर्थ ] चित्त के नाभि आदि स्थानों में स्थिर करने को धारणा कहते हैं [ यह ध्यानयोग का छुटा अङ्ग है ]

अर्थात् धारणा उस को कहते हैं मन को चञ्चलता से हुड़ा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभके अग्रभाग आदि देशों में स्थिर कर के ऊँकार का जप और उस का अर्थ जो परमेश्वर है । उस का विचार करना ।

जब उपासना योग के पूर्वोक्त पांचों अंग सिद्ध हो जाते हैं तब उस का छुटा अङ्ग चारणा भी यथावत् प्राप्त होती है ।

[ धू० पू० १७७ १७८ ]

धारणा विषयक वेदोक्त प्रमाण नीचे लिखे जाते हैं ।

[ देखो भूमिका पृ० १५८ १६० ]

ओं सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् ।

धीरा दंवेषु सुमनया । य० अ० १२ म० ६७ ॥

अर्थ—जो विद्वान् योगी और ध्यान करने वाले लोग हैं वे यथायोग्य चिभाग से नाड़ियों में अपने अमत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं । जो योगकर्मों में तत्पर रहते हैं, अपने ध्यान और आनन्द को विस्तृत करते हैं, वे विद्वानों के धीच में पश्चांस्ति होते और परमानन्द को प्राप्त होते हैं ।

ओं युनक्त सीरा वियुगा तनध्वं कृते योनौ वपते इ<sup>१</sup>  
मीजम् । गिरा च श्रुष्टिः स भरा असक्षो नेदीय इत्सृण्यः  
पक्वमेयात् ॥ य० अ० १२ म० ६८

[ अर्थ ] हे उपासक लोगों ! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाड़ियों में ध्यान कर के परमानन्द का विस्तृत करो । इस प्रकार करने से योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्द स्वरूप परमेश्वर में स्थिर कर के उस में उपासना विधान से विज्ञानरूप धीज को बौआओ, तथा पूर्वोक्त प्रकार से घेद चाणी कर के परमात्मा में युक्त हो कर उसको स्तुति, प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्त करो तथा तुम लोग पेसी इच्छा करो कि हम उपासना योग के फलको प्राप्त हों और हमको ईश्वर के अनुग्रह से वह फल शीघ्र ही प्राप्त हो, कैसा वह फल है कि जो परिपक्क शुद्ध परम आनन्द से भरा हुआ और मोक्ष सुख को प्राप्त करने वाला है अर्थात् वह उपासना योग वृत्ति कैसी है कि सब क्लेशों के नाश करने वाली और शान्ति आदि गुणों से पूर्ण हैं । उन उपासना

योग शृङ्खियों से परमात्मा के योग को अपने भात्मा में प्रकाशित करो ।

## धारणा विषयक वेदोत्तम प्रमाण ।

आजे वेदोंपद्धिष्ठ धारणा और संयम करने के स्थानों का विषयरण ईश्वर की शिक्षानुकूल वेदमन्त्रों द्वारा करते हैं ।

ओ—शादं दद्विरवकादन्तमूलैर्मदं वस्त्वैस्तेगान्दथ्याप्स्त्रा  
भ्याथ्यसरस्वत्याऽश्रग्जिहवं जिहवाया उत्सादमदक्रन्देन  
तालु बाजउँहनुभ्यामप आस्येन दृष्टेण मारहाम्याम् ।  
आदित्यान् रमश्रुभिः पथानं भूभ्यां व्यावापृथिवी चत्तो-  
भ्यां विद्युत कनानकाभ्याथ्यशुवलाय स्वार्द्धा कुण्डाय स्वा-  
हा पार्याणि यच्चमात्र्य वाया इक्षवोऽवार्याणि पार्या इक्षवाः  
ब० अ० ८५ मं० १

पदार्थः—[ हे जिज्ञासो हिद्यार्थिन ! [ हे अच्छे ज्ञान की व्याहना करते हुप विद्यार्थी जन !

[ ते ] तेरे [ दक्षिः ] दातों से [ शाकम् ] जिस में छेदन करता है, उस व्यवहार को

[ दन्तमूलैः ] दांतों की जड़ों [ वस्त्वैः ] और दांतों की पंछाड़ियों से [ अवकाम् ]। इता करने वाली [ मुदुम् मट्टी को [ दंष्ट्राभ्यां ] डाढ़ों से ] [ सरस्वत्यै ] विशेष ज्ञान वाली वाणी के लिये [ गाम् ] वाणी को

[ जिहवायाः ] जीभ से [ अग्रजिहवम् ] जीभ के अगले भाग को [ अवकलन्देन ] विकलता रहित [ उत्सादम् ] व्यवहार से जिस में ऊपर को स्थिर होती है, [ तालु ] उस तालु का [ हनुभ्याम् ] डाढ़ी के पास के भाग से [ वान्नम् ] अन्न

को [ आस्थेन ] जिस से भोजन आदि पदार्थ को गीला करते हैं, उस मुख से [ अः ] जलों को [ अण्डाभ्यां, वृथणम् ] धीर्य को अच्छे प्रकार धारण करने हारे अण्डफोप से धीर्य शर्णने बाले अङ्ग को [ शश्त्रमिः आदित्यान् ] तुरब को खारों और जो केश अर्थात् ढाढ़ी, उस से मुख्य विद्वानों को [ मृभ्याम्, पन्थानम् ] नेत्र गोलकोंके ऊपर जौ भौं हैं उनसे मार्य को [ वर्त्तम्यां, द्यावापृथिवी ] जाने आने से सूर्य और भूमि तथा [ कनीनेषाभ्यां, विद्युनम् आहं दीधगमि ] तेज से भरे हुए काले नेत्रों के तारों के सदृश गोलों से विजुली को मैं समझता हूँ [ शुकाय, स्वाहा ] धीर्य के लिये ब्रह्मचर्य किया से [ कृष्णाय, स्वाहा ] विद्या खींचने के लिये सुग्रदर शीलयुक्त किया से [ पर्याणि, पद्माणि ] पूरे करने योग्य जो सब और से लेने चाहिये उन कामों घ पलकों के ऊपर के विशेष [ अवार्यः, इक्षः ] नदी आदि के प्रथम और होने वाले गङ्गों के पौंदे वा [ अवार्याणि, पद्माणि ] नदी आदिके पहिले किनारे पर होने वाले पदार्थ सब और से जिन का ग्रहण करें वा लोम—और [ पार्यः इक्षवः ] पालना करने योग्य उस जो शुड़ आदि के निमित्त हैं, वे पदार्थ [ त्वया, संग्राहाः ] तुक को अच्छे प्रकार ग्रहण करने चाहिये ॥

**भावार्थः—**अध्यापक सोग अपने शिष्यों के अंगों को उपदेश से अच्छे प्रकार पुष्ट कर तथा आहार वा विहार का अच्छा वोध समस्त विद्याओं की प्राप्ति, अखण्डित ब्रह्मचर्य का सेवन और ऐश्वर्य की प्राप्ति कराके सुखयुक्त करें ॥

इस मन्त्र में शनीर के अनेक अङ्गों में धारणा कर २ ले संयम करने तथा धीर्य का आकर्षण और रक्षा करके उधरेता होने विद्या गम्भीरान के हमय धीर्य को यथापि धि प्रदेष परने का उपदेश परमात्मा ने किया है ॥

( आगङ्गाभ्यां, वृषभणम् ) इस वाक्य से गर्भधान किया का ( जो गर्भस्थापक प्राणायामद्वारा की जाती है ) तथा- ( शुक्रायस्वाहा ) इस वाक्य से व्रह्मचर्य किया द्वारा वीर्य का व्याकरण करने का ( जो वीर्यस्तम्भक प्राणायाम द्वारा की जाती है ) परमात्मा ने उपदेश किया है ( कृष्णायस्वाहा ) इस से वीर्य खींचने की क्रिया अर्थात् विद्या भी समझना चाहिये ॥

ओं—वातं प्राणेनाऽपानेन नासिकेऽउपयामपधरेण्ठोष्टेन सदुत्तरेण प्रकाशनांतरभनूकाशन वायं निवेष्यं मूर्धन्नी स्तनयित्वं निर्वायेनाशनिमस्तिष्ठेण विद्युतं कन्नानकाभ्यां कण्ठाभ्याथं श्रोत्रं श्रोत्राभ्यां कण्ठों तेदनोमधरकरणेनापः शुष्ककणेन चित्त मन्या भिरदिनि शीष्णा निर्वृत्वि निर्नजन्येन शीष्णासंक्रांशेःप्राणान् रेष्माणुञ्चस्तुपेन॥२॥

य० अ० २५ मं० २

प्रार्थः—(हे जिज्ञासो विद्यार्थिन् भद्रुपदेशग्रहणेन त्वम्) हे जानने की इच्छा करने वालो विद्यार्थी ! मेरे उपदेश के अद्य से तू ( प्राणेन, अपानेन, वातम, नासिके, उपयामम् ) प्राण और अपान से पचन और नासिका लिंग्रों और प्रोस्त हुये नियम को अर्थात् यम तियमादि योगङ्गों को ( अधरेण, ओष्टेन, उत्तरेण, प्रकाशेन, सदन्तरम् ), नीचे के आंषु से और ऊपरके प्रकाशरूप ओष्ट से बीच में विद्यमान मुख आदि स्थान को ( अनुरक्षण, वाह्यम् ) पीछे से प्रकाश होने वाले अङ्ग से, बाहर हुये अंग को ( मूर्धन्न, निवेष्यम् ) शिर से जो निष्ठय से व्यास होने योग्य उस को निवधिन, स्तनयित्वम्, अशनिम्) निरन्तर ताङ्गना के हेतु के साथ शब्द करने हारी विज्ञुली को ( मस्तिष्ठेण, विद्युतम् ) शिर की दर्ढी और नसों से,

प्रति प्रकाशमान दिल्ली को ( कनीनकाभ्याम्, कर्णाम्याम्, द्वर्णी ) दिपते हुये शब्द को सुनवाने हारे पद्मों से जिन से प्रवण करता है उन कानों को और ( श्रोत्राभ्याम्, श्रोत्रम्, देवनीम् ) जिन गोल २ द्वेदों से सुनता है उनसे अवरोहन्दिव्य और अवण कपने की क्रिया को ( अधरफरडेन, आपः ) फंड के नीचे के भाग से जलों को ( शुक्करडेन, चित्तम् ) सूखते हुये कण्ठ से, विशेष ज्ञान सिद्ध कराने हारे अन्तःकरण के पर्ताव ( चित्त की वृत्ति ) को ( मन्याभः, अदितिम् ) विशेष ज्ञान की क्रियाओं से न विनाश को प्राप्त होने वाली उत्तम शुद्धि को ( शीर्षणा, निर्वृतिम् ) शिर से भूमि को ( निर्जल्येन, शीर्षणा, संकोशैः, प्राणान्, प्रभुहि ) निरन्तर जीर्ण सब प्रकार परिपक्व हुए शिर और अच्छे प्रकार ( आह वान ) धुलबाओं से प्राप्तों को प्राप्त हो तथा ( स्तुपेन, रेष्माणम्, हिन्दि ) हिंसा से हिंसक अविद्या आदि रोग का नाश कर ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिये कि पहिली अवस्था में समस्त शरीर आदि साधनों से शारीरिक और आत्मिक बल को अच्छे प्रकार सिद्ध करें और अविद्या दुष्ट शिखावट [ शिक्षा ] निन्दित स्वभाव आदि रोगों का सब प्रकार हटाने करें ॥

ओं विधृतिं नाभ्या धृतश्वरसेनापोयूषणा पारीचं  
विमुह्पिर्नीहारमूष्मणा शीनं वसया पुष्वात्रशुभिर्दुनौ-  
दूषीकभिरस्ना रक्षाऽऽ सीचित्रादयज्ञैनकत्राणि रूपेण  
पृथिवी त्वचा जुम्बकाय स्वाहा । य० अ० २५ अ० ६

अर्थः—[ हे मनुष्यों यूम् ] हे मनुष्यो ! तुम लोग ( नाभ्या, विधृतिं, धृतम् ) नाभि से विशेष कर के धारणा को धी का ( रसन, आपः ) रस से जलों को यूषण, मरीचिः )

क्वाय किये रस से किरणों को ( विप्रुद्भिः, नीहारम् ) विशेषतर पूर्ण पदार्थों से कुदर दो ऊपरणा, शीनम् ) गर्भी से जमे हुवे घो का ( वसया, पुञ्चाः ) निवासहेतु जीवन से उभ मियाओं को कि जिन से सोचते हैं ( अश्रुमिः, होदुनीः ) आसुओं से शब्दों को अप्रकट उच्चारण कियाओं को ( दूषाकामिः, चित्राणि, रक्तांसि, अस्ता ) विकाररूप कियाओं से निव्र विचित्र, पान ग करने योग्य, रुधिरादि पदथों को ( अंगोः, रूपेण, नक्षत्राणि ) अंगों और रूप से तारागलों का - और [ त्वचा, पृथिवीम्, विदित्वा ] मास रुधिरादि को दापने घाली खाल आदि से पृथिवी को जान कर ( जुम्बकाय, स्वाहा, प्रपुड्ध्यम् ) आत वेगवान् के लिये सत्य घाणे का प्रयोग करा अथोत् उच्चारण करो ।

**भावार्थः—**मनुष्यों का धारणा आदि कियाओं से जोटे आचरण आर रागों की निवृत्त और सत्यमापण आदि अर्थ के लक्षणों का विचार करना चाहिये ॥

यजुवेद के ( २५ ) पञ्चीसवे अध्याय के आरम्भ से नवे मन्त्र तक परमेश्वर ने उपदेश किया है कि धारणारूप योगाभ्यास की क्रिया द्वारा शरीरस्थ और सन्सारस्थ पदार्थों का हान प्राप्त करके अन्य जिज्ञासुओं का सिखलाना, अपने अङ्गों की रक्ता करके परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना पूर्वक आत्मा और परमात्मा के हान को प्राप्त करना चाहिये यहां उदाहरण मात्र तीन अर्थात् प्रथम, द्वितीय और नवम मन्त्र लिख कर उसी विषय का दर्शा दिया है ।

हृदय, कण्ठकूप, तित्त्वाश्र, जिह्वामूल जिह्वामध्य, नासिकाश्र, विकुटी ( भ्रूमध्य ), ब्रह्मारड ( मूर्धा ), दोनों नेत्र, दोनों कान, दोनों अर्थात् उपर नीचे के धान्तों के बीच में जहाँ आम लगा कर तकार का उच्चारण होता है वह स्थान, रीढ़

का मज्ज ( पोड़ का हाड़ ) नाभिकल्प छद्य, तालु, थोड़ी सुख हाड़, और दांतको आगाड़ी पिछाड़ी आदि अन्य अनेक स्थानों में धारणा की जाती है और इन ही स्थानों में संयम भी किया जाता है, और यहो सब स्थान पूर्वोक्त वेद मन्त्रोंमें भी गिनाये गये है ॥

सुषुप्तमा आदि नाड़ियों में धारणा करने के थोड़े से बे-दोक प्रभाण आगे और भी लिखे जाते है ॥

## प्रथम प्राणायामकी धारणा सुषुप्तमना नाड़ी में ।

ओं—इन्द्रस्यरूपपृथभो वलाय कणाभ्याऽश्रोत्रपमृतं प्रहाभ्याम् । यवा न चाहिष्येवि कंसराणि कर्कन्धुजज्ञे मधु सारघं सुखात् । यजु० अ० १६ मं० ॥ ६१ ॥

अर्थ—( यथा ) + जलं ( ग्रहाभ्याम् ) जिनसे ग्रहण करते है ( सह ) उन व्यवहारों के साथ । ( शृ॒पमः ) जानी पुरुष ( वला ), योग समर्थके लिये ( यवाः ) यवों के ( न ) समान । ( कणाभ्याम् ), कानों से ( श्रोत्रम् ) शब्द विषय को ( अ-सृतम् ) निरोग जल को ( कर्कन्धु ) और जिस से कर्म को धारण करे उस के ( सारघम् ) एक प्रकार के स्वाद से सुख ( मधु ) सहत ( यहिंः ) दुः्ख कारक व्यवहार और ( अविं ) नेत्र और जलाट के धोच में ( कंसराणि ) विश्वानों अर्थात् सु-षुप्तमनामें प्राण वायुका निरोध कर ईश्वर विषयक विशेष ज्ञानों को ( सुखात् ) सुख से ( जनयति ) उत्पन्न करता है ।

( तथा ) वैसे ( पतत् ) यह ( सर्व ) सब ( इन्द्रस्य ) परं मेश्वर्य का [ रूप ] स्वरूप [ यहें ] उत्पन्न होता है ॥

[ भावार्थ ] जैसे निवृत्ति मार्ग में परम योगी शोग यला से सब लिद्धियों को प्राप्त होता है वैसे ही अन्य गृहस्थ लोगों को भी प्रवृत्ति मार्ग में सब ऐश्वर्य को प्राप्त होना चाहिये ॥

औं—इमम्ये गंगे यमुने सरस्वती शृतुद्वि स्तोमं सचता परुषएथा । असिकन्या महदवृधे वितस्त यार्जीकीये शुण्डा सुपोमया ॥ अ० अ० ८ । अ० ३ । व० ७ । म० २० । अ० ६ । सू० ७५ ( भूः पृ० २६६ )

[ अर्थ ] हे विद्वन् ! = हे विद्वन् योगी !

[ गङ्गे ] गंगा [ यमुने ] यमुना [ सरस्वति ] शृतुद्वि [ ( परुषिण ) परुषिण [ आर्जीकीये ] आर्जीकया [ प्रभृतयः जाठराग्नेः नाडधः ] आदि जठराग्नि की नाडियाँ [ असिकन्या ] असिकन्तो [ वितस्ता ] और [ सुपोमया ] सुपोमया के [ च सह ] साथ ।

[ मरुत् ] हमारे शरीरस्थ पाणादि वायुओं को [ आ—शुष्टे वृद्धि ] आसमन्नादवृद्धये = विवर्धताय ] उन्नति के लिये [ इमम् ] मेरी [ मे ] इस [ स्तम्भम् ] स्तुतिमय उपासना को [ आसचत ] सब ओर से अच्छे प्रकार प्राप्त करतो हैं ।

[ इति ] इस बात को [ त्वम् ] अच्छे प्रकार ध्यान [ आ ] लगा कर [ शृणुहि ] अवश कर अर्थात् [ विजानीहि वा ] विशेष कर के जान ।

“इमम्ये गंगे यमुने सरस्वतीं” इस मन्त्र में गंगा आदि इडा, पिंगला, सुमुखा, कर्मा और जठराग्नि की नाडियों के नाम हैं । उन में योगाभ्यास [ धारणा ] से परमेश्वर को उपासना करने से मनुष्य लोग सब दुखों से नर जाते हैं क्या कि उपासना नाडियों ही के द्वारा धरण करनो होती है ।

"सित इडा और अस्ति न विगला, ये दोनों जहाँ मिलती हैं। उस को सुषुम्ना कहते हैं। उस में योगाभ्यास से स्नान कर के जीव शुद्ध हो जाते हैं, फिर शुद्ध रूप परमेश्वर को प्राप्त हो के सदा आनन्द में रहते हैं। इसमें नियकाकार का भी प्रयाण है कि सित और अस्ति शब्द, शुक्ल और कृष्ण अर्थ के बाच्ची हैं।

इडा, विशुला और सुषुम्ना, इन तीनों के अन्य नाम भी नीचे लिखे प्रमाण जानो। दक्षिण नाभिका छिद्र में स्वर इडा नाड़ीसे चलता है और वाय में विगला से। त्रिकुटी [भ्रमध्य] में इडा, विगला दोनों मिलती हैं, वही सुषुम्ना का स्थान आनो, उस ही को त्रिवेणी भी कहते हैं। इस ही स्थान में एक छिद्र है, जिस को ब्रह्मान्ध कहते हैं, जो जीवात्मा सुषुम्ना नाड़ी में हो कर ब्रह्मरन्ध द्वारा शरीर छोड़ता है, वह मुक्ति [मोक्ष] को प्राप्त होता है अन्य इन्द्रिय छिद्रों से निकलने वाला जीवात्मा यथाक्रम अथो गति को प्राप्त होता है। जो योगीजन कूर्मानाड़ी में संयम करके निद्रा के आदि और अन्त को पहि छान लेता है वही योगी समाधि द्वारा कूर्मा में अपने मन सहित सब इन्द्रियों से संयम कर के ब्रह्मरन्ध द्वारा शरीर छोड़ कर परमात्मा के आधार में मोक्ष पद को प्राप्त होता है॥

## पूर्वोक्त तीन नाड़ियों के ये नाम हैं।

दक्षिण नाड़ी वा	वामनाड़ी वा	संगम् को मध्यनाड़ी
इडा के नाम	विगलाके नाम	सुषुम्नाके नाम
रंगा	यमुना	सरस्वती
शुक्ल	कृष्ण	त्रिवेणी
सित	अस्ति	सुषुम्ना

सूर्य	चन्द्र	मूलनाड़ी
उषा	शीत	अहरनभ

इडा और पिंगला को उषण और शीत इस कारण कहते हैं कि उन में से प्रकाशमय विद्युत और धात्री सूर्य की नाड़ा गरम है। दूसरी अवधिकारमय वर्ण और धात्री चन्द्रमा की भाड़ी ठण्डी है।

## (७) ध्यान ।

सत्र प्रत्ययेऽक्षमानता ध्यानम् ॥ यो० पा० ३ सू० ६

[ अर्थ ] उन नामि आदि देशों में जहाँ धारणा की जाती है वहाँ ध्येय के अवलम्ब के ज्ञान में चित्त का लय हो जाना, अर्थात् ध्येय के ज्ञान से अतिरिक्त अन्य पदार्थों के ज्ञान का अभाव हो जाने की दशा को ध्यान कहते हैं ॥

अर्थात् धारणा के पीछे उसी हेश में ध्यान करने और आध्यय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उस के प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार और प्रेस भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य इसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना, इसी का नाम ध्यान है ।

## (८) समाधि ।

सदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिति समाधिः ॥

यो० पा० ३ सू० ३

( अर्थ ) पूर्वोंक ध्यान जब अर्थमात्र ( संस्कारमात्र ) इजास और स्वरूपशून्य सा प्रतीत हो, उसे समाधि कहते हैं ।

अर्थात् जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके अपने शरीर को भी भूले हुवे के समान ज्ञन के आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं ।

ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला जिस मन से जिस वस्तु का ध्यान करता है; वे तीनों विद्यमान रहते हैं, परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्द स्वरूप के ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है, वहाँ तीनों का भेदभाव नहीं रहता । जैसे मनुष्य जल में डुबकी सार के थोड़ा समय भीतर ही रक्का रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होकर फिर बाहर को आ जाता है ।

१ २ ३ ४

पूर्वोक्त सातों अङ्गों ( यम, तियम, आसन, प्रणायाम,  
प्रत्याहार, धारणा, और ध्यान, ) का फल समाधि है ।

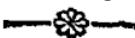
समाधि तीन प्रकार की होती है । अर्थात् प्रथम—

( १ ) सचिकल्पसमाधि वा सम्प्रज्ञातसमाधि है, कि जिस में आकार के जपरूप किया की विद्यमानता रहती है । अतएव सचिकल्प कहाती है । यह समाधि बुद्धि के आधार में होती है । अर्थात् प्रणव का उपांशु ( मानसिक ) जाप मन ही मन में अर्थात् मननशक्ति रूप बन से किया जाता है, परन्तु मनसे परे सूक्ष्म पदार्थ बुद्धि है, जो मानसिक व्यापार को छोड़ कर जीवात्मा प्रक्षा नाम बुद्धि के आधार में ध्यान करने से इस समाधि को ग्रास करता है । अतएव यह, "सम्प्रज्ञातसमाधि" वा "प्रज्ञातसमाधि" कहाती है ।

( २ ) दूसरी असम्प्रशात् समाधि = अर्थात् जब जीवात्मा शुद्धि से भी परे ( सूक्ष्म ) जो अपना स्वरूप है, उसमें स्थिर होता है, उसको "असम्प्रशात् समाधि" कहते हैं। पर्योकि इस समाधिमें जीवात्मा शुद्धिका उल्लंघन करके उसका आधार भी भी छोड़ देता है। इस समाधि पर्यन्त जीवात्मा को अपना यथार्थ ज्ञान भी प्राप्त होता है।

( ३ ) तीसरी "निर्विकल्पसमाधि" कहाती है। इस समाधिमें जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान होने पश्चात् जब एवरात्मा का ज्ञान प्राप्त होता है, तब वह ( जीवात्मा ) अपने स्वरूप को भी भूला हुआ जा जान कर परमात्मा के प्रकाशरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण हो जाने पर केवल परमेश्वर के आधार में साक्षात् परमात्मा के साथ योग(मेल) प्राप्त करता है, इस समाधिमें आधार आधेय सम्बन्ध का भी भान नहीं रहता। यही सरपूर्ण योग की फलसिद्धि है। और यही मोक्ष है। और परमात्मा का पूर्ण ज्ञान हो जाने से नास्तिकता भी नष्ट होजाती है, अर्थात् परमेश्वर के न होने में जो भ्रम होते हैं, सो परमात्मा का हस्तामलक ज्ञान प्राप्त होजाने पर सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं।

जो योगीजन करण्डदेश में संयम करके करण्डदेशस्थ व्यान वायु के साथ मन का संयोग नहीं होने देते वे ही निर्विकल्प-समाधियोग को प्राप्त हो सकते हैं। घोषामात्र व्यान वायु के साथ मन का संयोग होने से ही होती है। जब उक्त संयम के करने से संकल्प का मूल वा बीज ही नष्ट हो जाता है, तब कोई चिकित्सा भी नहीं रहता। उस ही अवस्था को निर्विकल्पसमाधि वा निर्विजितसमाधि कहते हैं, जिस के आनन्द का पारावार नहीं जैसा कि उपनिषद् में कहा है कि—



## सुमाधि का आनन्द ।

समाधिनिरूपनम् चेतयोः  
निवेशितस्यान्मनिष्टुर्वभवेत् ।  
न यज्ञयने वर्गमितं गिरा नदा,  
स्वयं नदन्तःकरण्यन् गृह्णते ॥

(अर्थ) जिन मुक्त के समाधियोग से अविदिदि मला नष्ट हो जाये हैं, आत्मस्थ दीक्षा, परमात्मा में जिन गिरने समाप्त है, उनको ही परमात्मा के दोग या द्वय होता है, वह बासी से छह नदी जा जाता, क्योंकि उन आनन्द को जीवात्मा अतने अन्तःकरण से अदृश करता है। उपात्मा नद का अर्थ नदीपत्त्व होता है। अद्वैत योग से परमात्मा के नदीपत्त्व होते और उनको उत्तेजार्या स्वरूप्यांशो लगाने प्रयत्न करने के लिये होते हैं। जित्येवं करनी होती है, वह वह स्वयं अत भूमि की जाती है, जितका कि प्रकाश इन अन्य में जितासुओं के हितार्थ किया है।

—८—

## सुमाधिविषयक मिथ्या विश्वाम ।

ममगति त्रायन् मे येत्वा विश्वाम है कि येत्वा इन वर्त्ताओं में प्राप्त चहार लहरों वर्गों तक की समाधि अव्याप्त करने से लगा निकलते हैं। यह बात सुर्वश्च मिथ्या है। क्योंकि शुर्पान के जिन लहरों में अत्यन्त और अद्यान किया जाता है, उनहीं दृशों में सुमाधि भी की जाती है। जिटामय (रुद्धिकारी) पीठ का हाथ (र्महाठ) करकरूप, नायिं, दन्तमूर्त इत्यादि। जिन प्रकार इन स्थानों में सुमाधि अविक्ष कालदक नहीं लगाई जा

कहसकता है

सकती इसही प्रकार ब्रह्मांडमें भी जानो क्या के ५ काल की कि पोठ के हाड़, दाँत की जड़ आदि स्थानों में नि ५ के देर समाधि लगाई जा सकती है जब इन स्थानों में अर्थात् वहाँ नहीं उहर सकती तो ब्रह्मांड में अधिकता ही क्या है जो विशेष उहरे प्रत्युत वहाँ तो प्राणद्वारा धारणा ध्यान समा करनी होती है, कि जहाँ प्राण अधिक नहीं उहर सकता क्यों— ब्रह्मांड में प्राण पहुँचते ही थोड़ी देर उपरान्त शोष ही नासिका द्वारा निकल जाता है। महायोगी श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज छत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में स्पष्ट कहा है कि—“जैसे मनुष्य जल में डुबकीमार के थोड़ा समय भीतर हो रका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के चीच में सज्ज हो कर फिर बाहर को आ जाता है” अर्थात् थोड़ी २ देर की समाधि लगती है। तत्त्वज्ञानी लोग अच्छे प्रकार जान सकते हैं कि मनुष्य के इनास प्रश्वास का संचार थोड़ी देर भी बन्द रहे था रुधिर की भ्रमणगति शरीर में रुक जाय तो मनुष्य जीता नहीं रह सकता। ऐसा प्रत्यक्ष और पुष्ट प्रमाण हाने पर भी जो कोई विश्वास कर ले कि योगी लोग समाधि लगाने पर पृथ्वी से गाढ़ देने के पश्चात् वर्ष वा दो वर्ष के उपरान्त समाधि में से जीत निकलें, ऐसे पुरुष को बुद्धिमान कौन कह सकता है॥

## समाधि का फल ।

समाधि द्वारा परमेश्वर का साक्षात् हो जाने पर जब प्रकृति, जीव और ईश, इन तीन पदार्थों का यथावत् पूर्णशान अर्थात् निश्चयात्मिक बुद्धि पूर्वक इन तीनों के सेव भाव का निर्णय होकर यथार्थविवेक प्राप्त होता है, तब अपने अन्तर्यामी

के प्रेम में मग्न होकर जीव मोक्ष को प्राप्त करता है । जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा भी है कि—

सत्यं ज्ञानमनन्तब्रह्म यो वेद निदितं गुहायां परमेव्योमन्  
सोऽनुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चित्तेति ॥

तै० ब्र० व० अ० ? ॥

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्यज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप को जानता है, वह उस व्यापकरूप ब्रह्म में स्थित होके उस ( विपश्चित् ) अनन्त विद्यायुक्त ब्रह्म के साथ सब कामों को प्राप्त होता है । अर्थात् जिस २ आनन्द की कामना करता है उस २ आनन्द को प्राप्त होता है । यही मुक्ति है ।

“मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छुंद धूमता, शुद्ध धान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता सृष्टि विद्या को क्रम से देखताहुआ सब लोकान्तरों में अर्थात् जितने ये लोक दोखते हैं और जो नहीं दीखते उन सब में धूमता है । वह सब पदार्थों को जो कि उसके ज्ञान के आगे हैं सब को देखता है । जितना ज्ञान अधिक होता है उसको उतना आनन्द अधिक होता है । मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्ण ज्ञानी होकर उस को सब संनिहित पदार्थों का भान यथा चतुर्होता है ॥

## संयम

त्रययेकत्र संयमः ॥ यो० अ० ३ श० ४

जिस देश में धारणा की जाती है उसी में ध्यान और उसी में समाधि भी की जाती है । अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों के एकत्र होने को संयम कहते हैं ।

जो एकही कौल में धारणा, ध्यान और समाधि, इनतीनों का मेल होता है अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है उन में बहुत सूचम काल का भेद रहता है, परन्तु जब समाधि होती है तब आनन्द के चीज़ में तीनों का फल एक ही हो जाता है। अर्थात् ध्यान करने योग्य परमे-श्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं।

संयमश्चोपासनाया नवमाङ्गम् । यो० पा० सू० ५

( अर्थ ) संयम उपासनायोग्य का नवमा अङ्ग है।

### संयम का फल

तज्जयत् प्रज्ञालोकाः ॥ यो० पा० ३ सू० ५

( अर्थ ) उस संयम के जीतने से समाधिविपयखी बुद्धि-का प्रकाश होता है ॥

अर्थात् जैसे २ संयम स्थिर होता जाता है, वैसे २ बुद्धि अधिकतर निर्मल होती जाती है और परिणाम में जब उमा नाम की बुद्धि प्राप्त होती है, तब परमात्मा का हस्तामलक साक्षात्कार होता है।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ यो० पा० ३ सू० ६

( अर्थ ) उस संयम की स्थिरता योग की भूमियों मैक्कमशः करनी चाहिये।

अर्थात् जिन स्थानों में धारणा की जाती है उन को योग की भूमियाँ कहते हैं। उन भूमियों में संयम को दृढ़ और परिपक्व करना चाहिये। इस प्रकार धारणा, ध्यान, समाधि वा संयम को स्थिर करने का नाम भूमिजय है ।

विद्वान् उपदेशक को उचित है। कि धारणाविपय में कहे शरीर के देशों में से किसी एक स्थान में कि जहाँ जिस का

ध्यान उहारे और सुगमता से बोध हो, अधिकारी जिज्ञासु को आरम्भ में स्पष्टतया विदित करावें। योग निषुण विद्वान् उपदेशक ऐसा ही प्रत्यक्ष बोध विदित करा भी देते हैं। जब तक जिज्ञासु को किसी पूकार का पृथक्ष न हो, तब तक उपदेश भूंठा जानो, क्योंकि उस में अद्वा और विश्वास न होने के कारण जिज्ञासु की प्रवृत्ति नहीं होती और उपदेश निष्फल बाता है।

संयम किसी एक देश में परिपक्व हो जाने के पश्चात् नीचे की भूमि से लेकर ऊपर की योगभूमि तक करना उचित है ॥

भगवान् पतञ्जलिमुनि ने योगदर्शन में अनेक प्रकार के संयम तथा उनके अनेक भिन्न २ प्रकार के फल कहे हैं, उनमें से योड़े यहाँ भी आगे कहे जाते हैं । यथा—

( १ ) नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् । यो० पा० ३ स० २७

नाभि चक्र में चित्त की घृत्तियों को स्थिर करके संयम करने से नाड़ी आदि शरीरस्थ स्थूल पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है ।

( २ ) कंठकूपे ज्ञुतिपपासानिवृत्तिः । यो० पा० ३ स० २८

कंठकूप में स्थित इडा नाड़ी में संयम करने से भूख और प्यासकी निष्पत्ति होती है, अर्थात् जब तक योगी कंठकूप में संयम करे, तब तक ज्ञुतिपपासा अधिक धाधा नहीं करतीं । इस बातका यह विश्वास मिथ्याभ्रममूलक है । तत्ववेत्ता और संयमी योगी जान सकते हैं कि कंठकूप में चन्द्रमा की नाड़ी (पिंगला) चलती है, इस कारण भूख प्यास की तीव्रता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि भूख प्यास लगाने वाली सूर्य की नाड़ी (इडा) उस समय बन्द रहती है ।

[ ३ ] कूर्यात्माम् स्थेयग् । यो० पा० ३ म० २६ ।

मूर्यनिर्गी में संयम करने ने चित्त दी हिशरता होती है, और उसी प्रकार समाधि प्राप्त होती है कि जिस प्रकार पूर्वोक्त निद्राविषय विनियन स्थग्नावस्था होती है

( ४ ) मूर्द्धज्योतिषि द्विलदर्शनम् । यो० पा० ३ म० ३०

( मूर्द्धा ज्योतिषि ) अर्थात् द्विलदर्शनम् इयान् कथात् के जिकुटीहृषि ( भूगत्त्वस्थ , द्विट् में जो आनन्दपी प्रकाश है, उस में संयम करने से परमलिङ्गि जो परमात्मा है; उस का सावान् द्वान् प्राप्त होना है । उस समय जीव को ऐसा भासना है कि मानो कोई योगीश्वर जित्त पुरुष वा निजगुरु कुछ उपदेश करता हो । जैसे छू० भा० भू० के गृष्ठ ४३ में कहे नचिकेता और यम का सवाद मानो अलंकार रूप से वर्णित जीव और ब्रह्म का संवाद है, अर्थात् परमात्मा ने जीवात्मा को उपदेश किया है । इसही प्रकार योगियों को अन्तर्यामी परमात्मा ज्ञान के प्रकाशद्वारा उपदेश किया करता है ॥

मूर्द्धा में जो प्रकाश का वथन उपर आया है, उसको किसी प्रकार की अमर्त ( रोऽुर्ति ) कदापि न समझनी चाहिये । प्रत्युत, सब रोशनियों का भी जानने वाला जो आनंदरूपी प्रकाश है, वहाँ तर्वं ऐसे स्थलों में अभिप्रेत होता है ॥

( ५ ) वलेषु हस्तिवलादीनि ॥ यो० पा० ३ म० ३२

अपने शरीर के बल से संयम करने से हाथी के समान बल प्राप्त होता है, यही सुचकार वा अभिप्राय है । मर्योऽुक्ति अपने शरीर से बाहर कोई संयम नहीं कर सकता । और न कोई पुरुष हाथी के शरीर में से बल निकाल कर अपने शरीर में प्रविष्ट कर सकता है । बाहर के संयम का तर्वया निषेध

है और अन्य के बल को अपने शरीर में धारण करना भी असम्भव है ॥

[ ६ ] हृदये चित्तसंचित् ॥ यो० पा० ३८० ३२

हृदय जो शरीर का एक अंग है वह दहर [ तड़ाग ] के समान स्थल है । तड़ाग में जैसे कमल होता है, उसही प्रकार हृदयदहर में नीचे की ओर मुखबाला [ अधोमुख ] कमल के आकार का स्थान है उस के भीतर कमलस्थानापन्न अन्तःकरणचतुष्पथ है । उस में संयम करने से मन जीता जाता है और ज्ञान प्रकाश होता है ॥

अर्थात् उस हृदयदेश में जितना अवकाश है, वह सब अनर्थामी परमेश्वर हो से भर रहा है, इसी लिये उस स्थान का कि जो कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उद्धर के ऊरर है, ब्रह्मपुर नाम परमेश्वर का नगर कहते हैं । उस के बीच में जो गर्ता है, उस में कमल के आकार का धेशम अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उस के बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एक रस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है । दूसरा उस के मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं ॥

संयम, इन्द्रियोंकी दिव्यशक्तियोंमें ॥

[ ७ ] ततः प्रातिभ श्रावणेदनादर्शस्वादवाच्चा जायन्ते ॥

यो० पा० ३८० ३४

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि कण्ठेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, ध्वनेन्द्रिय, नेत्र, रसना, इत्यादि इन्द्रियों की दिव्यशक्तियों में संयम करने से प्रातिभ ( बुद्धिवर्द्धक ), दिव्यश्रवण, दिव्यस्पर्श, दिव्यदृष्टि, दिव्य रसज्ञान, दिव्यगन्धज्ञान, उत्पन्न होता है ॥

अर्थात् इन्द्रियगणक्षप देवों के स्वरूप का भिन्न २ यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है । यथा—आकाश के परमाणुओं से अवलेन्द्रिय, वायु के परमाणुओं से स्पर्शेन्द्रिय, ( मूर्च्छ ) के परमाणुओं से नेत्र, जल के परमाणुओं से रसना, पृथिवी के परमाणुओं से धारेन्द्रिय, ईश्वर ने रखे हैं । उन का यथावस्थितन सूक्ष्म, अपरोक्ष ज्ञान ( घोष )ः होना है परन्तु बहुत अधिक दूर देश से कि जहाँ पर इन्द्रियों की पहुँच नहीं, शब्द सुनलेता पदार्थों को स्पर्श कर लेना, देख लेना, स्वाद जान लेना, गन्धज्ञान कर लेना, सर्वथा मिथ्या है । अवण, वर्णन तथा गन्धज्ञान उतनी दूरी से कि जहाँ तक इन्द्रियों की शक्ति की पहुँच है योगी अयोगी, साधारण विशेष सब जीवों को होता है, परन्तु इस प्रकार का ज्ञान अधिकतर दूरी से नहीं होता । यदि सम्भव हो तो योगी की त्वचा तथा रसना को भी अपने २ विषयों का ज्ञान होना चाहिये सो होता नहीं । इस लिये हजार पाँच सौ कोश के पदार्थों के देख लेने, दुन लेने, आदि की कथा, जो मिथ्याअन्थों में पाई जाती है, उन पर विश्वास न लाना चाहिये ॥

### धन्जय में संयम

ओं—राये नु यं जग्नतूरोदसा मे राये देवी धिषणा  
धाति देवम् । अध वायुं नियुतः सश्चत स्वा उत  
रवेत बसुधिति निरेके ॥ यजु० अ० २७ म० २४

अर्थ [ हे ] ‘हे [ मनुष्यः ] मनुष्यो ! [ हमे ] ये [ रोदसी ] [ धावा पृथिव्या ] आकाश भूमि [ राये ] धन के अर्थ [ यं ] जिस को [ जग्नतुः ] उत्पन्न करें [ देवी ] उत्तम गुणवाली [ धिषणा ] दुद्धि के समान वर्तमान स्त्री [ यं ]

जिस [ देवं ] उत्तम पति को [ राये ] चल के [ तु ]  
 शीघ्र [ धार्ति ] धारण करती है [ अव ] इस के लिये अन-  
 न्तर [ निरेके ] निश्चयक स्थान में [ स्वः ] अपने सन्वन्धी  
 [ नियुतः ] निश्चय कर के मिलाने वा पृथक् करने वाले जल  
 [ इतेतम् ] ब्रह्म [ उत्त ] और वसुधिर्दि [ पृथिव्यादि वस्तुओं  
 के धारण के हृषि [ वायु ] वायु को [ सञ्चयत ] प्राप्त होते हैं  
 [ तं ] इस को यूर्य ] तुम लोग [ विजानात् ] विनेय करके  
 वानों आयोद् इस में संबंध करके योगसिद्धि को प्राप्त करो-

[ भावार्थ ] है मनुष्यो ! आप लोग यह आदि शुर्यो  
 से युक्त, सब के धारण करने वाले वायु को दान के धन और  
 बुद्धि को बड़ाओ। जो एकान्त में स्थित हो के इस प्राप्ति के  
 द्वारा अपने स्वरूप और परमात्मा को जानना चाहो तो इन  
 दोनों आत्माओं [ आर्थात् ] जीवात्मा और [ परमात्मा ] का  
 साक्षात्कार होतो है ॥

## मूल्रात्मा से संयम

ओ—आपोह चद्रवृहर्णीविश्वमायन गर्भ द्वानां जनय-  
 न्तीरग्निम् । वतो द्वानां समवर्ततामुरेकः कर्त्तमै  
 देवाय हविषा विवेम ॥ यजु० अ० च७ मं० २४

( अर्थ ) ( वृहर्णीः ) महत् परिमाण वाली ( जनयन्त्रीः )  
 पृथिव्यादि को प्रकट करने हारी ( वृ ) जित ( विश्वम् )  
 सब में प्रवेश किये हुये ( गर्भम् ) सब के मूल प्रधान को  
 ( द्वानाः ) धारण करती हुई ( आपः ) व्यापक जलों की  
 मूहममात्रा ( व्यापिकास्तन्नात्राः ) [ आर्थ ] प्राप्त हैं

[ वतः ] इस से [ अग्निम् ] वृत्तादि त्वय अग्नि को  
 [ द्वेद्वानाम् ] उत्तम पृथिव्यादि पदार्थों का सन्वन्धी [ एकः ]

एक = असहाय [ असुः ] प्राण समवर्चत [ सम - अवर्चत ]  
सम्यक्—प्रवृत्त करें

[ तस्मै ] उस [ ह ] ही [ कस्मै ] चुन के निमित्त  
[ देवाय ] उत्सम शुण युक ईश्वर के लिये [ वयं ] हम लोग  
[ हविर्या ] धारण करने से [ विदेष ] सेवा करने वाले  
हों ॥

[ भावार्थ ] हे मनुष्यो ! जो स्थूल पञ्चनत्व दीन पड़ते  
हैं, उन को सूक्ष्म प्रकृति के कार्य पञ्चतन्माधा नामक से  
उत्पन्न हुये जानो जिन के बीच जो एक सूक्ष्मात्मा वायु है, वह  
सब को धारण करता है। यह जानो। जो उस वायु के द्वारा  
योगाभ्यास से परमात्मा को जानना चाहो तो उस को  
साक्षात् जान सको ॥

## वासनायाम की व्याख्या

मोक्षहेतुक उपासनायोग के सिद्ध करने के लिये ध्यान-  
योगद्वारा समाधियोग [ नाम चित्त की एकाग्रता वा समा-  
धान वा चित्तवृत्तिनिरोध ] सिद्ध करना होता है। उस  
समाधियोग के तीन मुख्य उपाय हैं—( १ ) वृत्तियाम,  
( २ ) प्राणायाम और ( ३ ) वासनायाम वृत्तियाम के सिद्ध  
होने पर प्राणायाम सिद्ध होता है, तथा प्राणायाम के सिद्ध  
हो जाने से वासनायाम भी सिद्ध किया जा सकता है। इन  
में से आदि के दो यामों का वर्णन पूर्वे हो चुका है। आगे  
वासनायाम की व्याख्या की जाती है ॥

दुष्ट वासनाओंका जो निरोध नाम रोकना, सो वासनायाम  
कहाता है ॥

वासना, कामना, राग, इच्छा और संकल्प, ये सब यहाँ  
पर्यायवाचो गढ़ हैं। अर्थात् साँसारिक सुरभोग की इच्छा

से सुन्न की भाषित्रियों के संचय करने के अर्थ जो नृपणा होती है । वही वासना कहती है । ऐद यह है कि वासना की उत्पत्ति तो जीवन्मा की निजशक्ति से होती है, परन्तु संकल्प की उत्पत्ति मन से होती है अर्थात् जीवन्मा की निज कामना, इच्छा वा प्रेरणा वासना है आर मन की प्रेरणा संकल्प है ॥

अर्थात् वासनारूप जीव का आध्यन्तर प्रयत्न जीव की निज शक्तिद्वारा जब उत्पन्न होता है, तब मन द्वारा संकल्प उत्पन्न होता है । अनेक वासना संकल्प का नृदृष्ट पूर्व रूप है, जिस ( वासना ) का प्रथम परिणाम संकल्प, दूसरा परिणाम शब्द, तीसरा परिणाम कर्म और चीया वा अन्तिम परिणाम सुन्न दुःखरूप कर्म फल भोग होता अनेक सुन्न दुःख, सर्व नरक जन्म मरण, इन सब फल भागी तथा संकल्पादिकर्मपर्यन्त चेष्टाओं का जननी ( मूलकारण ) वासना हो अगले प्रमाण से भी स्वप्ननया सिद्ध है । क्यों कि कहा है कि—

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा चदनि,  
यद्वाचा चदति तत्कर्मणा करोति,  
यत्कर्मणा करोति तदभिज्ञप्यन्ते ॥

जीव और प्रश्नति के संयोग से वासना उत्पन्न होती है और उपयुक्त प्रमाण से मनुष्य ( जीव ) निज दिव्य और गृह शक्तिद्वारा जिस विषय की वासनारूप में इच्छा करता है, उस ही को मन [ मन शक्ति ] द्वारा ध्यान करता है और उस ही को चार्षा से शब्द रूप में कहता है । तत्पर्यात् कर्म कर के उस को फल सुन्न वा दुःख का भागी होता है अर्थात् चार्षी वा शब्द द्वारा प्रकट करने से पूर्व मानसी व्यापार नाम

आभ्यन्तर चेष्टा ( प्रयत्न ) ही रहती है । अर्थात् किये हुये कर्म के फल के समान अधिक पाप पुण्य का भागी यद्यपि नहीं होता, तथा पि मानसिक सुख दुःख भोगना ही पड़ता है । इस लिये शब्द ( वाणी ) का संयम करना भी आवश्यक है । इस ही अभिशाय से आगे चालना के तथा शब्द ( वाणी ) के संयम का विधान किया जाता है ॥

अब स्वामी द्यानन्द सरस्वती प्रणीत वेदांगप्रकाश प्रथम भाग अर्थात् वर्णोच्चारण शिक्षा के अनुसार शब्द की उत्पत्ति, स्वरूप, फल और लक्षण कहते हैं ।

## शब्द की उत्पत्ति ।

आकाशवायु प्रभवः शरीरात्,

समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः ।

स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो,

वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ॥ १ ॥

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युद्धक्ते विवक्षया ।

यनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतश् ॥

मारुतस्तूरसि चरन्मन्दं जनयति स्वरम् ॥ २ ॥

( अर्थ ) आकाश और वायु के संयोग से उन्पन्न होने वाला नाभि के नीचे से ऊपर को उठता हुआ जो सुखको प्राप्त होता है उसको नाद कहते हैं । वह करण आदि स्थानों में विभाग को प्राप्त हुआ वर्णभाव को प्राप्त होता है, उसको शब्द कहते हैं ॥ १ ॥

जीवात्मा बुद्धि से अर्थों को संगति करके कहने की इच्छा से मन का युक्त करता, विद्युत्कृप मन जठराग्नि को ताङ्गता, वह वायु को प्रेरणा करता और वायु उरःस्थल से विचरता हुआ मन्द स्वर को उत्पन्न करता है ॥ २ ॥

## शब्द का स्वरूप और फल ।

तमन्नर ब्रह्म परं पवित्रं शुद्धाशयं सस्यगुशन्ति विप्राः ।

स श्रेयसा चाभ्युदयैन चैव सम्यक्प्रयुक्तः पुष्पं युनक्ति ॥ १ ॥

( अर्थ ) ( विप्राः तम् ) विद्वान् लोग उस आकाश वायु प्रतिपादित ( अक्षरम् शुद्धाशयम् ) नाश्वरहित विद्या सुशिक्षा सहित बुद्धि में स्थित ( परं पवित्रं ब्रह्म ) अत्युत्तम शुद्ध शब्द ब्रह्माणि की ( सम्यक् उशन्ति ) अच्छेप प्रकार प्राप्ति की कामना करते हैं और ( स पदं सम्यक्प्रयुक्तः ) वह ही अच्छेप प्रकार प्रयोग किया हुआ शब्द ( अभ्युदयैन च ) शरीर, आत्मा, मन और ( च ) स्वसम्बन्धियों के लिये इस संतार के सब छुप तथा ( श्रेयसा च ) विद्यादि शुभ शुण्ठों के योग ( च ) और मुक्तिसुख से ( पुष्पं युनक्ति ) मनुष्य को युक्त कर देता है । इस लिये इस वर्णोच्चारण की श्रेष्ठ शिक्षा से शब्द के विश्लेषन में सब लोग प्रयत्न करें ।

## शब्द का लक्षण ।

ओत्रोपलविद्युद्दिनिर्गाहः प्रयोगेणाभिज्ञसित आ-  
काशदेशः शब्दः ॥ महाभाष्य अ०१ पा०१ सू०२ आ०२

( अर्थ ) जिसका कान इन्द्रिय से ज्ञान, बुद्धि से निरन्तर अवलोकन और उच्चारण से प्रकाश होता है, तथा जिसके निवास का स्थान आकाश है, वह शब्द कहाता है ।

## शुद्धब्रह्म का साहात्म्य ।

आर्ये प्रणव ( आदेश् ) शुद्धब्रह्म का मातृत्व भग्नि करते हैं । पृथोक्त दायन से जात होता है कि अच्छे प्रकार प्रयुक्त किये शुद्ध का फल मुक्ति है, इयोऽन्ति ध्यान चतुष्प्रथम द्वारा गृह्ण से लेकर पृथिवी और दर्शनेश्वर परमेत राजानांशार भास विद्यान प्राप्ति होता है । अतएव द्वोऽन्तम् भवामन्त्र ( भट्टाचार्य ) के जब को ( जो कि ईश्वर द्वा चित नाम है ) भद्रिना ( साहात्म्य ) तो शादशनीय ही जानो । इस तो कारण से भवत्तु जनों को अत्यन्त उचित है कि ध्यानयोग में जब प्रगृह्ण दो तथा ओं शुद्ध द्वा अच्छे प्रकार उपारण दर्श और उसके द्वार्थ को खमरों ।

धारणा तथा संयम करने के लिये शरीरान्तर्गत अनेक देशों का वर्णन प्रधन हो नुका है, उनमें ने जिस्त किसी पक देश में ध्यान उद्धारा कर " आदेश् " द्वा भावसिक जप द्विया जाता है, वहाँ मन तथा सब इन्द्रियोंका संयोग होने के कारण मन तो " शीढ़ा " महामन्त्र द्वा भावसिक ( उपांश ) जाप नाम उपारण उत्तरना है, कान ( ध्वन्यनिधि यी द्विव्य अन्तर्गत शक्ति ) लक्षता है और त्रुटि द्वारा ओं गम्भ के शर्थ, ईश्वर का अहण ( चिन्तन ) आदि तत्र निया उक्त महानाप्ययोंक प्रभाणालुजार होती है ।

इन तत्र शमाणों से स्पष्टतया सिद्ध है कि इच्छा अर्थात् धारना ही शुद्ध का भूल कारण है ।

जीवात्मा के सूचम शरीर का लक्षण मुक्ति के साधन विषय में वर्तित हो नुका है, उस शरीर में जब जीवात्मा वासना को ध्यानयोग से ध्येय करके निघारण करता है, तब वासनाके स्वरूप का दान होता है । इस प्रकार संयम करने रूप अभ्यास

को वासनायाम कहते हैं। जिससे अन्य सब वासनाओं का सम्यक् निरोध करने के उपरान्त औं महामन्त्र के उच्चारण की इच्छा या वासना करके मानसी व्यापार में जब ध्यानयोग द्वारा जो कोई औंकाररूपी शब्द ब्रह्म को ध्येय करता है, वही समाधिस्थ वृद्धि से उसही परब्रह्म को प्राप्त होता है, जिस का कि परमोत्कृष्ट नाम “ औंशू ” है। सारांश यह है कि समूणे वेदों का साररूप तत्त्व जो औंपदरूप शब्द ब्रह्म है वह परमात्मा के जानने और मुक्ति का साधन है।

## वासनायाम की विधि ।

जीव की निःशक्तिमें धनञ्जय अथवा सूक्ष्मात्मा प्राणद्वारा वासनायाम किया जाता है, तब सब वासना निवृत्त हो जाती हैं और जीव को अपने स्वरूप का भी ज्ञान होता है। यही वासनायाम की विधि है। सब प्राणों से अत्यन्त सूक्ष्म धनञ्जय प्राण हैं और उससे भी अतीव सूक्ष्म सूक्ष्मात्मा है। अतः वासनायाम का अनुष्ठान महा कठिन है कि जिसका समझना समझना भी वाणी से दुस्तर है। अतएव इस अभ्यास का करने वाला योगी ही समझ सकता है।

## सर्वस्थूत शब्दज्ञान ।

जिन प्राणों में वासनायाम का संयम किया जाता है, उन ही पचनों में संयम करने से शब्द का भी यथावत् ज्ञान होता है, तथा पूर्वोक्त वर्णोच्चारण शिक्षानुकूल, वेदांग प्रकाशोक्त श्रद्धारों के उच्चारण के भिन्नरूप स्थानों को अच्छे प्रकार समझ कर पक्क अन्नर के भिन्नरूप स्थान में उसर प्रयत्न पूर्वक पृथक् संयम करने से शब्द ब्रह्म का जब यथावस्थित पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, तब योगी—पशु पक्षियों की समस्त

चारिंयों को भी समझ सकता है, तथा सामवेदा दिगान और हृस्थ, दीर्घ, प्लुत, उदात् अनुदात्, स्वरित् आदि भेदसे वर्णों का स्पष्ट यथावत् उच्चारण वही मनुष्य कर सकता है जिस ने उक्त प्रफार शब्द बछा का संयम किया हो। और जिस ने अंगुष्ठ के मूल की नाड़ी की गति को ध्येय कर के उस में संयम किया हो, वही हृस्थ, दीर्घ, प्लुत, स्वरों का यथावत् उच्चारण करना जान सकता है, वर्णोंकि उन स्वरों के काल का नियम यह कहा गया है कि जितने समय में अंगुष्ठ मूलस्थ नाड़ी की गति एक बार होती है न उतने समयमें हस्त, उस से दूने समय में दीर्घ, और उसके तिरुने काल में प्लुत का उच्चारण करना चाहिये। नाड़ी की इस गति का निश्चित योग्य फरनेके लिये उस नाड़ी में संयम करना चाहिये। इस संयम के लिये दिना वर्णों के उच्चारण का संयम तथा नाड़ीकी गति का भी जान यथावत् नहीं होता वर्णोंकि धाल, युवा, वृद्ध, रोगी, हुर्वल और यलवान्, स्त्री पुरुषोंकी नाड़ी की गति एकसी नहीं होती इस ही कारण योगी वैद्य जिस ने इस नाड़ी में संयम किया हो, वही रोग का निदान यथावत् कर सकेगा, अन्य साधारण वैद्य रोगों की ठीकर परीक्षा कर्वापि नहीं कर सकते ॥

जिस जिस वर्ण के विद्यार्थियों के लिये जैसा विधान वर्णों-उच्चारण शिक्षा में किया है, उस को ठीकर जान कर शब्दाक्षरों का प्रयोग व्याँकों का त्वयों करना उचित है ॥

प्राचीन समयके विद्यार्थियों को आरम्भ में इस ही प्रफार शिक्षा दी जाती थी, वडे होने पर योगाभ्यास की रीति से उन स्थानों में संयम कराने से पूर्ण ज्ञान हो जाता था। अर्थात् वर्णोंउच्चारण शिक्षा से ही योग की शिक्षा का भी ओरमें होता था। अब भी वैसा ही जब होगा, तब ही कल्याण का भी उत्तम होगा ।

परम कर्मों का जघतक क्षय नहीं होता, तघतक जीव मुक्त नहीं होता। और अधर्म सुक्त (अवैदिक काम्य वा पाप) कर्मों का क्षय तब हो होता है, जब कि दुष्ट वासनाओं का सम्यक् निरोध हो जाता है। इस में वेदान्त का प्रमाण भी है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्लिघ्नते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्वृष्टे पराऽवरे ॥

मु० २ ख० २ म० ८ ( स० प्र० पृ० २४६ लम० ६

**अर्थात्**—जब इस जीवके हृदयकी अविद्यारूपी ग्रांठ कद्द जाती है, तब सब संशय छिन्न होते और दुष्टकर्म क्षय को प्राप्त होते हैं। तभी उस परमात्मा से जो कि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है, उस में निवास करता है। अर्थात् तभी जीव मुक्त हो कर परमेश्वर के आधार में मुक्ति के आनन्द को भोगता है।

धनञ्जय तथा सूत्रात्मा नामक वायुओं ( प्राणों ) में संयम करने का वेदोक्त प्रमाण संयम विषय में पहिले कह चुके हैं ॥

## मोक्ष वा मुक्ति ।

इस “ध्यान योग प्रकाश” नामक ग्रन्थ के अनुसार योग-भ्यासरूपी परमात्मा की उपासना करने का मुख्य प्रयोजन मोक्ष की प्राप्ति है वह ( मोक्ष ) जीव को तब प्राप्त होता है। कि जब उसकी अविद्या सर्वथा नष्ट हो जाती है। जैसा कि यजुर्वेद के अध्याय ४० में ईश्वर ने उपदेश किया है। यथा—

## विद्या और अविद्या के उपयोग से मोक्ष प्राप्ति ।

ओं—विद्याऽचाविद्याच्च यस्तद्वेदोभयःसह । अवि-

धया मृत्युं तीर्त्वा विव्याऽप्तमश्नुते । ३० अ०४ मं १४

( अर्थ )—( यः ) जो (विद्वान्) विद्वान् [ विद्याम् ] विद्या [ च ] और उस के सम्बन्धी साधन उप साधनों तथा

( अविद्याम् ) अविद्या [ च ] और उस के उपयोगी साधन समूह को—और

[ तत् ] इन [ उपयम् ] दोनों के ध्यानमय भर्त और स्वरूप को [ सद ] साथ ही साथ [ वेद-सः ] जानता है वह

[ अविद्यया ] शरीरादि जड़ पदार्थ समूह से किये पुनर्पार्थ [ कर्मकारडाक कर्मयोग वा कर्मोपासना ] से [ नृत्यम् ] भरण दुःख के भय को [ तीर्त्वा उल्लंघन कर के वा तरक्के

[ विद्यया ] आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के संयोग में जो धर्म उस से उत्पन्न हुवे पदार्थ द्रष्टन रूप दिद्या से [ अर्थात् यथार्थ क्षान वा क्षानिकारड के परिणामलप विद्वान् से ] [ असृनम् ] नाशरहित अपने स्वरूप वा परमात्मा को अथाद् भोक्ता को [ अश्नुते ] प्राप्त होता है ॥

[ भावार्थ ] जो मनुष्य विद्या और अविद्या को उनके स्वरूप से जान के, “इन के जड़ चेतन साधक ह” ऐसा निश्चय कर सब शरीरादि जड़ पदार्थ और चेतन आत्मा को धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धिके लिये साथ हीं साथ प्रयोग करते हैं, वे लौकिक दुःख छोड़ परमार्थ के सुख को प्राप्त होते हैं । जो जड़ प्रचुरति आदि कारण वा शरीरादि कार्य न हो तो परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति और जीव कर्म उपासना और क्षान के करने को फैसे समर्थ हों इस से न केवल जड़ न केवल चेतन से अथवा न केवल कर्म से तथा न केवल क्षान से कोई धर्मादि पदार्थों की सिद्धी करने को समर्थ होता है ॥

अर्थात् अनादि गुण युक्त चेतन से जो उपभोग होने योग्य हैं अपान युक्त जड़ से कंदापि नहीं सिद्ध होता और जो जड़ से प्रयोजन सिद्ध होता है, वह चेतनसे नहीं होता। अत पव सब मनुष्यों को विद्वानोंके संग, योग विज्ञान और धर्मचरण से हन दोनों का विवेक कर के दोनों से उपयोग लेना चाहिये।

## ( क ) विद्या और अविद्या चार२ प्रकार की ।

विद्या और अविद्या दोनों चार२ प्रकार की हैं। प्रथम अविद्या का वर्णन कर के पश्चात् विद्या के स्वरूप को कहेंगे।

उपरोक्त मन्त्र में किये उपदेश से विद्या और अविद्या के स्वरूप जानने की आवश्यकता पाई जाती है, अतएव प्रथम अविद्या का वर्णन करते हैं ॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसुनित्यशुचिसुखात्म ख्यातिरविद्या । यो० पा० २ सू० ५

( १ ) अविद्या का प्रथम भाग = ( अनित्य ) जो अनित्य संसार और देहादि में नित्यपने की भावना करना अर्थात् जो कार्य जगत् देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है और योगचल से यही देवों का शरीर सदा रहता है, वैसी विपरीत बुद्धि होना, अविद्या काप्रथम भाग है। अर्थात् शरीर तथा लोक लोकांतरादि पदार्थों का समुदाय जो कार्यरूप जगत् अनित्य है, उसको नित्य मानना, तथा जीव, हृश्वर जगत् का कारण, किया कियावान् । गुण, गुणी और धर्म, धर्मी, हन नित्य पदार्थों को तथा उनके सम्बन्ध को अनित्य ( नाशवान् ) मानना अविद्या का प्रथम भाग हैं।

( २ ) अविद्या का दूसरा भाग = ( अशुद्धि ) मल मूत्र आदि के समुदाय, दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण, स्त्री आदि के शरीरों में पवित्र वुद्धि का करना तथा तलाव, चावड़ी कुराड, कुआ और नदी, मूर्त्ति आदि में तीर्थ और पार्प लुड़ाने की शुद्धि करना और उनका चरणामृत पीना एकादशी आदि मिथ्या व्रतों के भोग में अत्यन्त प्रीति करना, इत्यादि अशुद्ध ( अपवित्र ) पदार्थों को शुद्ध मानना और सत्यविद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्संग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सब से प्रेमभाव से धर्त्तना आदि शुद्ध व्यवहार और पदार्थों में अपवित्र वुद्धि करना वह अविद्या का दूसरा भाग है ॥

( ३ ) अविद्या का तीसरा भाग = दुःख में सुखवुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, भोग, ईर्ष्या, छ्रेप आदि दुःख रूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना, जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, सन्तोष, विवेक प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुख रूप व्यवहारों में दुःख वुद्धि का करना, यह अविद्या का तीसरा भाग है ॥

( ४ ) अविद्या का चौथा भाग = अनात्मा में आत्मवुद्धि का होना, अर्थात् जड़ में चेतन का भाव वा चेतन में जड़ का भाव करना, अविद्या का चतुर्थ भाग है ॥

विद्या का लक्षण = उक्त अविद्या से विपरीत अर्थात् ( १ ) अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, ( २ ) अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, ( ३ ) दुःख में दुःख और सुख में सुख, ( ४ ) अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या है । इस प्रकार विद्या के भी चार भाग हुए ॥

अर्थात् यथार्थशान को विद्या और मिथ्याशान को अविद्या कहते हैं ॥ स० प्र० पृ० २३२ ( भू० पृ० १८२-१८३ )

( स ) सम्भूति और असम्भूति की उपासना का निषेध

उक्त चार प्रकार की अविद्या अक्षणी जीवों को बन्धन का हेतु होकर उनको संसार में सदा नचाती रहती है । जैसा कि वेद में कहा है । सो आगे ३ मन्त्रों में कहते हैं—

ओऽम्—अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिष्ठृपासते ।

इतो भूय इव ते नमो य उ सम्भूत्याश्रंताः ॥

य० अ० ४० म० ६

( ये ) जो लोग परमेश्वर को छोड़ के ( असम्भूतिम् ) अनादि अनुत्पन्न सत्त्व रज और तमोगुणमय प्रकृतिरूप जड़ वस्तु को ( उपासते ) उपास्यभाव से जानते था मानते हैं, वे सब लोग ( अन्धन्तमः ) आवरण करने वाले अन्धकार को ( प्रवशन्ति ) अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं और ( ये ) जो ( सम्भूत्याम् ) महत्त्व आदि स्वरूप से परिणाम को प्राप्त हुई सृष्टि में ( रत्नाः ) रमण करते हैं ( ते ) वे ( उ ) वितर्क के साथ ( ततः ) उस से भी ( भूयइव ) अधिक ( तमः ) अविद्यारूप अन्धकार को प्राप्त होते हैं ।

( भावार्थ ) जो मनुष्य समन्वय जड़जगत् के अनादि नित्य फारण को उपास्यभाव से स्वीकार करते हैं और जो उस कारण से उत्पन्न स्थूल सूक्ष्म कार्यकारण रूप अनित्य संयोगजन्व कार्य जगत् को इष्ट उपास्य मानते हैं, वे गाढ़ अविद्या को पा के अधिकतर फलेशों को प्राप्त होते हैं ।

परन्तु इस कार्यकारणरूप सृष्टि से क्या र सिद्ध करना चाहिये अर्थात् उस का किस प्रकार उपयोग करना उचित है सो आगे कहते हैं ।

## सम्भूति और असम्भूति के उपयोग से मोक्षप्राप्ति की विधि ॥

ओं—सम्भूतिच्च विनाशच्च यस्तद्वेदोभ्युशंसह ।  
विनाशेन मृत्युं तीत्वा सम्भूत्याऽमृतमशनुते ॥  
यजु० अ० ४० मन्त्र ११

(अर्थ) हे मनुष्यो ! (यः) जो विद्वान् (सम्भूतिम्) जिस में सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उस कार्यरूप सृष्टि [च] और उस के गुण कर्म स्वभावों को तथा [विनाशम्] जिस में पदार्थ नष्ट होते हैं उस कारणरूप जगत् [च] और उस के गुण कर्म स्वभावों को [सह] एक साथ [उभयम्] दोनों [तत्] उन कार्य और कारण स्वरूपों को [वेद] जानता है व विद्वान् [विनाशेन] नित्यस्वरूप जाने हुए कारण के साथ [मृत्युम्] शरीर छूटने के दुःख को [तीत्वा] उल्लङ्घन करके [सम्भूत्या] शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप उत्पन्न हुई कार्यरूप, धर्म में प्रवृत्त कराने वाली सृष्टि के साथ [अमृतम्] मोक्ष सुख को [अशनुते] प्राप्त होता है ॥

[भावार्थ] हे मनुष्यो ! कार्यकारणरूप वस्तु निरर्थक नहीं हैं, किन्तु कार्यकारण का गुण कर्म स्वभावों को जानके धर्म आदि मोक्ष के साधनों में संयुक्त करके, अपने शरीरादि के कार्य कारणोंको नित्यत्व से जानके, मरण का भय छोड़ के मोक्ष की सिद्धि करो । इस प्रकार कार्यकारण से अन्य ही फल सिद्ध करना चाहिये । इन कार्य करण का निषेध उस प्रकरण में करना चाहिये कि जिस में इन की उपासना अज्ञानी लोग ईश्वर के स्थान में करते हैं ॥

इस मन्त्र से “ब्रह्म संत्यं जगन्मिथ्या” वादी वेदान्तियों तथा भूर्ति आदि जड़पदार्थों के पूजकों के मतों का खण्डन भी होता है ॥

आगे विद्या और अविद्या की उपासना का फल लिखते हैं-

( ग ) विद्या और अविद्याके विपरीत उपचोगमें हानि ओम् अन्धन्तमः भविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो यड्ड विद्यायाञ्चरताः य० अ० ४० म० १२

( अर्थ ) ( ये ) जो मनुष्य ( अविद्याम् , अनित्य, अशुद्ध में शुद्ध, दुःख में सुखऔर अनात्मा शरीरादि में आत्मशुद्धिरूप अविद्या की अर्थात् ज्ञानादिरहित कार्यकारणरूप परमेश्वर से भिन्न जड़ वस्तु की ; उपासते उपासना करते हैं वे अन्धन्तमः ) दृष्टि के रोकने वाले अन्धकार और अत्यन्त अज्ञान को , प्रविशन्ति ) प्राप्त होते हैं और ( ये ) जो अपने आत्मा को पंडित मानने वाले ( विद्या याम् ) शब्द, अर्थ और इन के सम्बन्ध के जानने मात्र अवैदिक आचरण में ( रताः ) रमण करते हैं ( ते ) वे ( उ ) भी ( ततः ) उस से ( भूय इव ) अधिकतर ( तमः ) अज्ञानरूपी अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥

**भावार्थः—**—जो र वेतन ज्ञानादिगुणयक धस्तु हैं, वह जान ने वाला है और जो अविद्यारूप है, वह जानने योग्य है । जो वेतन ब्रह्म तथा विद्यान् का आत्मा है, वह उपासना के योग्य है । जो इस से भिन्न है वह उपास्य नहीं है, किन्तु उपकार लेने योग्य है । जो मनुष्य-अविज्ञा, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशनामक् क्लेशों से युक्त हैं, वे परमेश्वर को इस से भिन्न जड़ वस्तुकी उपासना करके महान् दुःखसागर में छूटते हैं और जो शब्द अर्थ का अन्धयमात्र संस्कृत पढ़के सत्यमा-परण पक्षपातरहित न्याय का आचरणरूप धर्म का आचरण

नहीं करते अभिमान में आळड़ हुवे विद्या का तिरस्कार कर,  
अविद्या हो को मानते हैं, वे अत्यन्त तमोगुणरूप दुःखसागर  
में निरन्तर पीड़ित होते हैं ॥

अर्थात् इस्त्र मन्त्र में कहे अविद्यादि कलेशों तथा अधर्माच-  
रण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके शुद्ध विज्ञान और  
धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति कर के  
जीव मुक्तिको पाता है ।

[ घ ] अविद्याजन्म पाँच कलेश

अतएव अविद्यादि कलेशों की व्याख्या आगे कहते हैं ।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चकलेशाः ॥

यो० पा० २ सू० ३

( अर्थ ) ( १ ) अविद्या, ( २ ) अस्मिता, ( ३ ) राग, ( ४ )  
द्वेष और ( ५ ) अभिनिवेश. ये पाँच प्रकार के कलेश हैं । इनमें  
से अविद्या का स्वरूप और लक्षण प्रथम कह चुके हैं ॥

( अस्मिता ) दृग्दर्शनशक्त्योरंकात्मतेवास्मिता

यो० पा० २ सू० ६

दृष्टि और दर्शनशक्ति को एक ही जानना अस्मिता कहाता  
है अर्थात् जीव और बुद्धि को मिले के समान देखना, अभि-  
मान और अहंकार से अपने को चढ़ा समझना इत्यादि व्यव-  
हार को अस्मिता जानो । जब सम्प्रकृ विज्ञान ले अभिमान  
आदि के नाश होने से इस को निवृत्ति हो जाती है, तब गुणों  
के अहण में रुचि होती है ।

( राग ) सुखानुशयी रागः । यो० पा० २ सू० ८

जो २ सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते हैं, उनके  
संस्कार की स्मृति से जो वृप्ता के लोभसागरमें बहना है इस

का नाम राग है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि “संयोगविद्योग” “संयोग विद्योगात्मा” हैं अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है, तब राग की निवृत्ति हो जाती है। अतएव सुखसोग की वासना, इच्छा वा तृष्णा का नाम राग है।

( द्वेष ) दुःखानुशयी द्वेषः । यो० पा० २ स० ८

जिसे अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो, उसपर और उसके साधनों पर सदा क्रोधवृद्धि होना, अर्थात् पूर्व भोगे हुवे दुःख का जिसको ज्ञान है, उसका स्मरण संस्कारस्मृति वृत्ति द्वारा रहता है, उन दुःख के साधनों को इकट्ठा करने की इच्छा न करना, प्रत्युत उनकी निन्दा करना वा उनपर क्रोध करना द्वेष कहाता है। इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से होती है।

( अधिनिवेश ) स्वरसवार्हाविद्योपि तथा खडोऽभिनिवेशः । यो० पा० २ स० ६

सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें अर्थात् कभी मरें नहीं। सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है। इससे पूर्व जन्म भी सिद्ध होता है, क्योंकि छोटे छोटे कुमि चीटी आदि जीवों को भी मरण का मरण बराबर रहता है। इसी से इस क्लेश को अधिनिवेश कहते हैं, जो कि विद्वान्, मूर्ख तथा छुद जन्मुओं में भी घरावर दीख पड़ता है। इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होती है कि जब मनुष्य जीव, परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जंगत् के कारण को नित्य और कार्बद्रव्य के संयोग वियोग को अनित्य जान लेता है।

## अविद्यादि कलेशोंके नाशसे मोक्षप्राप्ति

तदाभावात्संयोगभावो हानन्तदूदशोःकैवल्यम् ॥

यो० पा० २ सू० २५

जब अविद्यादि कलेश दूर होके विद्यादि शुभ शुण प्राप्त होते हैं तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से ह्रष्ट के मुक्तिको प्राप्त हो जाता है तथा—

## अविद्यारूप वीज के नाशसे मोक्षप्राप्ति

तद्वैराग्यादपि दोषवी जन्मये कैवल्यम् ॥

यो० पा० ३ सू० ४८

शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब कलेशों और दोषों का वीज जो अविद्या है, उसके नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करें, क्योंकि उसके नाश के बिना मोक्ष कभी नहीं हो सकती। अर्थात् सब दोषों का वीज जो अविद्या है, उसके बिनष्ट हो जाने से जब सिद्धियों से वैराग्य होता है, तब जीव को कंवल्य (मोक्ष) प्राप्त होता है।

## बुद्धि और जीव को शुद्धि से मोक्षप्राप्ति

सत्वपुरुषयोःशुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति

यो० पा० ३ सू० ५३

तथा सत्व जो बुद्धि और पुरुष जो जीव, इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं।

## विवेक नाम ज्ञान से मोक्षप्राप्ति ।

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राप्तारवित्तम् ।

यो० पा० ४ सू० ३६

तब जो योगी का चित्त पूर्व काल में विषयों के प्रकृष्ट भार से भरा था, सो अब उस योगी का चित्त विवेक से उत्पन्न हुये द्वान कर के भर जाता है, अर्थात् कैवल्य (मुक्ति) का भागी होता है।

सारांश यह है कि जब सब दोषों से अलग हो के ज्ञानकी ओर योगी का आत्मा मुक्ता है, तब कैवल्य (मोक्ष) धर्म के प्राप्त संहार से चित्त परिपूर्ण हो जाता है। तभी जीव को मोक्ष होता है, वर्तों कि जब तक बन्धन के कामों में जीव फँस जाता है, तब तक उस को मुक्ति पास होना असम्भव है।

### मोक्ष का लक्षण ।

आगे कैवल्य मोक्ष का लक्षण कहते हैं।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसरणःकैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिरीतिः ॥ यो० पा० ४ सू० ३३

कैवल्य मोक्ष का लक्षण यह है कि कारण के सत्त्व, रजस् और तमोगुण और उनके सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् होके स्वरूपप्रतिष्ठा जैसे जीवका तत्त्व है, वैसाही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होके शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञानप्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है उसी को कैवल्य मोक्ष कहते हैं।

अब मोक्ष विषयक वेदोक्त प्रमाण आगे लिखते हैं।

### मोक्ष विषयक वेदोक्त प्रमाण ।

ओ—ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य खर्ख्यममृत त्वमानश । तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभणीत मानवं सुमेधसः ऋू० ऋ० द अ० २ व० १ म० १

( अर्थ ) ज्ञानरूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग मोक्षसुख में प्रसन्न होते हैं । जो परमेश्वर की सख्य ( मित्रता ) से मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं, उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख नियत किये गये हैं । उनके जो ( अंगिरसः ) प्राण हैं वे उनकी दुः्ख को अत्यन्त यद्धाने वाले होते हैं और उस मोक्ष प्राप्त मनुष्य को पूर्वमुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं और किरण वे परम्पर अपने ज्ञानसे पक दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते और मिलते हैं ।

ओ—यदङ्ग दाशुपे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि । द्वेच्चत्स-  
त्यमङ्गिराः ॥ ऋ०श्र०१।श्र०१।व०१ म०१।श्र०स०८०६

( अर्थ ) हे अङ्गिराः = हे ब्रह्माएड के अङ्गों पृथ्वी आदि पदार्थों को प्राण रूप से तथा शरीर के अङ्गों को अन्तर्यामी रूपसे रसरूप होकर रक्षा करने वाले परमेश्वर । और ( अंग ) हे सब के मित्र । ( अग्ने ) परमेश्वर । ( यत् ) जिस हेतु से ( दाशुषु ) निर्लोभता से उत्तमर पदार्थों के दान करने वाले मनुष्य के लिये ( त्वं ) आप ( भद्रम् ) कल्याण जो कि शिष्ठ विद्वानों के योग्य है । उनको ( करिष्यसि ) करते हो ( त्वं + इत् = तत् = सत्यम् ) वह आप ही शील है ॥

( भावार्थ ) जो न्याय, दया, कल्याण और सब का मेत्र भाव करने वाला परमेश्वर है, उसही की उपासना करके जीव इस लोक के और मोक्ष के सुख को प्राप्त होता है क्योंकि इस प्रकार सुख देने का स्वभाव और सामर्थ्य केवल परमेश्वर का है, दूसरे का नहीं जैसे शरीर को धारण करता है, वैसे ही परमेश्वर सब संसार को धारण करता है और इसी से खंडार की यथावत् रक्षा और स्थिति होती है ॥

## सुक्त जीवोंको अणिमादि सिद्धि की प्राप्ति ।

ओं—स्वर्यन्तो नापेक्षन्तऽआद्याथ्रोहन्ति रोदसी यज्ञ  
ये विश्वतोधारथ्सविद्वाथ्सो वितेनिरे यो० अ० १७०१० हैद

अर्थ ( ये ) जो ( सुविद्वासः ) अच्छे परिणत योगीजन  
( यन्तः ) योगाभ्यास के पूर्ण नियम करते हुओं के ( न ) समान  
( स्वः ) अत्यन्त सुख की ( अपेक्षन्ते ) अपेक्षा करते हैं “वा,

( रोदसी द्यावाष्ट्रथिव्यौ ) आकाश और पृथिवी को चढ़  
जाते अर्थात् लोक लोकान्तरों में इच्छा पूर्वक ( अरोहन्ति )  
जले जाते—“व”

( द्यां ) प्रकाशमयी योग विद्या ( विश्वतोधारं ) सब ओर  
से सुशिक्षा युक्त वाणी है जिस में ( यज्ञम् ) उस प्राप्त करने  
योग्य यज्ञादि कर्म का ( वितेनिरे ) विस्तार करते हैं ( ते ) वे  
( अक्षयं ) अविनाशी ( सुखम् ) सुख को ( लभन्ते ) प्राप्त  
होते हैं“

[ भावार्थ ] जैसे सारथि घोड़ों को अच्छे प्रकार सिखा  
कर और अभीष्ट मार्ग में चला कर सुख से अभिष्ट स्थान को  
शीघ्र जाता है वैसे ही अच्छे विद्वान् योगीजन जितेन्द्रिय हो  
कर नियम से अपने इष्ट देव परमात्मा को पाकर आनन्द का  
विस्तार करते हैं ।

इस मन्त्र में कहीं आकाश मार्ग गमन आदि ( अणिमादि )  
सिद्धि शरीर छूटनेके उपरान्त मुक्त हुवे जीवोंको प्राप्त होती हैं

अर्थ—यज्ञेन यज्ञमजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्या  
सन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वं साध्याः संति  
देवाः ॥ यजुः० अ० ३१ मं० १४

( हे मनुष्याः ) हे मनुष्यो ! ( ये ) जो ( देवाः विद्वाँसः ) विद्वान् लोग ( यज्ञोन ) ज्ञान यज्ञ से ( यज्ञम् ज्ञानेन पूजनीयं सर्वरक्षकमग्निवत्तपनम् ) पूजनीय सर्व रक्षक अग्निवत् तेजस्वी ईश्वर की ( आयजन्त पूजयन्ति ] पूजा करते हैं (तानि) वे ईश्वरकी पूजादि ( धर्माणि ) धारणा रूप धर्म प्रथमानि पहले (आसन् तानिधारणात्मकानि) अनादि भूतानि मुख्यानि सन्ति ) अनादिरूप से मुख्य हैं ( ते ) वे विद्वान् ( महिमानःते महत्वयुक्ताः सन्तः ) महत्व से युक्त हुवे ( यत्र ) जिस मुख्यमें ( पूर्वे यस्मिन्सुखे इत पूर्व सम्भवः ) इस समय से पूर्व हुवे ।

( साध्याः ) साधनों को किये हुवे ( देवाः ) प्रकाशमानि विद्वान् ( सन्ति कृतसाधनाः देवीप्यमाना विद्वाँसः सन्ति ) हैं ( नाकं ) उस सर्व दुःख रहित मोक्ष सुख को ( ह ) हि (संचक्ष्मत तत् अविद्यमान दुःखं मुक्ति सुखम् एव समवयन्ति प्राप्नुवन्ति तद्यूयमप्यामुंत ) प्राप्त होते हैं “उस को तुम लोग भी प्राप्त होओ,

**भावार्थः**—मनुष्यों को चाहिये कि योगाभ्यास आदि से सदा ईश्वर की उपासना करें। इस अनादि काल से प्रवृत्त धर्म से मुक्ति सुखको पाके पहिले मुक्त हुवे विद्वानोंके समान आनन्द भोगें।

**ओँ—राथो बुधनः संगमनो वस्त्रना यज्ञस्य केतुर्घन्म्  
साधनो वेः । अमृतत्वं रक्षमाणास एनं देवा अग्निं धार-  
यन्द्रविणोदाम् ॥ अ०अ०१ । अ०७ । च०४ । म०१ ।  
अ० १५ । स० ६६ । मन्त्र ६ ।**

( हे मनुष्याः ) हे मनुष्यो ! ( यः ) जो ( परमेश्वरः ) परमेश्वर ( वेः=कमनीयस्य ) मनोहर और ( यज्ञस्य ) सङ्गमनोयस्य विद्यां वोधस्य) अच्छे प्रकार समझाने योग्य विद्या

बोध को तथा (दुधः) यो बोधयति सर्वान् पदार्थान्वेदद्वारा सः ) वेद विद्याद्वारा संमूर्ण पदार्थों का बोध कराने हारा ( केतुः=शापरु ) सब ध्यवहारों को अनेक प्रकारों से चिताने वाला ( मन्मसाधनः ) यो मन्मानि विचारयुक्तानि कार्याणि साधयनिसा ) विचार युक्त कामों को सिद्ध कराने वाला ( रायः विद्याचक्वत्तिराज्यधनस्य ) विद्या तथा चक्वत्तिराज्य धन का और ( वद्यनाम्=अग्निं पृथिव्याद्यष्टानां ज्यस्त्विशद्वै-वान्तर्यातानाम् ) तेंदीस देवताओं के अन्दर्गत अग्निं पृथिवी आदि आठ देवताओं दा ( संगमनः=यः सम्यग्मयति सः ) अच्छे प्रकार प्राप्त कराने वाला है ( या-दामृतत्वम्=प्राप्तमोक्ष णाम्भावम् ) अथवा मोह मार्ग दी ( रक्षमाणासः=ये रक्षन्ति ते ) रक्षा करने वाले ( देवाः=आमदिद्वज्जनाः 'यम्=आस विद्यान्दत्तत "जिस, द्विष्णौदाम द्रव्याणि धनादि पदार्थादीनि दद्वानि तप् ) धन आदि पदार्थों के देने वाले ( अग्निम् परमे-श्वरग् ) परमेश्वर को ( धारयन् धावयन्ति ) धारण करते व कराते हैं ( तमेव परमम् इष्टदेवं यूवं गन्यत्वम् ) उस ही परमेश्वर को तुम लोग इष्टदेव मानो ।

**संस्कृत-भावार्थः—जीवनयुक्तः विदेहमुक्ता वा वि-  
द्वासो यमाश्रित्यानन्दन्ति स एव सर्वैर्लपासनीयः ॥**

[ भावा—भावार्थ ] जीवनयुक्त अर्थात् देहाभिमान आदि को घोड़े हुए वा शरीर त्यागी युक्त विद्वान् जन जिस आश्रय करके आनन्द को प्राप्त होते हैं वही परमेश्वर सब के उपासना करने योग्य है ॥

**ओम्—येदेवा देवेऽवाधि देवत्वंमायन्ये ब्राह्मणाः पुर  
एतारी अस्य । येभ्यो न ज्ञाते पवते धाग किञ्चन न ते  
दिवो न पृथिव्या अधिस्तुपु । य०अ० १७० १४ ॥**

अर्थ—( ये ) जो !( देवाः ) पूर्ण विद्वान् ( देवेषु ) विद्वान्ते में ( अधि॑ ) सब से उत्तम कक्षा में विराजमान ( देवत्वम् आयत् ) अपने गुण कर्म स्वभाव को प्राप्त होते हैं ( ये ) जो ( अस्य ) इस ( ब्रह्मणः ) परमेश्वर को ( पुरः ) पहिले ( प्तनारः ) प्राप्त होने वाले हैं ॥

( येभ्यः ) जिन के ( ऋते ) चिना ( किङ्चन ) कोई भी ( धाम ) छुड़ का स्थान ( न ) नहीं ( पचते ) पवित्र होता ( ते ) वे विद्वान् लोग ( न , न ( दिवः ) सूर्यलोक के ( स्तुषु ) प्रदेशों में ( न ) और न ( पृथिव्याः ) पृथिवी के अधिस्तुप्यायम् ) किसी भाग में ( आधिवसन्तीति यावत् ) अधिक वसते हैं ॥

भावार्थ—जो इस जगत् में उत्तम विद्वान् योगाधिराज वथार्थता से परमेश्वर को जानते हैं, वे सम्पूर्ण प्राणियों को शुद्ध करते और जीवन्मुक्तदशा में परोपकार करते हुये विदेहमुक्ति अवस्था में न सूर्य लोक और न पृथिवी परनियम से वसते हैं, किन्तु ईश्वर में स्थिर होके अव्यद्यातगति से सर्वत्र विचरा करते हैं ।

ओऽपृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षद्विव मारुहम् ।

दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वज्योतिरगामहम् ॥

य० अ० १७ मं० ६७

अर्थ—( हे मनुष्याः ) हे मनुष्यो ! ( यथा ) जैसे ( उत्त-योगाँगाजुष्टान संयमसिद्धः ) किये हुवे योग के अंगों के अनुष्टान संयम सिद्ध अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि में परिपूर्ण ( अहम् ) मैं ( पृथिव्याः पृथिवी के बीच ( अन्तरिक्षम् ) आकाश को ( उत्त आ अरुहम् ) उठ जाऊँ “वा” ( अन्तरिक्षात् ) आकाश से ( दिवम् ) प्रकाशमान सूर्य लोक को ( आ अरुहम् ) चढ़

जाऊं “वा” ( नाकस्य ) सुख करने हारे ( द्विः ) प्रकाशमानं उस सूर्यलोक के ( पृष्ठात् ) समीप से ( स्वः ) अन्यन्त सुखं ( ज्योतिः ) और ज्ञान के प्रकाश को ( अहम् ) मैं ( अगाम् ) प्राप्त होऊं ।

( संरक्षतभावार्थः ) यदा मनुष्यः स्वात्मना सह परमात्मानं युद्धके तदाऽधिमादयः सिद्धयः प्रादुर्भवन्ति ततोऽच्या तगत्याभीष्टानि स्थानानि गन्तुं शक्नोति नान्यथा

( भाषा भावार्थः ) जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है, अणिमादि सिद्धिउत्पन्न होती हैं । उस के पीछे कहाँ से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थनों को पासकरता है, अन्यथा नहीं ॥

आकाश में उठ जाने, सर्ये चन्द्र आदि लोक लोकान्तरों में स्वेच्छानुसार अव्याहतगतिषुर्वक भ्रमण करने आदि की शक्तियां ( अणिमादि सिद्धियां ) मरण के पश्चात् सुक जीवों को द्वी प्राप्त होती है, जीवित दशा में कदापि नहीं । जो लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि जीते जी ( जीवन्मुक्त योगी ) पुरुषों को उक्त शक्तियां सिद्ध होजाती हैं, वे वृथा भ्रम में ही पड़े हैं । यह बात निस्संदेह निश्चित जाना कि कोई भी योगी न तो अपने देह को रघड़वत् खेंच तान वा सकोड़कर बड़ा वा छोटा कर सकता है, न कायप्रवेश, न वे दोक टोक ( अव्याहतगति से सर्ये चन्द्रादि लोक लोकान्तरों में आकाशमार्ग द्वारा गमन और न संकल्पमात्र से शरीर बना, तथा उस का धारण वा त्याग कदापि करसकता है । किन्तुमृत्यु के पश्चात् शरीर से पृथक होने पर वे अपनी इच्छापूर्वक मोक्ष का आनन्द भोगते हुए छोटे व घड़े अभीष्ट देहको धारण तथा आकाश में सर्वत्र जहाँ चाहते हैं, वहाँ घले जा सकते हैं । इसी कारण थीयुत

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने भी मुक्तिविप्रय में ही इन सिद्धियों का वर्णन उपनिषद् तथा ग्राहण आदि ग्रन्थों में प्रमाणपूर्वक किया है ।

आत्मब्रह्मज्ञानी विद्वान् महात्माओंका सत्संगसेवा शुश्रूपा विप्रयक उपदेश तथा मुक्तजीव का लक्षण यथं लोकं मनस् । संक्षिभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते याँश्च कामान् । तंतं लोकं जायते ताँश्च कामाँस्तस्मादात्मज्ञं त्यर्चयेत्भूति-कामः ॥ १० ॥ इ मुण्डके खण्ड १ मं० १० ॥

( विशुद्धसत्त्वः ) जब विद्वान् उपासक योगी प्रद्वन्नि का आधार छोड़ कर अपने विशुद्धसत्त्व आत्पदित्य स्वरूप से निष्क्रेचल परमशुद्ध परमात्मा के ही आधार में मृत्यु को उल्लंघन कर के अद्वृत ( मोक्ष ) सुख को प्राप्त होता है तब ( यथं-लोकम् ) जिस २ सूर्यादि लोक में पहुँचे का ( मनसा-संविभाति ) मन से संकल्प अर्थात् इच्छा करता है ( यान्-च-कामान् ) और जिन सुखभोगों की ( कामयते अभिलाषा करता है ( तं तं—लोकम्—तान्—कामान्—च ) उस २ लोक और उन सर्व कामनाओं को ( जायते ) प्राप्त होता है ( तस्मात्—भूतिकामः ) इस लिये योगसम्बन्ध सिद्धियों के जाहने वाले जिज्ञासु पुरुष को उचित है कि—( आत्मवृद्धि अच्छयेत् ) ग्रहणी महात्मा की सेवा शुश्रूपा सत्कार अवश्य करे ॥

ओम्—अग्ने सदस्तकं शतमूर्छ्वतं ते पाणाः सदस्त्रव्यानाः ।

त्वर्थंसाहस्रस्य रायर्द्दिशेऽतस्फौते विद्येम वाजाय  
स्वाहा यजु० अ० १७ मं० ७१ ॥

अर्थ ( हे ) है [ सहस्रात्म ] हजारहों व्यवहारों में अपना विशेषज्ञान [ शतमूर्छ्वत् ] “वा” सैकड़ों प्राणियों में सहस्रक

बाले [ अग्ने ] अग्नि के समान प्रकाशमान अर्थात् [ योगिरः-  
ज ] योगिराजे “जित” ( ते ) आप के ( शतम् ) सैकड़ों  
( प्राणाः ) जीवन के साधन ‘तथा’ ( सहस्रम् ) हजारहों  
( व्यानाः ) क्रियाओं के निमित्त शयोरस्य वायु “तथा जो”  
( त्वम् ) आप ( सहस्रस्य ) हजारहों जीव और पदार्थों का  
आधार जो जगत् उस के ( रायः ) धन के ( ईशिषे ) स्वामी  
हैं ( तस्मै ) उस ( वाजाय ) विशेष ज्ञान बाले ( ते ) आप के  
लिये ( वयम् ) हम लोग ( स्वाहाऽविद्येम , = सत्यवाणी से  
सत्कार पूर्वक व्यवहार करें ॥

[ सावार्थ ] जो योगी पुरुष तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्र-  
णिधान आदि योग के साधनों से योग ( धारणा, ध्यान, स-  
स्याधिरूप संयम ) के बल को प्राप्त होके और अनेक प्राणियों  
के शरीरों में प्रवेश कर के अनेक शिर नेत्र आदि अङ्गों से  
देखने आदि कार्यों को कर सकता है अनेक पदार्थों वा धनों  
का स्वामी हो सकता है उस का हम लोगों को अवश्य सेवन  
करना चाहिये ॥

इस मन्त्र में योग को काव्यप्रदेश की सिद्धि प्राप्त होने का  
वर्णन है सो जैसे अणिमादि सिद्धियाँ कैवल्यमुक्ति प्राप्त योगी  
को सिद्ध होती हैं, वैसेही यह सिद्धि भी कैवल्य मुक्त को ही  
प्राप्त होती है ।

अधर्मी मनुष्य ब्रह्मविद्या के अधिकारी नहीं होते

अतः उनको मोक्ष भी नहीं प्राप्त होता

ओ—नतं विदाथ यं इमा जजानान्यद्युपमाकमन्तरं वभूव  
नीहारेण प्रावृत्ता जल्प्या चामुकृप उक्त्यशासश्चरंति ॥

[ अर्थ ] [ हे मनुष्योः ] हे मनुष्यो ! [ यथा ] जैसे [ अ-  
ब्रह्मविदः ] ब्रह्म को न जानने वाले [ ननः ] पुरुष [ नीहारेण  
“ वाऽक्षानोत् ” ] धूम के आकार कुहर के समान अक्षानरूप  
अन्धकार से [ प्रावृत्ताः ] अच्छे प्रकार से ढके हुये [ जल्प्या ]  
—थोड़े सत्त्व असत्त्व घादात्माद में स्थिर रहने वाले [ असु-  
रूपः ] प्राण पोपक [ उक्थशासः च ] और योगाभ्यास की  
छोड़ शब्द अर्थ सम्बन्ध के खण्डन मंडन में रमण करते हुये  
करते हुये [ चरन्ति ] विचरते हैं । तथा [ भूताः ] वैसे हुये  
तुम लोग [ तं ] उस परमात्मा को [ न ] नहीं [ विदाथ ]  
जानते हो [ यः ] जो [ इमा ] इन प्रजाओं को [ जजान ]  
उत्पन्न करता है [ यद् ] जो ब्रह्म [ युष्माकम् ] तुम अधर्मी  
अक्षानियों के सकाश से [ अन्यत् ] अन्यत् कार्य कारण रूप  
जगत् और जीवों से मिन्न तथा [ अन्तरम् ] सबों में स्थिर  
हुआ भी दूरस्थ के समान [ यभूव ] होता है [ तदतिसूक्ष्ममा-  
त्मन आत्मभूतं न विदाथ ] उस अतिसूक्ष्म आत्मा के आत्मा  
अर्थात् परमात्मा को नहीं जानते ॥

[ भावार्थ ] जो पुरुष ब्रह्मचर्य आदि व्रत, आचार, विद्या,  
योगाभ्यास, धर्म के अनुधान, सत्त्वनंग और पुरुषार्थ से रहित  
हैं, वे अक्षानरूप अन्धकार में दबे हुये ब्रह्म को नहीं जान सकते  
जो ब्रह्म जीवों से पृथक्, अन्तर्यामी, सब का नियन्ता और सर्वत्र  
व्याप्त है, उस के जानने को जिन का आत्मा पवित्र है, वे ही  
योग्य होते हैं अन्य नहीं ॥

तात्पर्य यह है कि दुष्ट जन ब्रह्मविद्या [ योगाभ्यास द्वारा  
ब्रह्मक्षान की प्राप्ति करने ] के अधिकारी नहीं हैं, अतएव उन  
को मुक्ति मिलना भी दुर्लभ है । अर्थापित्ति से पहले आशय  
निकला कि जिन के अन्तःकरण के संस्कार शुद्ध हो कर आच-

रथ अर्थात् शुण कर्म स्वभाव युक्त हैं, वे ही जन नोक्त मार्ग प्राप्ति के अधिकारी हो सकते हैं ॥

## अथ उपासनायोगे विज्ञानयोगः

तत्रादौ—आत्मवादः

वेद वेदान्तादि शास्त्रों में वहुधा “आत्मा” इस एक पद से ही दोनों आत्माओं [जीवात्मा और परमात्मा] का अहम होता है, किन्तु विद्वान् लोग प्रकरणात्मकूल यथार्थ अभिप्राय जान ही लेते हैं और अविद्वानों तथा वेद विरुद्ध भताचुर्यावी जनों को भ्रम ही होता है, उसभ्रम के निराकरणार्थ तथा जीव घट्ट का भेद स्पष्टतया दर्शने के हेतु से वेदों तथा वेदान्त अंगों के अनुसार अब इस आत्मवाद का संचित वर्णन करते हैं ॥

## जीवात्मज्ञान

अथानिदृष्टान्तेन जीवशुणां उपदिश्यन्ते ॥

अविन के दृष्टान्त से जिसप्रकार ईश्वर ने वेदों में जीवात्मा के शुणों का उपदेश किया है, उस की व्याख्या आगे करते हैं—

ओ—तूचित्सहोजा अमृतो नि तुन्दते होता यददूतो  
अभयद्विस्वतः । वि साधिष्वेभिः पथिभीरजोभम आ देव  
ताता हविपा विवासति ॥

अ० अ० १ । अ० ४ । अ० २२ । म० १ । अ० १० । सू०५८ म०१।

[पदार्थ] “हे मनुष्यो ।” [यत्] जो [चित्] चिद्युत के समान स्वयंप्रकाशमान [सहोजाः] वल को उत्पादन करने हारा [असृतः] स्वरूप से नाशरहित [होता] कर्मफल का भोक्ता मन और शरीर आदि सब का धर्ता [धारण करने हारा] और

[दूतः] सब के चलाने हारा [देवताता] = दिव्यपदार्थों के मध्य में दिव्यस्वरूप [अभवत्] होता है और जो [साधिष्ठेभिः] अधिष्ठानों के सहवर्तमान [पथिभिः] मार्गों से पृथिवी आदि लोक समूह के [रजः तु] शीघ्र २ बनाने हारे [विवस्वतः] [‘मध्ये वर्तमानः सन्’] इव प्रकाशस्वरूप परमेश्वर के मध्य में वर्तमान होकर [हविरा] ब्रह्मण किये हुये शरीर से सहित [नित्यन्दते] [नितराम् व्यथते] निरन्तर जन्म मरण आदि दुर्लभों से पीड़ित होता है। [विवासति] अपने कर्मों के फलों का सेवन करता है [वि आमम्] [व्यामम्] “और अपने कर्म में” सब प्रकार से वर्तता है “सजीवात्मा वेदितव्यः” = सो जीवात्मा है, ऐसा तुम लोग जानो ॥

[भावार्थ] अनादि अर्थात् उत्पत्तिरहित, सत्यस्वरूप ज्ञान भव्य आनन्द स्वरूप, सर्वशक्तिमान्, स्वप्रकाश स्वरूप, सब को धारण करने वाला, सब का उत्पादक, देश काल और वस्तुओं के परिच्छेद से रहित और सर्वव्यापक परमेश्वर के आधार में नित्य व्यापक सम्बन्ध से जो अनादि, नित्य, चेतन, अल्प, एक देशस्थ और अल्पज्ञ है, हे मनुष्यो ! वही जीव है, ऐसा तुम लोग निश्चित जानो ॥

[१] उपर्युक्त मन्त्र तथा उसके भावार्थ से ज्ञात होता है कि जीव अपने ज्ञान रूपी प्रकाश और सामर्थ्य को शरीरस्थ तुच्छि, इन्द्रिय, मन आदि समस्त स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों में फैलाकर फिर उन सब से यथावत् काम लेता है जैसे कछुआ इच्छानुसार अपने अङ्गों को फैला चा सकोड़ लेता है। दूसरे यह कि जीवात्मा अपने देह में सर्वज्ञ है, किन्तु व्यापक नहीं। निज देह में सर्वज्ञ न होता तो सर्वत्र देह का ज्ञान उस को न होता और जो देह में व्यापक होता तो कीड़ी में छोटा और

हाथी में बड़ा होनों पड़ता, इस लिये व्यापक नहीं, अव्यापक ही है ॥

[ २ ] इस वेदवाक्य से आधुनिक अद्वैतवादी [ जीव ग्रहण की पक्ता मानने वाले ] तथा श्रीमान् स्वामी शङ्कराचार्योंहिए मतानुयायी आदिक के मत का सर्वथा खंडन होता है क्योंकि अग्नि के दृष्टान्त से जीव ईश दोनों अर्थात् १ सर्वज्ञ और ज्योतिःस्वरूप परमात्मा ( ग्रह ) और २-अल्पज्ञ और स्वयं-प्रकाशमान जीवात्मा ( जीव ) का भिन्नत्व ( भेदभाव ) स्पष्टतया दर्शा दिया गया है ॥

ओ—आ स्वग्राम्युवमानो अजरस्तृप् विष्वयन्नतसेषु  
तिष्ठति । अत्योन पृथुं पुष्टिस्य रोचते दिवो न सानु  
स्तनयन्नचिकदद् ॥ २ ॥

ऋ०श्च० १ । अ० धा च० २२ । मं०२ अ०१० सू०५८ मंत्र ।

पदार्थः—“यो” जो ( युवमानः ) संशोग और विभाग करता है “स्वस्वरूपेण” “अपने स्वरूप से” ( अजरः ) जीर्ण-घस्था वा जरादि रोगरहित है ( देहादिकम् ) देह आदि की [ अविष्टन् ] रक्षा करने वाला होता हुआ [ अतसेषु ] आ-काश पवनादि विस्तृत पदार्थों में [ तिष्ठति ] वर्त्तमान वा स्थित रहता है, ( पुष्टिस्य=स्तिग्नस्य पूर्णस्य मध्येस्थितः सन् ) पूर्ण परमात्मा के आधार में कार्यका सेवन करता हुआ ( अत्यः=अश्वः न=इवपृष्टम्=पृष्ठ भागम्, अर्थात् पृष्टम-त्योन देहादि वहति ) जैसे घोड़ा अपनी पीट पर भार को लाद कर ले जाता है उस हो प्रकार देहादि के भार को जो धाहन है ( दिवः ) सूर्य के प्रकाश से ( न=सानु ) जैसे पर्वत के शिखर वा मेघ की धटा प्रकाशित होती है, वैसे ( रोचते )

प्रकाशमान होता है। ( स्तनयन् शब्दयन् अर्थात् विद्युत्स्तनयन्-  
निन्द्र ) दि.जुली शब्द करती है। धैसे ( अचिकदत् = विकल-  
यति ) चर्चया शब्द करता है।

( स्वम् स्वकीयम् ) अपने किये ( अदम् अन्तुभूमि कर्मफलं )  
भोक्तव्य कर्म कों ( लघु शीघ्रम् ) शीघ्र ( आ समन्तात् ) सब  
प्रकार से ( भुंके ) भोगता है ( स देही जीव इति मन्तव्यम् )  
वह देह का धारण करने घाला जीव है, वह बात निष्ठित  
जानो ॥

[ भावार्थ ] जिस को पूर्ण ईश्वर ने धारण किया है, जो  
आकाशादि तत्त्वों में प्रगति करता है, जो सब बुद्धि आदि का  
प्रकाशक है और जो ईश्वर के न्यायनियम से अपने किये शुभा-  
शुभ कर्म के सुख दुख रूप फल को भोगता है, सो इस शरोट  
में स्वतंत्र कर्ता भोक्ता जीव है। ऐसा सब मनुष्यों को जानना  
और मानना उचित है।

इस मन्त्र में भी जीव और ईश के यथार्थ लक्षण और  
स्वरूप का वर्णन कर के दोनों का भेदभाव स्पष्टता से जनाया  
गया है ॥

अँ—रूपं रूपं प्रतिरूपी द्भूत तदस्य रूपं प्रतिचक्षणा-  
य । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता द्यस्य हरयः शता-  
दश ॥

अ०० अ०४ । अ०७ । व०३३ । म०६ । अ०४ । स०४४ । म०१८ ।

( अर्थ ) ( 'हे मनुष्या : ) हे मनुष्यो ! ( यः ) जो ( इन्द्रः-  
मायाभिः ) जीव बुद्धियों से ( प्रतिचक्षणाय ) प्रत्यक्ष के लिये  
( रूपं रूपम् ) रूप रूप के ( प्रतिरूपः ) प्रति रूप अर्थात् जिस  
देह को जीव धारण करता है, उसरे प्रत्येक देह के स्वरूप से  
तदाकार चर्चमान ( द्यभूत ) होता है और ( पुरु रूपः ) घट्टत

शरीर धारण करने से अनेक प्रकार का ( ईयते ) पाया जाता है ( तद् ) वह ( अस्य जीवात्मनः ) इस शरीर धारण किये हुये जीवात्मा का वा शरीर का ( रूपम् ) रूप ( अस्ति ) है अस्य ( देहिनः ) इस 'देहधारी जीवात्मा के' ( हि ) निश्चय करके ( दश ) दश संख्या से विशिष्ट और ( शता ) सौ संख्या से विशिष्ट ( हरयः ) घोड़ों<sup>#</sup> के समान इन्द्रिय अन्तःकरण और प्राण ( युक्तोः शरीरं चहन्ति ) युक्त हुवे शरीर को धारण करते हैं ( तद् ) वह ( अस्य सामर्थ्यं चर्ते ) इस जीवात्मा का सामर्थ्य है ॥

( भावार्थ ) हे मनुष्यो ! जैसे विजुली पदार्थ२ के प्रतितद्रूप होता है वैसे ही जीव शरीर२ के प्रति तत्त्वस्वभाव बाला होता है और जब वाणि विषय के देखने की इच्छा करता है, तब उस को देख कर तत्त्वरूप ज्ञान इस जीव को होता है, और जो जीव के शरीर में विजली के सहिते असूख्य नाड़ियाँ हैं, उन नाड़ियोंसे यह सब शरीरके समाचार को जानता है ।

ओ—क्राणा रुद्रेभिर्वसुभिः पुरोहितो होता निपतोर चिपाढमर्त्यः । रथोन विच्छृङ्जसान आयुषु व्यनुपग्वार्या देवं ऋणवति ॥ अ०श०१ । अ०४ । व०२३ । म०१ । अ०१? । सू०५८ । यन्त्र ३ ॥

[ पदार्थ ] वः=जो ( रुद्रेभिः=प्राणैः ) प्राणो [ वसुभिः पृथिव्यादिभिरएवसुभि सह ] तथा वास देने हारे पृथिव्यादि आठ वसुओं के साथ ( निषत्तः=निसत्तः स्थितः ) स्थित और चलने किरने हारा ( होता अता स्वत्वादाता कर्मफल का भोक्ता और देहादि का धारण करने हारा ( पुरोहित=पूर्व

\* हरयः=अश्वइवेन्द्रियाऽन्तःकरणप्राणाः ।

प्रहीता ] प्रथम प्रहण करने योग्य (रविषाढ् यो रथि द्रव्यं स-  
हते ) धन सहन करने हारा अमर्त्यः=नाश रहितः ] अपने  
स्वरूप से मरण धर्म रहित क्राणा =कर्ता ] कर्मो का कर्ता।  
[ ऋजुसानः=यो ऋजुति प्रसाध्नोति सः ] किये हुए कर्मों  
प्राप्त होने वाला [ विञ्छु=प्रजासु ] प्रजाओं में [ रथः=रम-  
शीयस्वरूपः ] रथ के [ न=इव ] समान सहित होके [ आ-  
युषु वाल्यदौवनजराल्यवस्थासु ] वाल्यादि जीवनावस्थाओं में  
[ आनुपक अनुकूलतया ] अनुकूलता से वर्तमान [ वर्या=  
घर्तु धोग्यानि वस्तुनि सुखानि वा ] उच्चम सुखद पदार्थों वा  
सुखों को [ व्यूलवति=वि=विशिष्टार्थे । ऋणवति=कर्माणि  
साज्जोति ] तथा कर्मों को विविध प्रकार से सिद्ध करता है  
[ देवः=देवीप्यमानः ] अर्थात् सप्तव देवो जीवात्माऽस्तीति  
वैद्यम ] वही शुद्ध प्रकाश स्वरूप जीवात्मा है ऐसा निव्य  
करके जानो ॥

[ भावार्थ ] जो पृथिवी में प्राणों के साथ चेष्टा, रथ के  
समान शरीर के साथ मनके अनुकूल क्रीड़ा, औषध वस्तु और  
सुख की इच्छा करते हैं, वे ही जीव हैं, ऐसा सब लोग जानें।

ओं-विवाज्ज्वतो अतसेषु तिष्ठते वृथा ज्ञहूभिः सृण्या  
तुविष्वणिः । त्रुपु तदग्ने वनिनो वृपायसे कृष्णन्त एम  
रुशद्मे अजर ॥ ऋ० अ०१ अ०४ व०२३ । म०१ अ०  
११ म०५८ मन्त्र ४ ॥

[ पदार्थ ] हे [ रुशद्मे=रुशन्त्य ऊर्मयो ज्वाला यस्यत-  
त्सुखदौ ] अपने स्वभाव की लहर से युक्त [ अजर=स्ययं  
जरादिर्दोपरहित ] अपने स्वरूप से स्वर्यं जरा [ वृद्धा ] अं-  
वस्थादि से रहित [ अग्ने विद्युदर्त्तमान यस्त्वम् ] विजुली  
के तुल्य वर्तमान जीव जो दू [ अतसेषु=क्रिस्तृतेष्वाकाशुपव-

नादिषु पदातेषु व्याप्तव्ये तु तणकाषभूमिजलादिषु वा ] आ-  
काश पवनादि विस्तृत नाम व्यापक पदार्थों में वा तण का एष  
भूमि जलादि व्याप्तव्य पदार्थोंमें [वि तिष्ठते = निशेषण चर्तते]  
विशेष करके वहरता है [यत् यः] जो वातजूतः = वातेन वायु  
ना जूतः प्राप्तवेगः ] वायु का प्रेरक और वायु के समान वेग  
जला [तु दिवधरणिः = यस्तु चिपो वहृन् पदार्थान् वनति सभ्म-  
जाति सः] वहृत पदार्थों का सेवक [जुहुभिः जुहति याभिः  
क्रियाभिः] प्रहण करनेके साधनलप क्रियाओं और [सुरया धार  
एन हननेन वा] धारण तथा हननलप कर्मके साथ चर्त्तमान  
[वनिनः = प्रशस्ता रथमयो धनानि वा येषां येषु वा तन् ]  
यिद्युद्युक्त प्राणों को प्राप्त होके [त्वम् द्युषु शीघ्रम्] तू शीघ्र  
ही [द्युष्यत्ते = द्युष इव आन्वरसि] द्युष के समान वलवान  
होता है [यस्य ते, छपणम् = कर्पेति विलिखति येन ज्योतिः  
लमूहेन तम्] जिस तेरे कर्पेणलप गुण को यवम् [एम वि-  
द्याय प्राप्तुयाम] जान कर हम लोग प्राप्त होते हैं [सः त्वम्  
हो त् [द्युषा व्यमें] द्युषाभिमानं परित्यज स्वात्मानं जानीहि]  
द्युषाभिमान को छोड़ के अपने स्वरूप को जान ॥

भाजार्थः—सब मछुंझों को ईश्वर उपदेश करता है कि  
डौखा सैने जीव के स्वभाव का उपदेश किया है बही तुम्हारा  
स्वरूप है यह निश्चय जानो। इस मन्त्र से स्थावरों में जीवका  
होना सिद्ध होता है ॥

ओम्—तपुर्जम्भो वन ध्रा वातचोदितो युधे न सा-  
ह्वरं अववाति वंसगः । अभिजनन् नक्षितं पाजसा रजः  
स्थातुश्वरथ भयते पतनिणः ॥ ५ ॥ ऋ० अ०१ अ०४  
ष०८ । यं० १ अ०११ सू०५८ मन्त्र ५

**पदार्थः—** [ यो ] [ धंसगः यो धंसान् संभकान् पदा-  
र्थन् गच्छति प्राप्नोति सः धने रथमौ आ समन्वात् ] भिन्न २  
पदार्थों को सब ओर से प्राप्त होता है ।

[ वातचोदितः वायुना ग्रेरितः ] प्राणों से प्रेरित [ तपुर्जम्भः  
तपंषि तापा जम्भो धक्कत्रमिव यस्य सः ] जिस का मुख के  
समान प्रताप वह जीव अग्नि के सदृश जैसे [ यूथे सैन्ये न  
इव साहान् सहनशीलवीरौ वा जीवः ] सेना में सहनशील  
जीव [ अववाति अव विनिग्रहे वाति गच्छति ] अर्थात् वि-  
स्तृतो भूत्वा हिनस्ति सब शरीर को बेष्टा करता है अर्थात्  
विस्तृत होके दुःखों का हनन करता हैं यो [ अभिवजन् अ-  
भितः सर्वतो गच्छन् ] जो सर्वत्र जाता आता हुआ [ चरन्थम्  
चर्यते गम्यते भद्रयते यस्तम् ] चरने हारे [ अक्षितम् चर्यरहि-  
तम् ] चर्यरहित [ एजः सकारणं लोक समूहम् ] कारण के  
सहित लोक समूह को ( पाजसा धलेन ) बल से [ धरति ]  
धारण करता है [ स्थातुः कृतस्थिते पतत्रिणः पत्तिणः स्था-  
तुस्तिष्ठतो चृक्षादेमध्ये पतत्रिण इव ] स्थिर चृक्ष में बैठे हुए  
पक्षी के समान [ भगते भयं जनयति ] भय उत्पन्न करता है  
[ हे मनुष्यस्ताद्युपमाकं मात्मरवरूपमस्तीति विजानीत ] हे  
मनुष्यो ! वह तुम्हारा आत्म स्वरूप है । इस प्रकार तुम  
लोग जानो ॥

**भावार्थः—** जो अन्तकरणचतुष्टय [ अर्थात् मन तुदि, चित्त,  
अहंकार ] प्राण [ प्राणादि दश धायु ] और इन्द्रियों [ शोत्रादि  
दश इन्द्रिय ] का प्रेरक, इनका धारण करने हारा, नियन्ता,  
स्वामी तथा इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख और ज्ञान आदि गुण  
वाला है, वह इस देहमें जीव है सब मनुष्योंको चरित है कि  
प्रेसां सब लोग जाने ।

न्याय तथा वैशेषिक में भी इसी प्रकार के कर्म और गुण जीव के कहे हैं। यथा —

**इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिङ्गमिति ।**

न्याय० अ० १ । सू० १० ॥

जिस में [इच्छा] राग, [द्वेष] वैर, [प्रयत्न] पुरुषार्थ सुख दुःख, [ज्ञान] जानना, गुण हैं वह जीवात्मा कहाता है। वैशेषिक में इतना विशेष है कि:—

**प्राणाऽपाननिभेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनोलिंगानि ॥**

वै० । अ० ३ । आ० २ । सू० ४ ।

[प्राण] बाहरसे वायु को भीतर लेना अर्थात् श्वास लेना [अपान] भीतर से वायु को निकालना अर्थात् प्रश्वास छोड़ना [निमेष] आँख को नीचे ढाँकना आँख भीचना वा पलक मारना [उन्मेष] आँख को ऊपर उठाना अर्थात् आँख वा पलक खोलना [जीवन] प्राण का धारण करना अर्थात् जीवित रहना, जीना [मनः] मनन विचार अर्थात् ज्ञान [गतिः] यथेष्टगमन करना अर्थात् चलना फिरना आना जाना [इन्द्रिय] इन्द्रियों को विषयों में चलना, उनसे विषयों का ग्रहण करना [अन्तविकार] ज्ञाधा, रुपा, ज्वर, पीड़ा आदि विकारों का होना और पूर्वोक्त सुख दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न, ये सब आत्माके लिंग अर्थात् कर्म और गुण हैं। (स०प्र०प०००६०सम०३)

ओं—दधुष्ट्रूवा भृगवो मानुषेष्वा रयिं न चारुं सुहर्वं  
जनेभ्यः । होतारमग्ने अतिथि वरेण्यं मित्रं नै शेवं  
दिव्याय जन्मने ॥ ६ ॥

ऋ० अ० १ अ० ४ व० २४ । स० १ अ० ११ सू० ५८ मन्त्र द्वि-

**पदार्थः-**हे [ अग्ने ] हे अग्नि के सदृश स्वप्रकाशस्वरूप जीव ! “ यं [ त्वा त्वाम् ] जिस तुम्हेको [ भृगवः परिपक्व-विद्वान मेधाविनो विद्वासः ] परिपक्व ज्ञान वाले मेधावी विद्वान् । लोग [ मालुवेषु मानवेषु ] मनुष्यों में [ जनेभ्यः विद्वद्दूर्भ्योमनुष्यादिभ्यः विद्यां प्राप्य ] विद्वानों के सङ्ग से विद्या को प्राप्त होके [ चारुम् सुन्दरम् ] सुन्दर स्वरूप वाले [ सुखम् सुखेन होतुम् योग्यम् ] सुखों के देने हारे [ रथिम् न धनसिव ] धन के समान [ होतारम् दातारम् ] दान शील [ अतिथिम् न विद्यते नियता तिथिर्वस्य तम् ] अनियत स्थिति वाले अर्धात् अतिथि के सदृश देह देहान्तर और स्थान स्थानान्तर में जाने हारे ( चरेण्यम् चरितुमहं धेष्टम् ) अहण करने योग्य ( शेषं सुखस्वरूपम् ) सुखरूप [ मित्रं न सखायमिव जीवं लक्ष्या ] मित्र के सदृश जीव को प्राप्त होके [ दिव्याय दिव्यमोगान्विताय ] शुद्ध वा दिव्य सुख भोग से संयुक्त [ जन्मने प्रादर्भावाय जन्म के लिये [ आदधुः आ समन्तात् ] [ धरन्तु ] सब प्रकार धारण करते हैं तभेव [ तमेवजीव विजानीहि ] उसी को तू जीव जान ।

**भावार्थः-**जैसे मनुष्य विद्या वा लक्ष्मी तथा मित्रों को प्राप्त होकर सुखों को प्राप्त होते हैं, वैसे ही जीव के स्वरूप को जानने वाले विद्वान् लोग अत्यन्त सुखों को प्राप्त होते हैं ।

**मारांश यह है कि जीव को स्वशरीरस्थ तथा संसारस्थ पदार्थों का और अपने भी स्वरूप का जब यथावत् ज्ञान होता है, तब उसको समस्त आनन्द भोग और सुख प्राप्त होते हैं ।**

**अतएव मूल सिद्धान्त यह निकला कि सबको अपने आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये अवश्य पुरुषार्थ करना चाहिये, जिससे कि परमात्मा को भी जानकर सोक्ष प्राप्त हो । इस मन्त्र से पुनर्जन्म भी सिद्ध होता है ।**

ओं-होतारं सप्त जुहो यजिष्ठम् यं वाघतो बृणते  
अध्वरेषु । अग्नि विश्वेषामरतिं वसूना सपर्यामि  
प्रयसा याधि रत्नम् ॥ ७ ॥

ऋ०श० १ आ० ४ ध० २४ । मं० १ श० १० सू०५८ मं० ७

पदार्थः—[ हे मनुष्या ] हे मनुष्यो ! [ यस्य ] जिस के [ सप्त सप्तसंख्याकाः ] सात [ जुहोः याभिर्ज्ञहत्युपदिशन्ति परस्परं ताः ] सुख की इच्छा के साधन हैं कि जिनसे विद्वान् लोग परस्पर उपदेश करते हैं “तम्” उस [ होतारम् सुख-दातारम् ] सुखों के दाता । [ यजिष्ठम् अति शयेन यष्टरम् ] अतिंशय संगति में लिपुण [ विश्वेषां वसूनाम् ] सर्वेषां पृथिव्यादीनाम् ] सब पृथिव्यादि लोकों के [ अरतिम् प्रापकम् ] प्राप्त होने हारे [ यम् शिल्पकार्योऽप्योगिनम् । जिस शिल्पविद्या से उपयोग लेने वाले को [ वाघतः मेधाविनः ] बुद्धिमान् लोग [ प्रयसा प्रथत्नेन ] पुरुषार्थपूर्वक प्रीति से [ अध्वरेषु अनुष्ठातव्येषु कर्ममयेषु यज्ञेषु ] कर्मकाण्डमय कर्त्तव्य यज्ञ कर्मों में अर्थात् अहिंसनीय गुणों में अस्त्रिम् पावकम् ] अग्नि के सहय [ बृणते संभजन्ते ] स्वाकार करते हैं “तम्” उस [ रत्नम् रमणीयानन्दस्वरूपम् ] रमणीयानन्द स्वरूप वाले जीव को अहम् [ यामि प्राप्तोमि ] में प्राप्त होता हूँ और [ सपर्यामि परिचरामि ] सेवा करता हूँ ।

भावार्थः—जो मनुष्य अपने आत्मा को जान के परब्रह्म को जानते हैं वे ही मोक्षको पाते हैं अभिप्राय यही है कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों भिन्न भिन्न हैं । इनके भेदभाव का नव यथावत् ज्ञान-होता है, तबही सम्पूर्ण क्लेशोंकी निर्वृत्ति और मोक्ष रूपी आनन्द की प्राप्ति होती है । किन्तु जो लोग अहं ब्रह्मास्मि के अभिमानी होते हैं; उन् को परमात्मा का भय न

होने के कारण न तो दुष्कर्मों से नियृति और न मोक्ष की प्राप्ति संभव है ।

इन्द्रियाणि पराएया हुरिन्द्रियं भ्यः परमनः । मनसस्तु परा बुद्धियोनुद्देः परतस्तु सः ॥५०गी०अ०३४००४२

अर्थ—विद्वान् लोग कहते हैं कि स्थूलशरीर और शरीरस्थ प्राणादि वायुओं की अपेक्षा इन्द्रियों और उनकी शक्तियाँ तथा उन के विषय परे हैं । मन की अपेक्षा बुद्धि और बुद्धि से भी परे वह ( जीवात्मा ) है । इस श्लोक से यह भी आशय निकलता है कि जीवात्मा से भी अत्यंत परे ध्रेषु वा सूक्ष्म परमात्मा है । दैखा कि इस अन्थ में कठोर्यनिपत् वल्ली ३ मं० १० और ११ के प्रमाण द्वारा पूर्व कहा गया है ॥

## परमात्मज्ञान

ब्रा

### ब्रह्मज्ञान

आगे ईश्वर विषय का वर्णन करते हैं—

ओ—सपर्धगच्छुक्रमकायमवणमस्नाविरश्च शुद्धमपाप विद्मु । कविर्मनीषी परिभूः स्वर्यं भूर्यथातथ्यतोर्थान्व्य- द्धाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः । य० अ० ४० मं० ८

निर्गुण ईश्वर की स्तुति संग्रहण ईश्वर की स्तुति ।

अर्थ—वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी, अनन्त

---

यहाँ 'स' इस पद से जीवात्मा और परमात्मा दोनों आत्म हैं ऐसे ही अन्य स्थलों में 'आत्मा' 'पुरुष' 'चेतन' आदि एक २ पद से प्रकरणात्मक दोनों का व्याप्ति बहुधा होता है ।

बलवान शुद्ध, सर्वज्ञ, सब का अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराज-मान, सनातन, और स्वयंसिद्ध है और अपनी जीवरूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का वोध वेदद्वारा कराता है ॥

तथा वह कभी शरीर धारण नहीं करता अर्थात् जन्म नहीं लेता उस में छिद्र नहीं होता, वह नाड़ी आदि के बंधन में नहीं आता और कभी पापाचरण नहीं करता अर्थात् क्लेश दुख वा अश्वान उसको कभी नहीं होता अर्थात् वह परमात्मा रागद्वेषादि दुरुर्योग से सर्वधा रहित है ॥

इस मध्य में ईश्वर की सगुण और निर्णुण स्तुति है तथा, ईश्वर के अवतार का सर्वधा निषेध है और यह बात भी सिद्ध है कि जैसे जीवात्मा अश्वानवश पापाचरणों में फंसकर दुखादि क्लेशों को प्राप्त होता है, उस प्रकार परमात्मा कभी न तो पापाचरणों को करता है और न अविद्यादि क्लेशों में पड़ता है। जैसा कि ' क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरासृष्टः पुहृविशेष ईश्वरः , इति सूत्र में पूर्व कहागया है—

अपाणिपादो जघनो ग्रहीता पश्यत्यच्छुः स शृणोत्य कर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तत्यास्ति वेत्ता तपाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ श्वेताश्वतर उप० अ० ३ मं० १९

( अर्थ ) परमेश्वर के हाथ नहीं, परन्तु अपनी शक्ति रूप हाथ से सब का रंचन प्रहण करता है । पर नहीं, परन्तु व्यापक होने से सब से अधिक वेगवान् है । चक्र का गोलक न ही परन्तु सब को यथावत् देखता है । श्रोत्र नहीं, तथादि सब की बात उन्नता है । अन्तःकरण नहीं परन्तु सब जगत् के जानता है और उस को अवधि सहित जानने वाला कोई भी नहीं। उसी को सनातन, सब से श्रेष्ठ, सब से पूर्ण होने से पुरु-

प कहते हैं । अर्थात् ईश्वर इन्द्रियों और अन्तःकरण के विभा अपने सब काम अपने सामर्थ्य से करता है । यही विलक्षणता दर्शायी है कि जीव और ईशा भिन्न न हैं ॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समक्षाभ्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वभाविकीज्ञानवत्ता क्रिया च ॥ श्वेताश्वतर उप० अ० ६ म० ८

( अर्थ ) परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य और उसको करण अर्थात् साधकतम दूसरा अपेक्षित नहीं । न कोई उस के तुल्य और अधिक है । सर्वोच्चम शक्ति अर्थात् जिस में अनन्त ज्ञान अनन्तवत्ता और अनन्तक्रिया है, वह स्वभाविक अर्थात् सहज उस में सुनी जाती है इस मन्त्र से भी जीव और ईशा का भिन्न त्व स्पष्ट सिद्ध है ॥

ओं—अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनदेवा आमुवन्पूर्व-  
र्यपत् । तद्वावतोऽन्यानत्येति लिप्तुस्तिपन्नपो मातरिश्वा-  
दधाति । य० अ० ४० म० ४

( अर्थ ) ( हे विद्वांसो मञ्जुष्या ) हे विद्वान् मञ्जुष्यो ( यत् ) जो ( एकम् ) अद्वितीय ( अनेजत् ) नहीं कंपने वाला अर्थात् अन्तः अन्तः । अपनी अवस्था से हटना कंपन कहाता है उस से रहित ( मनसः ) मन के वेग से भी ( जवीयः ) अति वेगवान् ( पूर्वम् ) सब से आगे ( अर्पत् ) चलता हुआ अर्थात् जहाँ कोई चलकर जावे वहाँ प्रथम हीं सर्वज्ञ व्याप्ति से पहुँचता हुआ ब्रह्म है ( एनत् ) इस पूर्वोक्त ईश्वर को ( देवाः ) चक्षु आदि इन्द्रिय ( न ) नहीं ( आमुवन् ) प्राप्त होते ( तत् ) वह परब्रह्म ( तिष्ठत् ) अपने आप ( स्वत्रं ) स्थिर हुआ अपनी अनन्त व्याप्ति से ( धावतः ) विपद्मों की ओर गिरते हुये

( अन्यान् ) आत्मा के स्वरूप से विलक्षण मन वाणी आदि-इन्द्रियों का ( अति पतिश्रव्येति ) उल्लंघन कर जाता है ( तस्मिन् ) उस सर्वत्र अभिव्यास ईश्वर की स्थिरता में ( मात्-रिश्वा ) मातरि=अन्तरिक्षे श्वसिति=प्राणान् धरति वायुः तद्वत्=जीवः ) अन्तरिक्ष में प्राणों का धारण करने हारे वायु के तुल्य जीवात्मा ( अपः ) कर्म किया को ( दधाति ) धारण करता है ( इति विजानति ) यहवात् तुम लोग विशेष निष्ठय करके जानो ।

[ भावार्थ ] ब्रह्म के अनन्त होने से जहाँ २ मन जाता है, वहाँ २ प्रथम से ही अभिव्यास, पहिले से ही स्थिर, ब्रह्म वर्त्तमान है, उस का विज्ञान शुद्ध मन से होता है । चक्रु आदि इन्द्रियों और अविद्यानों से देखने योग्य नहीं है । वह आप निश्चित हुआ सब जीवों को नियम से चलाता और धारण करता है । उस के अति सूक्ष्म होने तथा इन्द्रियगम्य न होने के कारण धर्मात्मा विद्वान् योगीको उसका साक्षात् ज्ञान होता है अन्य को नहीं ॥

ओम्-तदेनति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य  
सर्वस्य तदुसर्वस्यास्यवाहतः य० अ० ४० म० ५ ॥

अर्थ ( हे मनुष्यो ! ( तत् ब्रह्म ) वह ब्रह्म ( एजति ) मूर्खों की दृष्टि से चलायमान होता है । ( तत् ) वह ( न ) अपने स्वरूप से न ( एजति ) और न चलाया जाता है ( तत् दूरे ) वह अधर्मी अविद्वान् अयोगियों से दूरः अर्थात् करोड़ों वर्ष में भी नहीं प्राप्त हीता ( तत् ) वह ( उ ) ही ( अन्ति के ) धर्मात्मा विद्वान् योगियों के समीप है ( तत् ) वही ( अस्य ) इस ( सर्वस्य ) सब जगत् वा जीवों के ( अन्तः ) भीतर है ( उ ) वह ( अस्य ) इस ( सर्वस्य ) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूप जगत्

(वाहृतः वर्त्तते) वाहर भी वर्त्तमान है (इति निश्चिन्तुत) यह बोत तुम निश्चय करके जानो ।

(भाषार्थ) हे मनुष्यो ! वह ब्रह्म मूढ़ की दृष्टि में कांपता जैसा है, वह आप व्यापक होने से कमी चलायमान होता । जो जन उसकी आकृति से विरुद्ध हैं वे इधर उधर भागते हुए भी उसको नहीं जानते और जो इश्वर की आकृति का अनुष्ठान करने वाले हैं वे अपने आनंद में स्थित अतिनिकट ब्रह्म को प्राप्त होते हैं । ब्रह्म सब प्रदृष्टि आदि के बाहर भीतर अव्ययों में अभिव्यास होके अन्तर्यामी रूप से सब जीवों के पाप पुण्य कर्मों को जानना हुआ यथार्थ फल देता है, यही सबकी ध्यान में रखेना चाहिये और उसी से सर्वको छरना चाहिये ।

ओम्-द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिप्लं स्वजाते । तयोरन्यः पिप्लं स्वादृत्यन्तेन्नन्तन्यो अभी चाकशीति ॥

ऋ०अ०२ । अ०३ । व०१७ । म०१ अ०२२ । स०१६४ । म०२०

(अर्थ) 'हे मनुष्योः' हे मनुष्यो । (यौ) शो(द्वा) 'अहमजीवौ पक्षिणो व्रह्म और जीव दो पक्षी (पक्षेक) (सुपर्णा) शोभनानि पर्णानि गमनागमनादीनि कर्माणि चा (ययोस्तौ अथवा पालनचेतनादिपु गुणेषु सदृशौ) सुन्दर पंखों वाले अर्थात् गमनागमनादि कर्मों में एक से अथवा चेतनता और पालनादि गुणों में सदृश [सयुज यौ] समानसम्बन्धी व्याप्यव्यापकभावेन सहैव थुक्तौ चा ] समान सम्बन्ध रखने वाले अथवा व्याप्यव्यापक भाव चा सम्बन्ध से संयुक्त रहने वाले [सखाया मित्रवद्वर्त्तमानौ अनादि सनातनौ समानस्याती आत्मापदवा-क्यौ वा] परस्पर मित्रतायुक्त वर्त्तमान और अनादि तथा सनातन अथवा चेतन वा आत्मादि एक से नाम से कहाने

वाले हैं और "[समानम्=तमेवचैकम्]" उस एक ही [ब्रह्म] यो वृश्चयन द्विदते तः कार्यकारणात्यम् ] वृक्ष का, जो काटा जाता है अर्थात् अनादिमूलरूप कारण और शाका सूप कार्य-सूक्ष्मज्ञ जो स्थूल होकर प्रलय में द्विन्न भिन्न हो जाता है। उस कार्यकारणसूप वृक्ष का [ परिपत्तज्ञते सर्वतः स्वर्जते आश्रयतः ) सर्वथा आश्रय करते हैं [ तयोर्जीवद्वक्षयोरनाद्योर्ध्वगोः ] उन ग्रहों और जीव दोनों अनादि पदार्थों वह इस में से [अन्यः एको जीवः स वृक्षरूपेऽस्मिंश्चगतिः] एक जो जीव है वृक्षरूप संसार में [ पिण्डलम् परिपक्वफलम् पापपुण्यजन्यं सुखदुःखात्मकभोगम् चा ] पापपुण्यजन्य चुखदुःखात्मक परिपक्व फल रूप भोग को [ स्वादु अस्ति = स्वादुमुंके ] स्वादु ले लेकर अच्छे भक्तार भोगता है [अन्यः = परमात्मा = ईश्वरः ] और दूसरा अर्थात् परमात्मा ईश्वर ] अनश्नन् = उक्तभोगमकुर्वन् ], उक्त कर्मों के फलों को न भोगता हुआ [ अभि = अभितः = सर्वतः ) चारों ओर अर्थात् भीतर वाहर सर्वथा [ चाकशोति = प्रश्यति ] प्रकाशमान हो रहा है (अर्थात् साक्षि भूतः पश्यन्नास्ते ] साक्षीरूप होकर जीवकृत व्यष्टिहारों को देखना हुआ व्यापक हो रहा है।

अर्थात् जीव ईश इन दोनों में से एक तो चलने फिरने आदि अनेक क्रियाओं का करने वाला, दूसरा क्रियाजन्य काम को जानने वाला, दोनों क्रमपूर्वक व्याप्य व्यापक भावके साथ ही सम्बन्ध रखते हुये मित्रों के समान चर्चमान हैं। और समाज कार्यकारणरूप देह और ब्रह्माएड का आश्रय करते हैं। उन दोनों अनादिर्जीव ब्रह्म में जो जीव है वह पाप पुण्य से उत्पन्न हुये सुखदुःखात्मक भोग को स्वादुपन से भोगता है और दूसरा ब्रह्मात्मा न तो कर्मों को करता ही है और न चिवेक = ज्ञान की अत्यन्त अधिकता वा प्रबल प्रकाश

के कारण भोगता ही है, किन्तु उक्त भोगते हुये जीवात्मा को सब और से देखता है, अर्थात् उस जीवात्मा के कर्मों का साक्षी परमात्मा है।

[ भावार्थ ] [१] जीवात्मा, [२] परमात्मा [३] ब्रह्मात्मा और पूर्वोक्त महान् [आत्मा] जगत् का कारण [प्रकृति] वे तीन पदार्थ अनादि और नित्य हैं। जीव ईश (परमात्मा) यथाक्रम से अल्प, अनन्त, चेतन, विज्ञानवान्, सदा विलक्षण [अर्थात्] एक दूसरे से भिन्न शुण कर्म स्वभाव लक्षणादि घाले] व्याप्त्य व्यापक भाव से संयुक्त और मित्र के समान हैं वैसे ही जिस अव्यक्त परमाणुरूप कारण से कार्यरूप जगत् होता है वह भी अनादि: और नित्य है। समस्त जीव पाप पुण्यात्मक कर्मों को करके उनके फलों को भोगते हैं और ईश्वर एक सब और से व्याप्त होता हुआ न्याय से पाप पुण्य के फलों को देने से न्यायधीश के समान देखता है।

इस मन्त्र में अत्यन्त स्पष्टता के साथ जीव और ईश इन दोनों के भेदभाव को दर्शाया है। क्योंकि हिंचनान्त पदों के प्रयोग से जीव और ब्रह्म इन दोनों के पृथक् २ होने में किञ्चित्-स्माच भ्रम नहीं रहता। इन दोनों को एक मानने रूप जो भ्रम कभी किसी को होता भी है तो उसका कारण यह है। कि आत्मा, पुण्य, चेतन, सनातन, नित्य शुद्ध, अजर, अमर, आदि विशेषण गौण और मुख्यभाव से दोनों में घट जाते हैं। अतः आत्मा पुरुष आदि नाम से दोनों ही कहाते हैं किन्तु प्रकरण-वित् विद्वानों को उस शब्दप्रयोग से तात्पर्यर्थ जान लेना कठिन नहीं है। अविद्वान् पुरुष वा हठों के लिये वह वचन ठीक ही है कि—“ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति” ब्रह्मा भी उस पुरुष को समझा कर प्रसन्न वासन्तुष्ट नहीं कर सकता।

वर्तमान समय से आर्यावर्त्तमें अद्वैतवाद अधिक प्रचलित

है, इसी कारण इस विषय को स्पष्ट करने की आवश्यकता नानी गई।

ओम्—त्रिपाजन्यो वृपभो विश्वरूप चतु ऋष्यथा पुरुष  
प्रजावान् । त्र्यनीकः पत्यते माहिनावान्त्सरतोधो वृषभः  
शश्वतीनाम् ॥

ॐ०श्र०३ । अ०४ । घ० १ । म०३ । अ०५ । स०५६ । म०३

[ अर्थ ] [ हे ] हे [ पुरुष ] वहुतों को धारण करने वाले [ विद्वन् ] विद्वान् पुरुष [ यः ] जो [ त्रिपाजस्यः ] तीन अर्थात् शरीर, आत्मा और सम्बन्धियों के यतों में निपुण [ वृपभः ] वृषिकर्ता है [ ऋष्यथा ] जिसमें तीन अर्थात् कारण सूक्ष्म, और स्थूल वहे हुवे जीव शरीर [ विद्युत्-इव ] और अन्य सम्पूर्ण रूप विद्यमान हैं “ जो विजुली के सदृश ” है [ उत् ] और ( प्रजावान् ) वहुत प्रजालन ( त्र्यनीकः-इव ) तथा विगुणित सेना से यक्ष के समान [ माहिनावान् ] वहुत सत्कारवान् है [ पत्यते ] “ वा जो ” स्वामी के सदृश आचरण करता है [ सः ] वह [ वृपभ ] अत्यन्त बलयुक्त [ शश्वतीनाम् ] अनादि काल से हुई प्रकृति और जीव नामक प्रजाओं का [ रेतोधाः सूर्यइव वीर्यप्रदोऽस्तीति॒विजानीहि॑ ] जल के सदृश वीर्य का धारण करने वाले सूर्य के सदृश वीर्य का देने वाला जगदी-श्वर है ऐसा जानो”

( भावार्थ ) जो जगदीश्वर विजुली के सदृश सब जगह द्यापक होके प्रकाश कर्ता फिर न्यायाधीश स्वामी अनन्त महिमा से युक्त और अनादि जीवों का न्यायाधीश वर्तमान है, उस से डर के और पापों का त्याग करके प्रीति से धर्म का आचरण कर अपने अन्तःकरण में सब लोग उसी का द्यान करें ॥

थ्रो— ससुवांसभिवत्पन् अग्निभित्था । तिरोहितम् ।

एनंनयमातरिश्वा परावतो देवेभ्यो मधितंपरि ॥

ऋ० अ०३ । व०५ । म०३ । अ०६ । स०१ । मन्त्र ५ ।

( अर्थ ) ( हे मनुष्या : ) हे मनुष्यो ! ( यथा ) जैसे ( मा-  
रेश्वा परावतः देवेभ्यः वायुः ) दूर देश से विद्वानों के लिये  
( मधितम् ) मधन किये ( तिरोहितम् अग्निम् प्रच्छन्न . अग्निम्  
को ( सख्वासं परि आनवत् पर्यात्यत् प्राप्त होते हुवे मनुष्य  
के उमान ) सब ओर से सब प्रकार प्राप्त कराता है ( इत्था )  
इस प्रकार ( तम् ) उस एनम् ) अग्नि को ( तमनात्मना आ-  
त्मना ) आत्मा से ( यूँ विजानीत ) तुम लोग विशेष कर  
के जानो ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे प्रथन के साथ मन्धत आदि  
से उत्पन्न हुए अग्नि को वायु वढ़ाता और दूर पहुचाता है,  
तथा अग्नि प्राप्त हुए पदार्थों को जलाता और दूरस्थ पदार्थों  
का नहीं जलाना इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, विद्या बोगाभ्यास,  
धर्मानुष्ठान और सत्पुरुषों के संग से साक्षात् किया आत्मा  
और परमात्मा सब दोनों को जला के ऊन्द्र प्रकाशित ज्ञान  
को प्रकट कराता है ॥

—०—

## कौन जीव आत्मविद्याको प्राप्त होता है

ओम्-य ईचकार न सो अस्य वेद य ई ददशोहिरु  
गिन्तु तस्मात् । स द्वयोऽना परिवितो अन्तर्वहुप्रजानित्रै  
तिमाविवेश ॥ ऋ० अ०३ ॥ अ०३ । व०२० । मं १. अ०  
२२ । स० १६४ । मं० ३२ ॥

( अर्थ ) ( यः ) जो ( जीवः ) जीव किया मात्र ( ईम् च, कार ) करता है ( सः ) वह ( अस्य स्वरूपम् ) इस अपने स्वरूप को ( न ) नहीं ( वेद ) जानता ( यः ) जो ( ईम् ) समस्त किया को ( ददर्श स्वरूपं पश्यति ) देखता और अपने स्वरूप को जानता है ( सः ) वह ( तस्मात् ) उस से ( हिरुक् ) अलग ( सन् ) होता हुआ ( मातुः ) माता के [ योना ] गर्भ में शब्द को [ अन्तः ] विच [ परिवीतः ] सब और से ढका हुआ [ बहुधजाः ] जन्म लेने वाला [ निश्चृतिम् ] भूमि को [ इत् ] ही [ तु ] शीघ्र [ अविवेश ] प्रवेश करता है ॥

भावार्थ—जो जीव कर्म करते हैं किन्तु उपासना और ज्ञान को नहीं प्राप्त होते वे अपने स्वरूप को भी नहीं जानते और जो कर्म उपासना और ज्ञान में निपुण हैं वे अपने स्वरूप और परमात्मा को जानने के योग्य हैं । जीवों के अगले अर्थात् गत जन्मों का आदि और पीछे होने वाले जन्मों का अन्त नहीं है, जब शरीर को छोड़ते हैं तब आकाशस्थ हौ गर्भ में प्रवेश कर और जन्म पाकर पृथिवी में चेष्टा ( किया ) चान् होते हैं ॥ इस मन्त्र से भी पुनर्जन्म स्पष्ट सिद्ध हैं ॥

बहुत लोग ईश्वर को निष्क्रिया जानते और मानते हैं सो यहाँ यह बात भी सिद्ध होती है कि ईश्वर में अनन्त विविध क्रिया विद्यमान है । । यदि वह निष्क्रिया होता तो जगत् की उपतत्ति दिथति प्रलय न कर सकता, अतः वह विभु तथाचे : तन होने से उस में किया भी है किन्तु विना किसी साधन व सहायक के अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब कुछ करता है । यहीं जीव की अपेक्षा ईश में विलक्षणता है जिस से वे दोनों परस्पर भिन्नर जाने जाते हैं ॥

इत्यादि सत्य सत् शास्त्रों के अनेक धार्यों से ईश्वर और जीव भाव प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, भिन्नर पाये जाते हैं।

इत्यलभ्युद्धिमध्यरसज्जनेषु

—○—

## विज्ञानोपदेश योगी का वर्त्तव्य ।

अथेश्वरः प्राथमकेन्द्रिकाय योगिने विज्ञानमाद  
योग में प्रथम ही जो कोई प्रवृत्त होता है, उस के लिये  
ईश्वर ने किस प्रकार वेद द्वारा विज्ञान का उपदेश किया है  
सो आगे बढ़ने करते हैं ॥

ओम्-अन्तस्ते धावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्त  
रक्षितम् । सजुर्धेवेभिरवरैः पैरस्चान्तर्यामि मधवन् माद-  
यस्व १ यजु० अ० ७ मं० ५

[ अर्थ ] [ मधवन् हे परमोत्कृष्टधनितुल्य योगिन् । हे प-  
रम उत्कृष्ट धनी के समान योगी ! ( ते अन्तः अहम् आकाशा-  
भ्यन्तर इव तव शरीराभ्यन्तरे हृदयाकाशो ) आकाशान्तर्गतं  
आवकाश के तुल्य तेरे शरीरके अन्तर्गत हृदयाकाश में “मैं पर-  
मेश्वर [ धावापृथिवी इव भूमि सूर्याविव विज्ञानादिपदार्थान् ]  
सूर्य और भूमि के समान विज्ञानादि पदार्थों की ( दधामि =  
स्थापयामि ) स्थापित करता हू ( उरु अन्तरिक्षं = वहुविस्तृतं  
अन्तरालमधकाशम् ) वहुतं चिस्तारयुक्त आवकाश को [ अंतः  
दधामि शरीराभ्यन्तरे स्थापयामि ] शरीर के भीतर धरता  
हूं [ सजु त्वम् मित्रइव त्वम् ] मित्र समान दू [ देवेभिः वि-

द्विद्विः प्राप्तैः ] विद्वानों से विद्या को प्राप्त होके [ अवरैः परैः च निकृष्टैः उत्तमैश्वर्यव्यवहारैः सह च ] थोड़े चः बहुत योग व्यवहारों से [ अनन्तर्यमें यमानामयं यामः अन्तश्चासौ यामश्च तस्मिन्नन्तर्यमें वर्तमानः सन् ] भीतर ले नियमोंमें वर्तमान होकर [ मादयस्थ अन्यान् इर्षयस्व ] अन्य स्वपको प्रसन्न किया कर ।

भावार्थ — ईश्वर का यह उपदेश है कि ब्रह्माएङ में जिस प्रकार के जितते पदार्थ हैं उसी प्रकार के उतने ही मेरे ज्ञानमें वर्तमान हैं । योग विद्या को नहीं जानने वाला उन को नहीं देख सकता । और मैंरी उपासना के विना कोई योगी नहीं हो सकता ॥

### पुनरीश्वरो जिज्ञासु' प्रत्याह

फिर ईश्वर योगविद्या चाहने वाले के प्रति उपदेश करता है,  
ओम्—स्वाकृतोसि विश्वेभ्यऽन्दियेभ्यो दिव्येभ्यः  
पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा । त्वा सुभभूर्यायि देवेभ्य-  
स्त्वा मरीचिपेभ्यऽउदानायत्वा ॥ २ ॥ य० अ०७ म०६

( अर्थ )—( सुवभ हे सुष्ठुवेश्वर्यवन् योगिस्त्वम् ) हे शोभन पैश्वर्ययुक्त योगी ! तू ( स्वाँकृतः असि रवयं सिद्धोऽनादिस्वरूपीति “अहम्” “मैं” ) अनादिकाल से स्वयं सिद्ध है विष्वेभ्यः अखिलेभ्यः समस्त दिव्येभ्यः निर्मलेभ्यःशुद्ध ) ( देवेभ्यः प्रशस्तगुणपदार्थेभ्यो विद्वद्ग्रथश्च प्रशस्त गुणोः प्रशंसनीय पदार्थों तथा प्रशंसनीय गुण और पदार्थों से युक्त विद्वानों (इन्द्रियेभ्यः कार्यसाधकतमेभ्य इन्द्रियेभ्यः) कार्य सिद्ध करने के लिये उत्तम साधकरूप इन्द्रियों और ( मरीचिपेभ्यः रश्मिभ्यः ) योगके प्रकाशयुक्त व्यवहारोंसे (त्वा त्वां स्वीकरोमि)

तुम्ह को स्वीकार करता हूं और ( पार्थिवेभ्यः पृथिव्याँ विदि  
ते भ्यः पदार्थेभ्यः ) पृथिवी पर प्रसिद्ध पदार्थों के लिये भी  
( त्वं त्वा स्वीकरोमि ) तुम्ह को स्वीकार करता हूं ( सूर्योऽय  
सूर्यस्तेव योगप्रकाशाश्च ) सूर्य के समान योगप्रकाश करने के  
लिये— तथा [ उदानाय च उत्कृष्टाय जीवघबलसाधनायैव ]  
उक्त ए जीतन और बल के अर्थ ( त्वं त्वां स्वीकरोमि ) तुम्हे  
श्रहण करता हूं ( यतः त्वा त्वा योगमभीप्सुम् जिस से कि  
तुम्ह योग चाहने धाले को मनः योगमननन् : योगसमाधियुक्त  
मन [ स्वादा सत्यवचनरूपा सत्यानुष्ठानरूपा सत्यारुद्धा च  
क्रिया ] सत्य भाषण और सत्य कर्म करने तथा सत्य पर  
आरुद्ध होने की क्रिया [ इष्टु प्राप्नोतु ] प्राप्त हो ॥

[ भावार्थ ] मनुष्य जब तक श्रेष्ठाचार करने वाला नहीं  
हो, तब तक ईश्वर भी उस को स्वीकार नहीं करता । जब  
तक जिस को ईश्वर स्वीकार नहीं करता है, तब तक उसका  
पूरा २ आत्मबल नहीं हो सकता और तब तक आत्मबल  
नहीं बढ़ता, तब तक उस को अत्यन्त सुख भी नहीं होता ॥

### पुनर्योगिकृत्यमाह

अगले मन्त्र से फिर योगी का कृत्य कहा है ॥

ओम्—आ वायो भूष शुचिपाऽऽप नः सहस्रते निशुतो  
विश्ववार उपो तेऽअन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिष्वे  
पूर्वपेयं वापदे त्या ॥ ३ ॥ अजु० आ० ३ मं० ७

अर्थ[हे शुचिपाःशुचि यविकृतौं पातयताति शुचिपः] [हेऽ-  
विकृपात् ६] अत्यन्त शुद्धगत्वा यालनेहारे और[वायो वायुर्विव  
वर्त्तमानः] पवन के तुल्य [ पश्चत्न, उरुषार्थं वा बल तथा  
ज्ञानेगपूर्वक निरन्तर ] योगक्रियाओं में प्रदूत्त होने वाले

[ अधिमात्रोपायतीव्रसंवेग तीव्राधिकारी ] योगी ( त्वम् ) तू न, अस्मान् इन सहस्रम् सहस्रशः वहूनि अगणितानि अस्थितानि वा ] हजारों अगणित [ नियुतः ] नियुज्यन्ते तान् नियितान् शमादिगुणान् ) नियित शमादिक गुणों को ( उप ) अपने निज आत्माके सकाशसे (आभूष स्वात्मसकाशात् आसमन्तात अलंकुर ) सर्वथा भूषित कर [ हे विश्वधार विश्वान् सर्वानानन्दान्कवृणोति तत्समुद्दीप ] हे समस्त गुणोंके स्वीकार करने वाले ( ते मयम् तव तृसिप्रदम् , तेरा अच्छ्रु तृसि देने वाला जो ( अन्धः ) [ अन्नम् ] अन्न है उस को मैं , उपो तवस-काशात् ) तेरे समीप ( अयामि प्राप्नोमि ) पहांचाताहूँ [ हे देव योगेनात्मप्रकाशित है आत्मविद्व ब्रह्मविद्व ब्राह्मण ] हे योगबल से आत्मा को प्रकाशित करने वाले ब्रह्मव योगी ! [ यस्य ते यस्य तव ] जिस तेरा [ पूर्वपेयम् पूर्वःपातुं योग्य-मिव योगबलमस्ति ] श्रेष्ठ यांगियों की रक्षा करने योग्य योग बल है [ दधिपे यस्य त्व धरसि ] जिस को तू धारण कर रहा है [ वादेवे तद्वायवे तथ्योनवलप्रापणाथ ] उस योगबल के ज्ञान की प्राप्ति के लिये ( त्वा त्वां ) तुम को [ अहं स्वीकरोमि' ] मैं स्वीकार करता हूँ ॥

[ भावार्थ ] जो योगी प्राण के तुल्य अच्छे २ गुणों में व्यास होता है और अन्न और जल के सदृश छुख देता है, वही योगी योग के बीच मैं समर्थ होता है ॥

अभिप्राय यह है कि योगमार्ग में प्रवृत्त होने वाले जिन्हासु को उचित है कि उत्तम अधिकारी होने के लिये अस्यन्त पवित्रता से रहना, तीव्रसंवेगयुक्त योगक्रियाओं के अभ्यास में आलस्यरहित पुरुषार्थ करना, यमनियगशमादि पद्धतयत्ति इत्यादि जो विविध मुक्ति के साधन हैं उन का यथावत

पालन करना आप विद्वानों से शिक्षा पाकर अन्यों को शिक्षा वा उपदेश करना अत्यन्त आवश्यक है । जो कोई इस प्रकार से प्रवृत्त और कटिवद्ध होता है, उस ही को ईश्वर स्वीकार करके अनेक प्रकार के आनन्द भोगों से तृप्तकरता और मोक्षानन्द का दान करता है ।

## पुनः स योगी कीदृशी भवतीत्युच्यते

फिर वह योगी कैसा होता है, यह अगले मन्त्र में कहा है ॥  
अर्थो—इन्द्रवायूडमे सुताऽउप प्रयोभिरागतम् । इन्द्रवोवा-

मुशंतिहि । उपयाम गृहीतोसि वायवऽइन्द्रवाभ्या-  
न्त्वेष ते योनिः सजोभ्यां त्वाप्त य० अ० ७ म० ८

अर्थ—[ इन्द्रवायू हे प्राणसूर्यसदृश योगस्योपदेष्ट्योसि-  
नो— ] हे प्राण और सूर्य के सदृश योगशास्त्र के पढ़ने पढ़ाने  
वालो । जिस कारण से यतः [ क्योंकि ] इनेमि प्रत्यक्षाः सम-  
क्षाः ) ये । सुताः निष्पत्नाः ) उत्पन्न हुवे इन्द्रवः सुखकारक  
जलाद्विपदर्थः ) सुखकारक जलादि पदार्थं वाम् ( युवाम् )  
तुम दोनों को ( उशंतिहि निश्चयेन कामयन्ते , निश्चय करके  
प्राप्त होते ही हैं ( तस्मात् ) इस लिये ( युवां ] तुम दोनों  
( एतैः , इन ( प्रयोभिःकमनीयैर्लक्षणैः पदार्थैः सदैव ) मनोहर  
पदार्थों के साथ ही ( उप आगतम् उपागच्छतन् ) अपना  
आगमन जानो ( साथ २ आये हो ) ( भोयोगभभीष्मोत्त्वमने-  
नाध्यापकेन ) हे योग चाहने वाले जिदासु ! तू इस योग  
पढ़ाने वाले अध्यापक से ( वायवे वायुबद्धगत्यादिसिद्धये  
यद्वावाति प्रापयति योगवलेन व्यवहारानिति वायुर्योगविचक्ष-  
णस्तस्मै तादृश सम्पत्ताय ) पवन के तुल्य योगसिद्धि को  
पाने के लिये अथवा योगबल से चराचर की प्राप्ति

के लिये ( उपयामगृहीतोसि योगस्य धमनियमांगैः सह स्वीकृतोसि ) योग के यम नियमों के साथ स्वीकार किया गया है। ( हे भगवन् योगाध्यापक ) हे योगाध्यापक भगवन् ( पपः ते तव ) आप का ( अर्थ ) यह ( योगः ) योग ( योनिः सर्वदुःखनिवारकं गृहभिवास्ति ) सर्व दुःखों के निवारण करने वाले घर के समान है ( इन्द्रवायुभ्यां त्वा विद्युत्प्राणाभ्यामिव ) विजुली और प्राण वायुके समान ( योगाकर्णेनिकर्णेणाभ्यां ) योग वृद्धि सौर लमाधि चढ़ाने और उतारने की शक्तियों से ( जुष्टम् ) प्रसन्न हुये ( त्वाम् ) आप को ( तथा हे योगमर्भाण्डो ) और हे योग चाहने वाले जिज्ञासु ! ( सज्जोपोभ्यां त्वा जोगसा सेवने सह वर्त्तमानाभ्यामुक्त गुणाभ्यां ) सेवन किये हुये उक्त गुणों से ( जुष्टम् ) प्रसन्न हुवे ( त्वाँ च ) तुम को ( अहं वशिम ) मैं अपने सुख के लिये चाहता हूँ ।

( भावार्थ ) वे ही लोग पूर्ण योगी और शुद्ध हो सकते हैं जो कि योग विद्याभ्यास करके ईश्वर से लेके पृथिवी पर्यन्त पदार्थों को साक्षात् करने का यत्न किया करते और यम नियमादि साधनों से युक्त योग में रम रहे हैं और जो इन सिद्धियोंका सेवन करते हैं, वे भी इस योग सिद्धि को प्राप्त होते हैं, अन्य नहीं ॥

इस मन्त्र में चार उगादेश हैं—

( १ ) प्रथम तो यह कि योग विद्या को जिज्ञासु को सदैव पूर्ण विश्वास रखना चाहिये कि ईश्वरने हमारे संसार व्यवहार के निर्वाहार्थ सब प्रकार के पदार्थ हमारे जन्म के साथ ही उत्पन्न किये हैं, उन के निमित्त कभी शोक, सन्ताप चिंता आदि न करे, किन्तु उपर्जन का प्रयत्न सन्तोष के साथ करता रहे ।

( २ ) इसरा यह कि ईश्वर से लेफ्ट सामूहिक चराचर जनते के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करे ॥

( ३ ) यम नियमादि योगाँगों तथा अन्य विविध साधनों का यथावत् सेवन करता रहे ॥

( ४ ) औथा यह कि योग सिद्ध पुरुषों का संग और सेवन किये विना यह विद्या सिद्ध नहीं होती, क्योंकि यह शुभलक्ष्य विद्या है, इसमें विद्वानों के संग तथा उन की सेवा और प्रसन्नता की आवश्यकता है ॥

ओं—त्रीरोचना दिव्या धारयन्त हिरण्यमया: शुचयो धारपूताः । अस्वज्ञो अनिमिपा अदव्या उरुशंसा ऋज्वे मत्यायि । अ०० अ०२ । अ०७ । व०७ । म०२ । अ०३ ।  
स०२७ । मन्त्र ६ ॥

अर्थ—( ये ) जां लोग ( हिरण्यमया: ) तेजस्वी हैं ( धारपूताः ) और जिनकी बारही उत्तम विद्या और शिक्षा से पवित्र हुई है वे ( शुचयः ) शुद्ध पवित्र ( उरुशंसाः ) वहुत पशंसा वाले अस्वप्नजः ) अविद्यारूप निद्रा से रहित विद्या के व्यवहार में जागते हुवे ( अनिमिपाः ) निमेप अर्थात् आलस्य रहित ( अदव्या ) हिंसा करने के अयोग्य अर्थात् रक्षणीय विद्वान लोग ( ऋज्वे ] सरल स्वभाव वाले [ मत्यायि ] मनुष्य के लिये [ त्री ] तीन प्रकारके [ विद्या ] शुद्ध दिव्य [ रोचना ] स्वचियोग्य ज्ञान वा पदार्थों का [ धारयन्त ] धारण करते हैं [ ते जगत्कल्याणकराः स्तुः] वे जगत् के कल्याण करने वाले हों

[ भावार्थ ] जो मनुष्य, जीव, प्रकृति और परमेश्वर की सीन प्रकार की विद्या को धारण करके दुसरों को देते हैं और सद को अविद्या रूप निद्रा से उठाने के विद्या में लगाते हैं वे मनुष्यों के मंगल करने वाले होते हैं ॥

अर्थात् मन्त्रोक्त तीन प्रकार की विद्या को जानकर अन्यों  
को भी उस का उपदेश करनारूप कल्याणकारी कर्म जीव का  
मुख्य कर्तव्य है ॥

ओम्-श्राधग्न्यसिवृहृदिवोरशाणोविश्वेभिर्गन्त्वोषभिं-  
हुवानः । इन वरान् ओषधीरमूष्प्रस्त्रधातुशृंगो वृषभो  
वयोधाः ॥

ऋ० अ० ४ । अ० २ । च० २२ । म० ५ । अ० ३ । स० ४३ । म० १३

अर्थ—(हे विद्वान् तथा हेविद्वन् । जैसे (धर्मासि:) धारण  
करने वाला (वृहृदिवः) वज्रे प्रकाश का (रशाणः) दान करता  
हुआ (विश्वेभिः ओमभिः संपूर्ण) रक्षण आदि के बरने  
वालों के साथ ( हुवानः ) ग्रहण करता हुआ और  
(इनः) चालियों को (वसानः) आच्छादित करता हुआ (ओ-  
षधीः) सोमलता आदि ब्रौजधियों का (अमृष्मः) नहीं नाश  
करने वाला (विधातुशृण्गः) तीन धातु अर्थात् शुक्र, छष्ण, रज  
गुण शृण्गों के सदृश जिसके हैं और (वयोधाः) सुन्दर आयु  
को धारण करने वाला ( सूर्यंजिगदुपकारी ) वृष्टिकारक सूर्य  
संसार का उपकारी (वर्त्तते) हैं (तथैवभवान् जगदुपकाराय)  
वैसे ही आप संसार के उपकार के लिये ( आगन्तु ) उत्तम  
प्रकार प्राप्त हूजिये ।

(भावार्थ) जो विद्वान् तीन गुणों से युक्त प्रकृति के जानने,  
वार्षी के जनाने, नहीं हिंसा करने, औषधों से रोगों को नि-  
चारने, और ब्रह्मचर्य आदि के बोध से अवस्था के बढ़ाने वाले  
होते हैं, वे ही संसार के पूज्य होते हैं । अर्थात् मन्त्रोक्त गुणों  
से संयुक्त होने का उपाय करके अपनी तथा अन्यों की उन्नति  
सबको करनी चाहिये ।

ओम्-शूरेवन्तु नो वृपणः पर्वतासो ध्रुवक्षेमास  
इलया मदन्तः । आदित्यैर्नौ अदितिः शृणोति यच्छन्तु  
नो महतः शर्म भद्रम् ॥

अमृत-अमृते । अमृते । अमृते । अमृते । सूर्यपृष्ठ । मं० ६०

अर्थ—( हे विद्वांसः ) हे विद्वानो ( भधन्तः ) आप लोग ( इलयाहृडया ) प्रशंसित वाणी के ( सद्वचन्त मानान् ) साथ धर्त्तमान ( नःअस्मान् कीर्तिमतः ) हम कीर्तिमान् लोगों की स्तुतिमय प्रार्थना को ( शृणेवन्तु ) सुनिये ( वृपणः ) वृष्टि करने वाले और ( ध्रुवक्षेमासः ) निश्चित इक्षा करने वाले मेघों के ( पर्वतासः इवश्रात्मान् ) समान हमारी ( मदन्तः उन्नयन्तु ) प्रसन्न होते हुये आप चृद्धि [उन्नतिः] कीजिये ( आदित्यःसह ) विद्वानों के साथ ( अदितिः नः ) माता हम लोगों को ( शृणोतु ) सुने ( महतः ) मनुष्य लोग अथवा प्राणादि पवनं ( नः ) हम लोगों के लिये ( भद्रं ) कल्याण करने वाले ( शर्म ) श्रेष्ठ शृह के सदृश सुख को ( यच्छन्तु ) देवें ।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सब प्राणियों से प्रथम उत्तम शिक्षा, तेदनन्तर विद्या, पुनः सत्सङ्ग से कल्यणकारक आचरण, उत्तम वातों का श्रवण और जपदेश कर के सबके योग्य अर्थात् भोजन, आच्छादन के निर्वाह और कल्याण को सिद्ध करें ।

## उपास्यदेव कौन है ?

ओ—वीरस्य तु स्वेशव्यं जनासः प्रनु वोचाम विदुरस्य  
द्वाः । पोढा युक्ताः पञ्चपञ्चावहन्ति महद्वेवानामसुरत्व-  
मेकम् ॥ १८ ॥

अङ्ग० अ० ३ । अ० ३ । व० ३१ । म० ३ । अ०५ । स० ५५ । मंत्र१८

अर्थः—( हे जनासः ) हे चिदाश्रो मैं प्रकट हुये पुरुषो !  
 ( वयम् ) हम ( अस्य ) इस ( वोरस्य ) शौरीदि गुणों को प्राप्त  
 हुये शूर को ( स्वश्वयं ) अति उत्तम अश्वविषयक अच्छे वचन  
 का ( तु ) शीघ्र ( प्रवोचाम ) उपदेश देवें ( ये युक्ताः ) जो  
 संयुक्त हुये ( देवाः ) विद्वान् जन ( देवानाम् ) विद्वानों मैं ( म-  
 हत् ) वडे ( एकम् ) एक ( असुरत्वं ) दोषों के दूर करने के  
 लिये ( विदुः ) जानते और ( येवोदा ) जो छः प्रकार की ( यु-  
 काः ) संयुक्त इन्दियाँ और ( पञ्च पञ्च ) पांच २ प्राण ( यत् आ  
 वहन्ति ) जिस विषय को प्राप्त होते हैं ( तत् विदुः तान् प्रति  
 वयम् पतत् ब्रह्म ) उस को भी जानते हैं उन के प्रति हम लोग  
 इस व्रह्म का ( तु ) शीघ्र ( वोचाम ) उपदेश देवें ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जिसकी प्राप्ति मैं पांच प्राण निमि-  
 त्त और जिसको सब योगी लोग समाधि से जानते हैं उसी  
 की उपासना भूत्यों के वीरत्व को उत्पन्न करने वालों है, ऐसा  
 हम उपदेश देवें ।

ओं—निवेदेति पलितो दूतश्चास्वन्तर्मर्शरतिरोचनेन ।

वर्पूषि विभूदभि नो विचष्टे । मद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥

अङ्ग० अ० ३ । अ० ३ । व० २४ । म० ३ । अ०५ । स० ५५ । मंत्र१९ ।

अर्थ—[हे मनुष्याः] हे मनुष्यो ! [यः] जो [जगदीश्वर]  
 जगदीश्वर [आसु] इन प्रजाओं के [अन्तः] भीतर [निवेदेति]  
 अत्यन्त व्याप्त है [ पलितः ] इवेत केशों से युक्त [ दूतः इव ]  
 समाचार देने वाले दूत के समान [ महान् ] व्याप्त होकर [ रो  
 चनेन ] अपने प्रकाश से [ चरति ] प्राप्त होता है [ वर्पूषि ] रूपों  
 को [ विभूत् ] धारण करता हुआ [ नः ] हम लोगों को [ अभि ]  
 सन्मुख होकर [ विचष्टे ] विशेष करके उपदेश देता है [ तत् ]

एव ] वही [ देवानाम् ] दिव्यगुणों पृथिवी, सूर्य, जीव आदि  
दिव्य [ उत्तम ] पदार्थों तथा विद्वानोंके मध्य में [ अल्लाकर्म ]  
हम लोगों का [ एकम् अद्वितीयम् असहायं चेतनमात्रं तेजः  
स्वरूपं ब्रह्म ] केवल एक अद्वितीय, लहानरहित, चेतनमात्र,  
तेज स्वरूप, परब्रह्म परमात्मा [ अखुरत्वम् यत् असुषु प्राणेषु  
रमते तत् प्राणाधारम् । अस्यति प्रक्षिपति दूरीकरोति सर्वाश्चि  
दुःखानि तत् सर्वेषां दुःखानां प्रक्षेप्तु । ] प्राणों में रमण करने  
वाला, प्राणाधार तथा समस्त दुःखों को दूर करनेवाला [ महत्  
सर्वेभ्या ब्रह्मपूज्यं सत्कर्तुर्हर्वम् अस्ति ] सब से बड़ा, पूजनीय  
और सत्कार करने योग्य है ।

**भावार्थ—**—हे मनुष्यो जो जगदीशनर योगियों को बायु के द्वारा  
बुद्ध दूत के सदृश दूर देश में वर्तमान समाचार वा पदार्थों  
को जानता है और अन्तर्यामी हुआ अपने प्रकाश से सब को  
प्रकाशित करता है और जीवों के कर्मों को जान कर फलों  
को देता है, अन्तःकरण में वर्तमान हुआ न्याय और अन्याय  
करने और न करने को चिताता है । वही हम लोगों को भूति-  
शश पूजा करने योग्य ब्रह्म बस्तु है । आपलीं भी ऐसा जानें ।

### मनुष्याः कल्योपासनं कुरुरित्याह

मनुष्य किस की उपासना करें, यह विषय अगले मन्त्र में  
कहा है ।

**ओ—**यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्युद्देवा देवस्य महिमानमो-  
जसा । यः पार्थिवानि विमये स एतशो रजाथेऽसि देवः  
सविता महित्वना ॥ यजु० अ० १६ षं० दृ

**अर्थ—**—हे योगी पुरुषो ! तुम को चाहिये कि (यस्य) जिस  
(देवस्य) सब सुख देने हारे ईश्वर के (महिमानं) स्तुति  
विषय को (प्रयाणम्) कि जिस से सब सुख प्राप्त होते (अनु)

उस के पीछे ( अन्ये ) जीवादि और ( देवाः ) विद्वान् लोग  
 ( यतुः ) प्राप्त हों ( यः ) जो ( पतशः ) सब जगत में अप-  
 नी व्याप्ति से प्राप्त हुआ ( सविता ) सब जगत का रचने हारण  
 ( देवः ) शुद्धस्वरूप भगवान् ( महित्वना ) अपनी महिमा  
 और [ ओजसा ] पराक्रम से [ पर्याधानि ] पृथिवी पर ग्र-  
 सिद्ध [ रजांसि ] सब लोकों को [ किममे ] विमानादि यानों  
 के समान रचता है । [ इत् ] उसे ही निरन्तर उपासनीय  
 मानो ।

**भावार्थ—**जो विद्वान् लोग सब जगत के बीच २ पोल में  
 अपने अनन्त वत्त से धारण करने, रचने और सुख देने हारे,  
 शुद्ध, सर्वशक्तिमान, सब के हृदयों में व्यापक ईश्वर की उपा-  
 सना करते हैं, वे ही सुख पाते हैं, अन्य नहाँ ॥

**अथ गृहाश्रममिच्छद्वध्यो जनेभ्यः**

**परमेश्वर एवोपास्य इत्युच्यते**

अब गृहाश्रम की इच्छा करने वालों को ईश्वर ही कीं  
 उपासना करनी चाहिये, यह उपदेश अगले मंत्र में किया है ।

ओं—यस्मान्नजातः परो अन्योऽस्ति य आविवेश भुव-  
 न्नानि विश्वा प्रजापतिः प्रजया लक्ष्मरराणस्त्रीणि ज्यो-  
 तीश्वरि सचते स शोडषी ॥ य० अ० द सं० ३६

**अर्थ—**[ यस्मात् ] जिस परमेश्वर से [ परः ]. उत्तम  
 [ अन्यः ] और दूसरा कोई [ न ], नहाँ [ जातः ] हुआ [ यः ]  
 जो परमात्मा [ विश्वा ] समस्त [ भुवनानि ] लोकों को ( आ-  
 विवेश ) व्याप्त हो रहा है [ सः ] वह ( प्रजापतिः ) संसार  
 मात्र का स्वामी परमेश्वर ( प्रजया ) सब संसार से ( सं-  
 राणः ) उत्तमदाता होता हुआ

## ‘षोडशी

	१	२	३	४	५
इच्छा ( कर्म चेष्टा वा ईक्षण ), प्राण, अद्वा, पृथिवी, जल					
७	८	९	१०	११	१२
वायु, आकाश, दशों इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य ( पराक्रम ) तप					१३
१४			१५		१६

[ धर्मानुष्ठान ], मन्त्र [ वेदविद्या ], लोक और नाम [ लोक और अलोक ये नाम अर्थात् जिस संज्ञा से संज्ञी पहिचाना जाता है। अथवा यश और कीर्ति जिस से कि सर्वत्र प्रसिद्धि होनी है ] इन सोनह कलाओं और [ त्रीणि ] सूर्य, विजली, और अग्नि इन तीन [ ज्योति ] ज्योतियों को [ सचते ] सब पदार्थों में स्थापित करता है ।

भावार्थ—गृहाश्रम की इच्छा करने वाले पुरुषों को चाहिये कि जो सर्वत्र व्याप्त, सब लोकों का रचने और धारण करने वाला, दाता, न्यायकारी, सनातन अर्थात् सदा ऐसाही बना रहता है सत्, अविनाशी, चेतन और आनन्दमय, नित्य शुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव और सब पदार्थों से अलग रहने वाला। छोटे से छोटा, बड़े से बड़ा, सर्वशक्तिमान, परमात्मा, जिस से कोई भी पदार्थ उत्तम वा जिस के समान नहीं है, उस की उपासना करें। इन १६ कलाओं के बीच में सब जगत है और परमेश्वर में अनन्त कला हैं और जीव में भी ये १६ कला हैं।

## अथ शिष्यायाद्योपककृत्यमाह

अब शिष्य के लिये पढ़ने की युक्ति अगले मन्त्र में कही है औं—अच्छन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य

( २६७ )

ददितारःस्याम् । सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो  
वरहणो मित्रोऽश्रितिः ॥ १० ॥

यजु० अ० ७ मं० १४

अर्थ—देव=हे योग विद्या चाहने वाले ! सोम=प्रशंस-  
नीय गुणयुक्त शिष्य । “ हम अध्यापक लोग ”

[ ते ] तुम्ह योग के जिज्ञासु के लिये [ सुचीर्यस्य ] जिस  
पदार्थ से शुद्ध पराक्रम यढ़े । उस के समान [ अच्छिल्लस्य ]  
अस्त्रण [ रायः ] योगविद्या से उत्पन्न हुये धन की [ पोष-  
स्य ] दृढ़ पुष्टि के [ ददितारः ] देने वाले [ स्याम् ] हैं [ प्र-  
थमा ] “ जो यह ” पहली [ विश्ववारा ] सब हीं सुखों के  
स्वीकार कराने योग्य [ संस्कृतिः ] विद्यासुशिक्षाजनित नीति  
है [ सा ] वह तेरेलिये इस जगत में सुखदायक हो और हम  
लोगों में जो [ वरहणः ] श्रेष्ठ [ अवित ] अवित के समान सब  
विद्याश्रीं से प्रकाशित अध्यापक है ( सः प्रथमः मित्रः ) वह  
सब से प्रथम ‘ तेरा ’ मित्र ‘ हो ’ ॥

भावार्थ—योगविद्या में सम्पन्न शुद्धचित्तयुक्त योगियों  
को योग्य है कि जिज्ञासुओं के लिये नित्ययोग और विद्यादान  
देकर उन्हें शारीरिक और आत्मवल से युक्त किया करें ।

## पुनरुद्यापकशिष्यकृत्यमाह ॥

फिर अध्यापक और शिष्य का कर्म अगले मन्त्र में कहा है ।

ओम्—अर्यंवामित्रावरहणा सुतः सोमश्रुतावृधा पमेदिह

श्रुतश्छहयम । उपयामजृहीतोसि मित्रावरहणाभ्यां त्वा

॥ ५ ॥ य० अ० ७ नं० ६

अर्थ-मित्रावस्थणा=भो प्रणोदानान्तिध [ वर्त्तमानी ] हे प्राण और उदान के समान वर्त्तमान [ अनुतावृथा यौ अक्षे किंशः न चर्द्यतस्तौ = सत्यविद्यानवर्द्धक योगविद्याध्यापकाच्चेतारी ] सत्यविद्यानवर्द्धक योगविद्या के पढ़ने पढ़ाने वालों [ वाम् अथम् ] तुम दोनों का यह [ सोमः = योगेश्वर्यवृन्दः ] योग के ऐश्वर्यका समूह [ सुतः = निष्पादितः “अस्ति” ] सिद्ध किया हुआ “है” [ इह = आस्मिन् योग विद्याग्रा के व्यवहारे ] इस योगविद्या के ग्रहण करने रूप व्यवहार में [ सम् हवम् = स्तुतिसमूहमें ] योगविद्या प्रसन्न से होने वाले सेरो स्तुति को [ श्रुतम् = शून्यतम् ] सुनो।

[ हे यजमान ! यस्त्वम् ] हे यजमान जिस कारण तू [ उप-यासगृहीतः ही इए असि ] अच्छे नियमों के साथ हीकार किया हुआ है [ अतोऽहम् ] इस कारण मैं [ मित्रावस्थणाभ्यां सह वर्त्तमानम् ] प्राण और उदान के साथ वर्त्तमान [ त्वा = त्वां यृह्यामि ] तुम्हाको ग्रहण करता हूँ ।

भावार्थ—मनुष्यों को इन्द्रित है कि इस योगविद्या का ग्रहण करके श्रेष्ठ पुरुषों का उपदेश सुन कर और यमनियमों को धारण कर के योगाभ्यास के साथ अपना वर्त्तय रखें ॥ ५ ॥

## पुनरध्यापकशिष्यकृत्यमाह

पुनः अध्यापक और शिष्य का कर्म अगले मन्त्र में कहा है ओं—रायावयथं सवाथं सोमदेम हव्येन देवा यव सेन गावः । तान्येतु स्मित्रावस्थणायुवन्नो विश्याहा धत्तम-नपस्तुरन्तीमेष तेयोनिर्जट्टायुभ्यान्त्वा ॥ ६ ॥

अर्थ—[ ससवांसः = हे संविभक्ताः ] हे भले तुरे के अलग २ करने वाले [ देवाः = चिद्रांसः ] [ च ] चिद्रानो ! आप और [ वयम् ] [ पुण्यस्थितिः ] हम पुरुषार्थी लोग [ व्यवसेन-अभीष्टे वृण्डुसादिना ] अभीष्ट वृण्ड वास भूसा से [ गावः इव = गवादयः पश्व इव ] गो गादि पशुओं के समान हृत्येन = राया ग्रहीत व्येन धनेन सह ] अहं करने योग्य धन से [ मदेम = हृत्येम ] हृत्यित हो और [ हे मित्र-वरणा हेग्राणवत् सखायाहुत्तमौ जनौ ] हे प्राण के समान उत्तम जनौ ! [ युधं न = युद्धां अस्मस्यम् ] तुम दोनों हमारे लिये [ विश्वाहा = सर्वार्थि दिनानि ] सर्व दिनों में [ अनप-स्फुरत्तीम् = विद्यापविद्योमित्र योगविद्याजन्यम् ] ठीक ठीक योगविद्या के शान कां देने वाली [ धेनुम् = वाचम् ] वाणी को [ धत्तम् ] धारण कीजिये [ एषः ते यानिः = हे येजमान ! यस्य एष ते विद्यावोधो योनिः अस्ति अतः ] हे यजमान ! जिस से तेरा यह विद्यावोध घर है, इस से [ ऋतायुभ्याम्-आत्मन ऋतमिच्छद्दुभ्यामिव सहितम् ] सत्य व्यवहार चाहने वालों के सहित [ त्वा = त्वां वयमादर्दीमहं ] तुझ को हम लोग स्वीकार करते हैं ।

भार्वार्थ-मनुष्यों कां चाहिये कि आपने पुढ़पार्थ और विद्रानों के संग से परोपकार की सिद्धि और कामनों को पूर्ण करने वाली वेदवाणी क्रो प्राप्त हो कर आनन्द में रहे ॥

## पुनर्येतयोः कर्त्तव्यसुपि दिश्यते ॥

फिर भी इन योगविद्या के पढ़ने पढ़ाने वालों के करने योग्य काम का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

ओं—या॒ वाङ्मा॑ भृ॒मत्यश्विना॑ सू॒नुतावती॑ तया॒ यज्ञ-

मिमित्तितम् । उपयामगृहीतोस्यश्विवभ्यान्त्वप ते यो-  
निर्माद्विभित्त्वा ॥ ७ ॥ य० अ० ७ म० ११

अर्थ—[ हे अश्विनौ ] सूर्य और चन्द्र के तुल्य प्रकाशित योग के पढ़ने पढ़ने वालो ! [ या वां मधुरती ] जो तुम्हारी प्रशंसनीय मधुरगुणयुक्त [ सञ्ज्ञावती कशा ] प्रभात समय में क्रम २ से प्रदीप होने वाली उपा के समान वाणी है [ तथा-यज्ञम् उस से ईश्वर से संग कराने हारे योगरूपी यज्ञ को ( मिमित्तितम् ) सिद्ध करना चाहो—हे योग पढ़ने वाले । तू ( उपयामगृहीतोसि ) यम् नियमादिकों से स्वीकार किया गया है [ ते ] तेहि [ पणः ] यह योग [ योनिः घर के समान सुखदायक है इस से [ अश्विवभ्यान्त्व ] प्राण और अपान के योगोचित नियमों के साथ वर्त्तमान तेरा और है योगाध्यापक [ मार्खीभ्याम् त्व ] माधुर्य लिये जो श्रेष्ठ नीति और योगरीति है, उन के साथ वर्त्तमान आप को हम लीन आर्थिक करते हैं, अर्थात् समीपस्थ होते हैं ।

भावार्थ—योगी लोग मधुर प्यारी वाणी से योग सीखने वालों को उपदेश करें और अपनों सर्वस्व योग ही को जानें तथा अन्य मनुष्य वैसे योगी का सदा आश्रय किया करें ।

## अथ योगिगुणा उपदिश्यन्ते ॥

फिर भी आगले मंत्र में योगी के गुणों का उपदेश किया है । ओं —तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा उयेषुतातिं वर्हिषद्यं स्वविंदम् । प्रतीचीनवृजनन्दोहसे धुनिमाशुं जयन्त-मनुयासु वर्द्दसे ॥ उपयामगृहीतोसि शएडाय त्वैष

ते योनिर्वाशतां पाद्मपमृष्टःशण्डो देवास्त्वा शुक्रपाः  
प्रणयन्त्वनाधृष्टासि ॥ ८ ॥ यजु० अ० ७ म० १२

अर्थ-[ हे योगिन् ] हे योगी ! आप [ उपयामगृहीतः  
असि ] योग के अंगों अर्थात् शौचादि नियमों के प्रहण  
करने वाले हैं [ ते ] आप का [ पपः ] यह योगयुक्तस्वभाव  
[ योनिः ] मुख का हेतु है जिस योग से आप [ अपमृष्टः ]  
अविद्यादि दोपां से अलग हुवे हैं 'तथा' [ शण्डः असि ]  
शमादिगुणयुक्त है और [ -यामु वर्द्ध से ] जिन योगक्रियाओं  
में आप वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा [ विश्वथा ] समस्त  
[ प्रत्यन्था ] प्राचीन महर्षि [ पूर्वथा ] पूर्वकाल के योगी  
[ इमथा ] और वर्तमान योगियों के समान आप उस [ ज्ञे-  
ष्टतातिम् ] अत्यन्त प्रशंनतीय [ वर्द्धपहम् ] हृदयाकाश में  
स्थिर ( स्वविद्म ) सुखलाभ करने वाले ( प्रतीचीनम् )  
अविद्यादि दोपां से प्रतिकूल होने वाले [ आशु ] शीघ्र सिद्धि  
देने वाले [ जयन्तम् ] उत्कर्ष पहुँचने वाले और ( धुनिम् )  
इन्द्रियों को कंपाने वाले ( हृजनम् ) योग बल को [ दोद्से ]  
परिपूर्ण करते हैं उस योग बल को [ शुक्रपः ] जो योग  
बीर्य योगबल की रक्षा करने हारे और [ देवः ] योगबल के  
प्रकाश से प्रकाशित योगी लोग हैं वे [ त्वा ] आप को  
[ प्रणयन्तु ] अच्छे प्रकार पहुँचावें [ सिखावें ] [ शण्डाय ]  
शमद्मादि गुण युक्त उस योगबल को प्राप्तहुई आप के लिये  
उसी योग की ( अनाधृष्टा असि ) इड्डोरता हो प्राप्त हो  
( योरताम् ) और आप उस वीरता की [ पाह ] रक्षा किजिये  
[ अनुत्व ] रक्षा को प्राप्त हुई वह वीरता आपको पालो

भावार्थ-हे योगविद्या की इच्छा करने वाले । जैसे शमदं-  
मादिगुणयुक्त पुरुष योगबल से विद्यबल की उन्नति कर

सकता है, वही अविद्यारूपी अन्धकार का विवं स करने वाली, वैसे आप को दे ॥

**उक्तयोगाबुष्टाता योगी कीदृग्भवत्तात्युपदिश्यते**

उक्त योग का अमुष्टान करने वाहा योगी कैसा होता है वह उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

**ओ—सुचीरोचीरान्प्रजन्यन्परीशभि रायस्पोपेणयजमानम्  
संजन्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रः शोचिपा  
निरस्तःशरणःशुक्रस्याधिष्ठा नमसि ॥ ६ ॥**

यजु० अ० ७ म० १३ ॥

अर्थ—सुचीरः = “हे योगिन्” श्रेष्ठ चीर के समान योगवल को प्राप्त हुवे आप ( चीरान् प्रजन्यन् ) अच्छे गुणशुक्र पुरुपों को प्रसिद्ध करते हुवे ( परीहि ) सब - जगह भ्रमण कीजिये “और इसी प्रकार” ( यजमानम् = अर्भि ) धन आदि पदार्थों को देने वाले उक्तम पुरुपों के सम्मुख ( रायस्पोपेणः संजन्मानः ) धन की पुष्टि से स गत हूजिये “और आप” ( दिवः पृथिव्या ) सूर्य और पृथिवी के शुणों के साथ ( शुक्रः = शुक्रशोचिपा ) अतिवलवान् सब को शोधने वाले । सूर्यकी दीप्ति से ( निरस्तः ) अन्यकार के समान पृथक् हुवे ही योगवल के प्रकाश से विषयवासना से छूटे हुवे ( शरणः ) शमादि गुणशुक्र ( शुक्रस्य ) अत्यन्त योगवल के ( अधिष्ठानम् ) आधार ( असि ) हैं ।

भावार्थ—शमद्भादि गुणों का आधार और योगाभ्यास में तत्पर योगीजन अपनी योगविद्या के प्रचार से योगविद्या चाहने वाला का आत्मवल बढ़ाता हुआ सब जगह सूर्य के समान प्रकाशित होता है ।

# परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये ।

अथ किमर्थं परमेश्वर उपास्यः

प्रार्थनीयश्चास्त्रतिथाह

अब किंस लिये परमेश्वर की उपासना और प्रार्थना करनी चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है—

ओम्-देव सदितः प्रसुव वज्रं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।  
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतस पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नःस्त-  
दतु ॥ १२ ॥ यजु० अ० १ १ मं० ७ ॥

**अर्थ—**( देव सदितः ) हे सत्य योगविद्या से उपासना के योन्य शुद्धज्ञान देने और सब सिद्धियों को उन्यन्त करने हारे परमेश्वर । आप ( नः ) हमारे ( भगाय यज्रं प्रसुव, अग्निल ऐश्वर्य की प्राप्ति के द्वारा सुखोंको प्रार्थना करने हारे व्यवहार को उत्पन्न कीजिये । यज्ञपतिं ) इस सुखदायक व्यवहार के रक्षक जन को ( प्रसुव उत्पन्न कीजिये ( गान्धर्वः दिव्यः केतपूः ) पृथिवी को धारण करने हारे शुद्ध गुणकर्म और स्वभावओं में उत्तम और विज्ञान से पवित्र छरने हारे आप ( नः ) हमारे ( केतम् ) विज्ञान को पुनातु पवित्र कीजिये और ( वाचस्पतिः ) सत्यविद्याओं से युक्त वेदवाणी के रक्षा करने वाले आप(नः) हमारी ( वाचं वाणी को ( स्वदतु ) स्वादिष्ट अर्थात् कोमल मधुर कीजिये ।

**मावार्य-**जो पुरुष सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त शुद्ध निर्मल वह की उपासना और योगविद्या की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं, वे सब ऐश्वर्य को प्राप्त अपने आत्मा को शुद्ध और योग-

विद्या को सिद्ध धर सकते हैं, वे सत्यवादी होने सब किया-  
आं के फलों को प्राप्त होते हैं ।

## पुनस्तमेव विषयमाह ।

फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में भी कहा है ।

ओ—इमं पो देव सवितर्यज्ञ प्रणय देवाभ्यश्चं सखि-  
विद्युत्सत्रा जितन्धनं जित्यन्त्यस्त्रजिनम्॥ ऋष्वदा स्तोभश्च समर्थ्य  
गायत्रेण रथन्तरं वृद्धगायत्रवर्त्तनि स्वाहा ॥

यजु० अ० ११ म० ६

‘अर्थ—(देव सवितः) हे सत्य कामनाओं को पूर्ण करने और  
अन्तर्यामिकृप से प्रेरणा करने हारे जगदीश्वर ! आप ( नः  
इमम् ) हमारे पीछे कहे और आगे जिसको कहेंगे उस (देवा-  
व्यम्) दिव्य विद्वान् वा दिव्य गुणों की जिस से रक्षा हो  
( सखिविदम् ) भिन्नों को जिस से प्राप्त हो ( संत्राजितम् )  
स व को जिससे जीतें ( धनजितम् ) धन को जिससे उत्तिति  
होते ( स्वर्जितम् ) सुख को जिससे बढ़ाव ऋचा स्तोमम् )  
ऋग्वेद से जिसको स्तुति हो उस [ यजम् स्वाहा प्राण्य ]  
विद्या और धर्म का संग्राम कराने हारे यह को सत्य किया  
के साथ ग्राप कीजिये [ गायत्रेण ] गायत्री आदिछन्द से  
[ गायत्रवर्त्तनि ] गायत्री आदि छन्दों की गानविद्या के [ वृहत् ]  
वडे [ रथन्तरम् ] अच्छे॒ यानो॑ से जिसके पारहों, उस मार्ग  
को [ समर्थ्य ] अच्छे॒ प्रकार बढ़ाये ।

भावार्थ—जो मनुष्य ईर्प्या द्वेष आदि दोषों को छोड़ कर  
ईश्वर के समान सब जीवों के साथ मित्रभाव रखते हैं, वे त्व-  
रूपत् को प्राप्त होते हैं ॥

## ब्रह्मविद्या का उपदेश करने की आज्ञा

अगले मन्त्र में आत्मज्ञान नाम ब्रह्मविद्याविषयक उपदेश करने की वेदोक्त आज्ञा कहते हैं॥

ओ—अच्छिद्ग्रा सूनो सहसो नो अद्य स्तोत्रभ्यो मित्र महः शर्म यच्छ । अग्नो शृणन्तमहस उरुष्योजों नपात्पु-  
भिरायसीभिः ॥ १५ ॥

ॐ अ० १ । अ० ४ । व० २४ । म० १ । अ० ११ । स० ५८ । म० ८

( अर्थ ) ( सहसः सूनो ) हे पूर्ण ब्रह्मचर्च से शारीरिक बलयुक्त और विद्या द्वारा आत्मा के बलयुक्त जन के खुत्र ( मि-  
त्रमहः अग्ने ) सब के मित्र और पूजनीय तथा अग्निवत्प्रकाश मान विद्वान् ! ( नपात् ) नीच कक्षा में न गिरने वाले पुरुष आप ( अद्य नः अंहसः पाहि ) आज अपने आत्मस्वरूप के उपदेश से हमारी पापाचरण से रक्षा कीजिये ( अच्छिद्ग्रा ) वेदभेदरहित ( शर्म ) सुखों को ( यच्छ ) कीजिये ( स्तोत्रभ्यः विद्यां प्रापय ) विद्वानों से विद्याओं की प्राप्ति कराय ( श्रण-  
न्तम् पूर्भिः आयसीभिः ऊर्जः उरुषः ) आत्मा की स्तुति के क्रत्ती को रक्षा करने में समर्थ अन्त आदि क्रियाओं से परि-  
पूर्ण और ईश्वर रचित सुवर्ण आदि भूपणों से पराक्रम के बल  
द्वारा दुःख से पृथक रखिये ।

भावार्थ—हे आत्मा और परमात्मा के जानने वाले योगी जनो ! आप लोग आत्मा और परमात्मा के उपदेश [ आत्म-  
विद्या वा ब्रह्मविद्या ] से सब मनुष्यों को दुःख से दूर कर के निरन्तर सुखी क्रियाकरो योंकि जो लोग इस आत्मविद्या में  
पुरुषार्थ करते हैं उनकी सहायता ईश्वर भी करता है । जैसा,  
अगले वेदमन्त्र में कहा है ॥

ओ—महाँ २॥इन्द्रोयऽश्रोजसा पर्जन्यो वृष्टिमां॥इ-  
व स्तोमैर्वत्सस्य वावृद्धे । उपयामगृहीतोसि महेन्द्राय त्वंपै  
ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥ १६ ॥

य० अ० ७ म० ४०

अर्थ—हे अनादि सिद्ध योगिन् । सर्वदयापी ईश्वर जो आप  
योगियों के ( उपयामगृहीतः ) (असि) [ तस्मात् ] [ वयं ] यम  
नियमादि योग के अङ्गों से स्वर्तिकार किये हुये हैं, इस कारण  
हम लोग ( महेन्द्राय ) [ त्वा ] [ उपाश्रयाभवे ] योग से प्रकट  
होने वाले अच्छे ऐश्वर्य के लिये आपका आश्रय करते हैं, ( ते-  
षः ) [ योनिः ] अतएव आप का यह योग हमारे कल्याण  
का मिमित्त है इस लिये [ महेन्द्राय त्वा वयं ध्यायेम ] मोक्ष  
करते वाले ऐश्वर्य के लिये हम लोग आप का ध्यान करते हैं  
[ यः महान् ] [ वृष्टिमान् ] [ पर्जन्य इव ] जो बड़े २ गुण कर्म  
और स्वभाव वाला वर्षने वाले मेघ के लुल्य [ वत्सस्यस्तोमैः ]  
स्तुतिकर्त्ता की स्तुतियों से, [ श्रोजसा ] अनन्तवल के साथ  
प्रकाशित होता है, उस ईश्वर को जान कर योगी [ वावृद्धे ]  
अनन्त उन्नति को प्राप्त होता है ।

भावार्थ—जैसे मेघ वर्षा समय में अपने जल के समूह से  
खब पढ़ायों को तुस करता हुआ उन्नति देता है वैसे ईश्वर  
भी योगाभ्यास करने के समय में योगाभ्यास करने वाले  
योगी पुरुष के योग को अत्यंत चढ़ाता है ॥

## गुरुशिष्य का परस्पर वर्तावि

व्रक्ष विद्या सीखने और सिखाने हारों को किस प्रकार  
परस्पर वर्ताव करना उचित है सो आगे कहते हैं ।

ओ—सह नाववृद्धु, सह नौ मुनक्कु, सहवीर्य करवावहै ।

तेजस्त्रिनावधीतमस्तु, मा निद्विषावहै ॥ १ ॥ ओरेम्  
शान्तिः शान्तिः शान्तिः । तैत्तिरीयआरण्यके नवमप्रपाठे  
के प्रथमानुवाके ॥

अर्थ—हे औंवाच्य सर्वशक्तिमन् ईश्वर ! आपकी कृपा  
रक्षा और सहाय से हम दोनों ( गुहशिष्य ) परस्पर एक  
दूसरे की रक्षा करें; हम दोनों परम प्रीति से मिले फर सद्य  
से उच्चम ऐश्वर्य के आनन्द को आप के अनुग्रह से सदा  
भोगें, हे कृपानिधे ! आप के सहाय से हम दोनों ब्रह्मविद्या  
के अभ्यास द्वारा योगवीर्य अर्थात् ब्रह्मज्ञान और मोक्षप्राप्ति-  
मूलक ज्ञामर्थ्य को पुरुषार्थ से बढ़ाते रहें, हे प्रकाशमय सद्य  
विद्या के देने वाले परमेश्वर ! आप के अनुग्रह और सामर्थ्य  
से हमारा ब्रह्मविद्या का यथावत् ज्ञान और ब्राह्मतेज सदा  
उच्चरोचर वृद्धि प्राप्त करता है । हे प्रीति के उत्पादक परमा-  
त्मन् । ऐसी कृपा कीजिये कि हम दोनों परस्पर विशेष  
कभी न करें किन्तु परस्पर प्रेम भक्ति और मित्रभाव से बर्तें ।  
और हे भगवन् ! आप अपनी करुणासे हम दोनों के तापत्रय  
को सम्यक् शान्त और निवारण कर दीजिये ॥

इस मन्त्र में जो ब्राह्मतेज ( ब्रह्मवर्चस ) की वृद्धि के लिये  
प्रार्थना की गई है, सो यही ब्रह्मतेज सद्य प्रकार के बल, परा-  
क्रम, विद्या, आयु, योग्यता और ज्ञामर्थ्य आदि प्राप्त करने  
का प्रथम उपाय है, सो यथावत् ब्रह्मवर्चय के धारण करने से  
प्राप्त होता है । जिस का साँगोपांग पालन ( सत्यार्थप्रकाश )  
के समग्र तृतीयसमुल्लासोक शिल्पा के अनुसार दरना अति  
उचित है । ब्रह्मवर्चय के धारण करने में वीर्यकी रक्षा और  
स्वाध्याय अर्थात् ब्रह्मविद्याविद्यायक वेदादि सत्य शास्त्रों का  
पठन पाठन तथा योगाभ्यास के अनुद्देश परे प्रकाशदाता

आचरणकर्ता है। अतः थोड़े से उपदेशरूप वाच्य आगे लिखते हैं।

योग सब आश्रमों में साधा जा सकता है।

स्वाध्याय नाम ऋषियक का है अर्थात् वेदादि सत्य शास्त्रों का अध्ययन अध्यापन और योगाभ्यासका अनुष्ठान, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् संध्योपासन जो स्वाध्याय का ही अंग है सो योगाभ्यास के ही अन्तर्गत है और वीर्य की रक्षा भी अद्यांगयोगान्तर्गत वीर्यकर्पक प्राणायाम के अभ्यास करने से सिद्ध होती है, अतएव इस ग्रन्थ का मुख्य विषय जो योगाभ्यास है, वही ऋषियक का प्रधान अंग है और वेदादि का पठन पाठन उसका साधन है। घट्यमाण द्वादश वाच्यों में भी यही उपदेश किया है कि सब प्रकार से सर्वदा स्वाध्याय नाम योगाभ्यास का अनुष्ठान करते रहना चाहिये। यथा—

( १ ) ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ १ ॥

( अर्थ ) ईश्वर की वेदोक्त आक्षा के पालन पूर्वक यथार्थ आचरण द्वादा योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ १ ॥

( २ ) सत्य च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ २ ॥

( अर्थ ) मन, कर्म और वचन से सत्य के आचरण द्वारा योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ २ ॥

( ३ ) तपस्यस्वाध्यायप्रवचने च ॥ ३ ॥

( अर्थ ) तपस्वी हो कर अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुये यम नियमों के सेवन पूर्वक करते रहो ॥ ३ ॥

( ४ ) दयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ४ ॥

( अर्थ ) बाह्य इन्द्रियों को दमन अर्थात् दुष्टाचरणों से रोक के योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ ४ ॥

( ५ ) शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ५ ॥

( अर्थ ) मन को शमन और शान्त करके अर्थात् चित्त को दृष्टिचौको सब प्रकार के दोधारोंसे हटाके योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ ६ ॥

( ६ ) अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ६ ॥

( अर्थ ) विद्युत् अग्नि की विद्या जानकर उस से शिल्प विद्या कलाकौशल सिद्ध करते हुवे उथा आहवनीयाग्नि, गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों में अग्निहोत्रादि यज्ञों द्वारा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वान-प्रस्थ इन तीन आथमों के नियमों का उथायोग्य पालन करते हुवे और संन्यासाश्रम में ज्ञानयज्ञ द्वारा प्राणों में प्राणों का हवन करते हुवे योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ ६ ॥

इस में अग्निष्ठोम, ज्योतिष्ठोम, आदि अश्वमेघपर्यन्त सभ यज्ञ आगये ॥

( ७ ) अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ७ ॥

( अर्थ ) अग्निहोत्रनामक नैतिक देवयज्ञ को कराते हुवे योगाभ्यास करते और कराते रही ॥ ७ ॥

( ८ ) अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ८ ॥

( अर्थ ) अतिथियों को सेवा करते हुवे योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ ८ ॥

( ९ ) मानुपं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ९ ॥

( अर्थ ) मनुष्य संवन्धी अर्थात् विवाह आदि गृहाधर्मसंवर्धी व्यवहारोंको उथा योग्य वर्तते हुवे योगाभ्यास करते और कराते रहो ॥ ९ ॥

(१०) प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ १० ॥

(अर्थ) सन्तान और राज्य का पालन करते हुये योगाभ्यास करते और करते रहो ॥ १० ॥ इस वाक्य में गृहस्थ के लिये सन्तानोत्पत्ति की आशा और राजा के लिये राज्य और प्रजा का पालन करने की आशा है, सो वेदोक ईश्वराशानुसार न्यायादि नियम पूर्वक करना चाहिये । अगले वाक्यों में ऐसा ही उपदेश है ।

(११) प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ ११ ॥

(अर्थ) वीर्यकी रक्षा और वृद्धि करते हुये योनाभ्यास करते और करते रहो ॥ ग्रहस्थ यदि छतुकालाभिगमित्व आदि नियमों के पालन पूर्वक सन्तानोत्पत्ति करे, तब भी उसका ब्रह्मचर्य और वीर्य नष्ट नहीं होता ।

(१२) प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ १२ ॥

(अर्थ) अपने सन्तान और शिष्यका पालन करते हुये योगाभ्यास करते और करते रहो ॥ १२ ॥

तैत्तिरीयोपनिषद्—शिक्षाव्याय—नवम अनुवाक ॥

(स० प्र० समू०३ पृ० ४६ ४७)

उक्त वारह उपदेशों में संसार सागर का उल्लंघन कर के मोक्ष प्राप्ति के हेतु चार प्रकार के कर्म की आशा है । अर्थात् एक योगाभ्यास, दूसरा अग्निहोत्रादि यज्ञ, तीसरा मानस फ्लानयज्ञ, चौथा ब्रह्मचर्य, ये उपदेश वेदानुकूल हैं । इन के वैदिक प्रमाण भी थोड़े से आगे लिखते हैं । उक्त उपदेशावलि से यह भी असंदिन्ध सिद्ध होता है कि मनुष्य सब देश, काल अवस्था, आश्रम और दशा में योगाभ्यास करता हुआ योगी हो सकता है । मिथ्याभ्रम है कि विना मूँड मुड़ाये, काषाय-बस्त्र धारण किये, घर बार पुत्र कलत्र धन धान्य ढोड़े, योग सिद्ध हो ही नहीं सकता ॥

## वेदोक्त तीर्थ ।

अथ मनुष्यः किं कायमित्याह

मनुष्यों को क्या करना चाहिये इस विषय का उपदेश आगे कहते हैं ।

इस मन्त्र में संसार सागर के पार करने का उपदेश है, सो उक्त २२ उपदेशों में कहे चारों प्रकार के उपाय इस एक मन्त्र में आगये हैं ॥

ओ—ये तीर्थानि प्रचरन्ति सुकाइस्ता निपंगिणः  
तेषाथ्यसहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ॥ १ ॥

( अर्थ ) [ गे सुकाइस्ताः ] हम लोग जो हाथों में [ निपंगिणः इव ] वज्र भारण किये हुवे प्रशंसित वाण और कोश से युक्त जनों के समान [ तीर्थानि प्रचरन्ति ] दुःखों से पार करने हारे वेद, आचार्य, सत्य भाषण और ब्रह्मचर्यादि अच्छे नियम अथवा जिन से समुद्रादिकों के पार उत्तरते हैं, उन नौ-का आदि तीर्थों का प्रचार करते हैं और [ तेषां ] उन के [ सहस्र योजने ] हजार योजन के देश में ( धन्वानि अवतन्मसि ] शस्त्रों को विस्तृत करते हैं ॥

( भावार्थ, मनुष्यों के दो प्रकार के तीर्थ होते हैं । उन में पहिले तो वे जो ब्रह्मचर्य, गुरु की सेवा, वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, पढ़ाना, सत्सङ्ग, ईम्बर की उपासना और सत्यभाषण आदि दुःख सागर से मनुष्यों को पार करते हैं और दूसरे वे-जिन से समुद्रादि जलाशयों के इस पार उस पार आने जाने को समर्थ हो । योगाभ्यास विषयक वेदोक्त ईश्वर की आङ्ग ग्रथम लिख चुके हैं । अतः अग्निहोत्र विषय भन्त आगे लिखते हैं । अग्निहोत्रादि यह संन्यासाश्रम से अतिरिक्त तीन आश्रमों में कर्त्तव्य धर्म है ॥

ओं—समिधाग्निं दुवस्यत वृत्तैर्वेद्ययतातिथिम् ।  
आस्मिन्हव्या जुहोतन ॥ १ ॥

यजु० अ० ३ मं० १ ( भ० प० २४६-२४७ )

अर्थ—[ समिधा धृतैः ] हे विद्वान् लोगो ! तुम लोग धार्य औषधि और वर्षाजल की शुद्धि से सब के उपकार के अर्थ जिन इन्धनों से अच्छे प्रकार प्रकाश हो सकता है उन धृतादि शुद्ध वस्तुओं और समिधा अर्थात् आग्र वा ढाक आदि काष्ठों से [ अग्नि ] भौतिक अग्नि को [ वोधत ] नित्य प्रकाशमान करो [ तम अतिथि इव दुवस्यत ] उस अग्नि का अतिथि के समान सेवन करो अर्थात् जैसे उस सन्न्यासी का कि जिसके आने जाने वा निवास का कोई दिन नियत नहीं है, सेवन करते हैं, वैसे उस अतिथि रूप अग्नि का सेवन करो और [ अस्मिन् ] उस अग्नि में [ हव्या आ जुहोतन ] होम करने योग्य जो चार प्रकार के साकल्य हैं ( अर्थात् ( १ ) पुष्ट-वृत दुर्घ आदि ( २ ) मिष्ट शर्करा, गुड़ आदि, [ ३ ] सुगन्धित केशर कस्तूरी आदि [ ४ ] रोग नाशक—सोमलता अर्थात् गुडूची आदि औषधि उन को अच्छे प्रकार हवन करो ॥

भावार्थ—जैसे गृहस्थ मनुष्य आसन, आश्र, जल, वस्त्र और प्रिय बचन आदि से उत्तम गुण वाले सन्न्यासी आदिका सेवन करते हैं वैसे ही विद्वान् लोगों को यज्ञ, वेदी, कलायन्त्र और यानोंमें स्थापन कर यथा योग्य ईंधन, धी, जलादि से अग्नि को प्रबलित करके वायु वर्षा, जल की शुद्धि वा यानों की रक्षा नित्य करनी चाहिये ॥

अब अग्निहोत्र का फल आगे कहते हैं

सायं सायं एहपतिनों अग्निः प्रातः प्रातः सौमनस्य-  
दाता । वसोर्वसोर्वसुदान एधिवयं त्वेन्धानास्तन्वं पुष्पेम ६

प्रातः प्रातर्गद्यपतिनों अग्निः सायं सायं सौमनस्य-  
दाता। वसोवैसोवैसुदान एधीन्वानास्त्वा शतं हिमा ऋषेष्व॒  
अथर्वे का० १६ अनु०७ मं० ३ । ४ । ( भू० पू० ६४६-२४८ )

अर्थ—प्रतिदिन सायंकाल में भ्रेष्टु उपासना को ग्रास यह  
यृहपति अर्थात् धर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि  
और परमेश्वर आने वाले प्रातःकाल पर्यन्त आरोग्य आनन्द  
और वसु अर्थात् धनका देने वाला है, इसी से परमेश्वर धन  
दाता प्रसिद्ध है । हे परमेश्वर ! आप मेरे राज्य पेश्वर्य आदि  
व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित रहो । हे परमेश्वर !  
जैसे पूर्वोक्त प्रकार से हम आप का मान करते हुवे अपने शै-  
रीर से पुष्ट होते हैं, वैसे ही भौतिक अग्नि को भी प्रज्वलित  
करते हुवे पुष्ट हो ॥

( प्रातः प्रातः ) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्रके तुल्य आने  
परन्तु इस में इतना अन्तर है कि जैसे प्रथम मन्त्र के आरम्भ  
के वाक्य का यह अर्थ है कि सायंकाल में किया हुआ अग्नि-  
होत्र प्रातःकाल पर्यन्त आरोग्यादि की दृढ़ि करने वाला है,  
जैसे ही इस मन्त्र के प्रथम वाक्य का यह अर्थ है कि प्रातः-  
काल में किया हुआ होम सायंकाल पर्यन्त उस उत्कृष्ट सुखों  
का दाता है और दूसरे वाक्य का यह अर्थ है कि भौतिक  
अग्नि तथा ईश्वर की उपासना करते हुवे हम लोग सौ हेमन्त  
ऋषु व्यतीत होजाने पर्यन्त अर्थात् सौ वर्ष तक धनादि पदा-  
यों से पृद्धि को ग्रास हो ।

अभिप्राय यह है कि प्रथम मन्त्रमें सायंकाल में अग्निहोत्र  
करने का और दूसरे में प्रातःकाल में अग्निहोत्र करने का  
फल कहा है । अर्थात् जो संध्याकाल में होम होता है, वह  
हुतद्रव्य प्रातःकाल तक वायु शुद्धि द्वारा सुखकारी होता है,  
और जो अग्नि में प्रातःकाल में होम किया जाता है वह हुत-

द्वय यात्राकाल पर्यन्त वायु की शुद्धि द्वारा घल, शुद्धि और आरोग्यकारक होता है। इसी लिये दिन रात्रि की सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान (ध्यानयोग द्वारा उपासना) और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये।

### मानसद्वानयज्ञ ।

अगले वेदमन्त्र में यह जताया गया है कि पाकशाला में बने वा अन्य उसम पदार्थ का भोजन शृहस्थ को अग्निहोत्र में विना होम किये ग्रहण न करना चाहिये किन्तु संन्यासी योगी दधि मधु वृनाश्रादि भोज्य एवार्थों का भोजन भौतिकाग्नि में हवन किये विना भी कर सकते हैं पर्योक्ति वे प्राणग्नि में प्राणाश्रामादि योगक्रियाओं द्वारा महान् तपोनुष्ठान रूप होम सदैव किया करते हैं। इस प्रकार प्राणों में प्राणों का हवन करने हारे तपस्ची तथा ईश्वरग्नि के श्रेष्ठ उपासक निरग्नि कहते हैं, क्योंकि भौतिक अग्निद्वारा यज्ञादि कर्मों का उलझन करके वे केवल ज्ञान और विज्ञानकारण के अधिकारी हो जाते हैं। उनसे कर्मकारण छूट जाता है।

आगे मानसद्वानयज्ञ, विषयक वेदमन्त्र लिखते हैं। इसकी को यथार्थ ध्यानयोग, उपासनायोग, योगभ्यास, व्रह्मविद्या विज्ञानयोग आदि जानो।

ओ—यत्पुरुषेण द्विपा देवा यज्ञयत्न्वत् । वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्यः शरद्दावः ॥ यजु० अ० ३ १५० १४

अर्थ—( हे मनुष्यो ! हे मनुष्यो ( यत् ) जब ( द्विपा ) ग्रहण करने योग ( पुरुषेण सह ) पूर्ण एवमात्मा के साथ ( देवाः ) विद्वान् लोग ( यज्ञं ) मानस-शानवश को ( अतन्वन ) विस्तृत करते हैं ( तदा ) तब ( अस्य ) इस यज्ञ का ( वसन्तः )

पूर्वाह्नि काल ही ( आज्यम् ) धी है ( ग्रीष्मः इधमः ) मध्याह्नि काल इन्धन प्रकाशक है ( शरत् ) और आवीरात ( हविः ) नाम होमने योग्य पदार्थ ( आसीद् ) है ( इति यूर्यं विजानीत ) ऐसा तुम लोग जानो ।

**भावार्थ—** जब धार्षा सामग्री के अभाव में विद्वान् लोग स्मृष्टिकर्ता ईश्वर की उपासनारूप मानस यज्ञ को विस्तृत करें तब पूर्वाह्नि आदि काल ही साधनरूप से कल्पना चाहिये ।

‘तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्यादि वानप्रस्थान्त तीनों आश्रम सुष्टुतया समाप्त करके चतुर्थाश्रम में संन्यासी उपासकों को अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं रहनी, वहाँ मरुयतया मानस यज्ञ का ही अनुष्ठान रहता है, अतः उनके लिये काल ही सामग्रीरूप साधन है ।

**ओम्—सप्तास्त्वासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधःकृताः ।**

, देवा यथाह्नं तन्वाना अवधनन्तुरुर्धं पशुग् ॥२॥

यजु० अ० ३१ मं० १५

**अर्थ—** हे मनुष्यो ( चत् ) जिस ( यह्नं ) मानस शान्मय यज्ञ को ( तन्वाना ) विस्तृत करते हुये ( देवा ) चिद्वान् लोग ( पशुम् ) जानने योग्य ( पुरुषं ) परमात्मा को ( हवि ) हृदय में ( अवधन् ) चांचते हैं ( तस्य ) उस यज्ञ के ( अस्य सप्तपरिधयः ) सातगायत्री आदि छन्द ( आसन् ) चारों ओर से सूत के सात लयेन के समान हैं ( विसप्त समिधः कृतः ) ( ७ × ३ ) इक्कीस अर्थात् प्रकृति, महत्त्व, आहंकार, पाँच सूक्ष्म भूत, पाँच स्थूलभूत, पाँच शावेन्द्रिय, और सत्त्व रजस् तमस तीन गुण ये समग्री रूप किये ( तम् ) उस यज्ञ की ( यथावत् ) यथावत् ( विजानीत ) जानो ।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम लोग इस अनेक प्रकार से कलिपत परिधि आदि सामग्री से युक्त मानसयुक्त को करके उससे पूर्ण ईश्वर को जानके सब प्रयोजनों को सिद्ध करो ॥

ओ—स घा यस्ते ददाशति समिधा जातवेद से । सो अग्ने धत्ते सुवीर्यं स पुण्यति ॥

अ०० अ० ३। अ० १। व० ७। मं० ३। अ० १। द० १० मन्त्र । ३।

आर्थ—( हे. अग्ने ! ) हे सब के प्रकाशक जन । ( यः ) जो (समिधा) सम्यक् प्रकाशक इन्धन वा विद्वानसे ( जातवेद् से ते = आत्मानं = ददाशति ) उत्पन्न हुवे पदार्थों में विद्यामान वा वृद्धि को प्राप्त हुवे आप के लिये ( आत्मा ) अपने स्वरूप को देता अर्थात् प्राप्त कराता है ( सः घ. सुवीर्यम् धत्ते ) वह ही सुन्दर विद्वानादि धन घा पराक्रम को धारण करता है ( सः ) वह सब ओर से ( पुण्यति ) पुण्य होता है ( स! ) और वह ( अन्यान् पोपयति च ) दूसरों को पुण्य करता है ॥

भावर्थ—जैसे प्राणी-अश्चि मैं घृतादि उत्तम द्रव्य का होम कर वायु आदि की शुद्धि होने से सब आनन्द को प्राप्त होते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग परमात्मा मैं अपने आत्मा का समर्पण कर समस्त सुखों को प्राप्त होते हैं ।

ओ—ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानांश्संवत्सरीणपृष्ठाग-  
भासते । अहुतादो ईविषो यज्ञेऽन्नस्मिन्त्स्वयम्पिवन्तु  
मधुनो घृतस्य ॥ यजु० अ० १७ । मं० १३ ।

आर्थ—[ ये देवानां मध्ये अहुतादः देवः ] जो विद्वानों के चीच मैं विना हृचन किये हुवे पदार्थ का भोजन करने हारे विद्वान् वा [ यज्ञियाना मध्ये ] यज्ञ करने मैं कुशल पुरुषों मैं यज्ञियः ] विद्वान्सः ] योगाभ्यासादि यज्ञ के योग्य विद्वान्

लोग [ संवत्सरीणम् ] वर्षभर पुष्ट किये [ भागम् ] सेवने योग्य उत्तम परमात्मा की [ उप आसते-उपासते ] उपासना करते हैं [ ते ] वे [ अस्तिन् ] इस [ यहै ] समागम लघ यह मैं [ मधनः ] सहन [ घृतस्य ] [ घृत वा जल [ एविपः ] और हृबन के योग्य पदार्थों के भाग को [ स्वयम् पिबन्तु ] अपने आप सेवन करें ॥

भावार्थ—जो विद्वान् लोग इस संसार में अग्रिकिया से रहित अर्थात् आहवनीय; गार्हपत्य और दक्षिणांत्रि सम्बन्धी वाह्य कर्मों को छोड़ के आभ्यन्तर अविनिको धारण करने वाले संन्यासी हैं, वे विना होम किये भोजन करते हुवे लर्वं च विचार के लब मनुष्यों को वेदार्थ का उपदेश किया करें।

### ब्रह्मचर्य

आगे ब्रह्मचर्यविपर्यक वेदमन्त्र लिखते हैं ॥

ओ—ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्ण वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः । स सद्य एति पूर्वस्मादुचरं समुद्रं लोकान्तसंगृभ्य मुहुराचरिक्त ॥

अथर्व० का० ११ अनु० ३ मं० ६ [ भ० प० २३७ ]

अर्थ—[ ब्रह्मचारी ] जो ब्रह्मचारी होता है वही [ समिधा ] विद्या और तप से [ समिद्धः ] अपने ह्यान को प्रकाशित [ कार्ष्ण वसानः ] और सूरचर्म को धारण करके [ दीर्घश्मश्रुः ] घड़े के श्मशुश्रौ से युक्त [ दीक्षितः सन् ] और दीक्षा को प्राप्त होके [ परमानन्दम् एति ] जो परमानन्द को प्राप्त होता है [ सः पूर्वस्मात् उत्तरं समुद्रं सद्यः पति ] वह विद्या को अद्वाण कर के पूर्व समुद्र जो ब्रह्मचर्योथम का अनुष्ठान है उस के पार उत्तरके समुद्रस्वरूप गृहाश्रम को शीघ्रही प्राप्त होता है [ पवं ] इस प्रकार [ निवासयोग्यान् सर्वान् लोकाम् ]

विद्या का संग्रह कर के निवासयोग्य सब लोकों को [ भूम्य-  
भ्यः ] प्राप्त होकर जगत् में अपने धर्मोंपदेश का विचारपूर्वक [ सुहुः ] वारंवार [ आव्विक्त् ] प्रचार करता है अर्थात् अपने धर्मोंपदेश का ही सौभाग्य बढ़ाता है ॥

ओ—ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मा यो लोकं प्रजापति परमेष्ठि-  
नं विराजम् । गर्भो भूलाऽमृतस्य योनाविन्द्रोह  
भूत्वाऽसुरस्तर्ह ॥ २ ॥

अर्थात् कां० ११ अनु० ३ मं० ७ [ भू० पृ० २५८ ]

अर्थ—[ सः ब्रह्मन्नारी ] वह ब्रह्मचारी [ ब्रह्म = वेदविद्या, पठन् ] वेदविद्या को पढ़ता हुआ [ शपः = प्राणान् ] प्राणविद्या = योगाभ्यास वा ब्रह्मविद्या लोकं = दर्शनम् ] पद्मदर्शनविद्या = चैदिक फिलासफी [ परमेष्ठिनं प्रजापतिम् ] सब से बड़े प्रजानाथ और [ विराजम् विविधप्रकाशकम् परमेश्वरम् ] विविध चराचर जगत् के प्रकाशक परमेश्वर को [ जनयन् = प्रकटयन् ] जानता और जनता हुआ [ आमृतस्य भोक्त्यस्य योनौ = विद्यायाम् ] भोक्त्यमार्गप्रकाशक ब्रह्मविद्या के अवश्य करने के लिये [ गर्भोभूत्वा = गर्भवत्त्वमेन स्थित्वा यथावद्विद्यां गृहीत्वा ] गर्भवत् नियमपूर्वक स्थित हो कर यथावत् विद्योपार्जन कर के [ इन्द्रोहभूत्व = सूर्यवत्प्रकाशकः सन् ] सूर्यवत्प्रकाशक अर्थात् पेशवर्ययुक्त होकर [ असुरान् = दुष्टकर्मकारिणोमूर्खान्पात्तिरिडनोजनान् दैत्यरक्षःस्वभावान् ] असुरों अर्थात् दुष्टकर्म करने हारे मूर्खों, पात्तिरिडयों और दैत्य तथा राक्षसों के से स्वभाव घाले जनों को [ ततर्ह = तिरस्करोति सर्वान्नि वारयति ] तिरस्कार करता है अर्थात् उन सब का निवारण करता है वा उनकी अविद्या का छेदन कर देता है ॥

[ यथेन्द्रःख्योऽसुराःमेघान् रात्रिंशंच निवारयति तथैव  
ब्रह्मचारी सर्वशुभगुणप्रकाशकोःशुभगुणनाशकश्च भवतीति ]  
यथा इन्द्र नाम सं॒र्य असुरो मेघो वृद्धासुर का और राजि का  
निवारण कर देता है, वैसे ही ब्रह्मचारी सर्व शुभगुणों का  
प्रकाश करने वाला और अशुभगुणों का नाश करने वाला  
होता है ॥ २ ॥

ओ—ब्रह्मचर्येण तपसा देवा प्रत्युषुपाघनत् । इन्द्रोह  
ब्रह्मचर्येण देवेभ्यःस्वराभरत् ॥ ३ ॥

अथर्व० का० ११ अनु० ३ मं० १४ ( भ० प० २३० )

अर्थ—( देवाः विद्वान्सः ) विद्वान् लोग ( ब्रह्मचर्येण = देवाद्य-  
ध्ययनेन ब्रह्म विज्ञानेन ) वेदाध्ययन पूर्वक ब्रह्म विज्ञान ( आत्म-  
विज्ञान ) का प्राप्त होकर ( तपसा धर्मानुष्ठानेन च ) और धर्मा-  
नुष्ठानसे ( मृत्युं = जन्मसृत्युप्रभवतुःस्वम् ) जन्ममरणजन्य दुःख  
का ( उपाघत = नित्यं झान्त नान्यथा ) नित्य नाश करते हैं,  
अर्थात् दस को जीत कर मोक्ष सुख को प्राप्त हो जाते हैं क्यों  
कि मुक्त होने का अन्य कोई उपाय नहीं ( यथा ब्रह्मचर्येण =  
मुनियमेन ] जैसे परमेश्वर के नियम मे स्थित होके ( इन्द्रोह  
मूर्यः ) सूर्य ( देवेभ्यः = इन्द्रियेभ्यः ) सब लोकोंके लिये स्वः  
सुखं प्रकाशं च ) सुख और प्रकाश को ( आभरत् = धारयति)  
धारण करता है [ तथा विना ब्रह्मचर्येण कस्यापि नैव विद्या  
सुखं च यथावद्वति अतो ब्रह्मचर्यानुष्ठानपूर्वकाएव गृहाश्रमाः  
द्यस्त्वयआथमाः सुखमेधन्ते अन्यथा मूलाभावे कुतःग्रासाः  
किन्तु मूले उठे शाखा पुण्यफलच्छ्रायादयः सिद्धा भवन्त्येवेति )  
इसीप्रकार ब्रह्मचर्यवत् यथावत् धारण किये विना किसी को  
भी ब्रह्मविद्या और मोक्ष वा सांसारिकविद्या और सुख यथा-  
वत् नहीं होता, इस लिये ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान करने वाले पु-

रुप ही शृङ्खलाधार्थमादि तीनों आश्रयमों में सुख पाते हैं, अन्यथा शूल के अभाव में शास्त्रा कहां, किन्तु जड़ दृढ़ होने से ही शास्त्रा पुण्य, फल, छाया आदि सिद्धि प्राप्त होते हैं। इन से वृक्षचर्याधर्म ही सब आश्रयमों में उत्तम है क्योंकि इस में मनुष्य का आत्मा सुर्यवत् प्रकाशित होके सब को प्रकाशित कर देना है। इस कारण योगी को वृक्षचर्य के धारण पूर्वक विद्या और शीर्ष की वृद्धि अवश्य करनी चाहित है ॥ ३ ॥ ८००—

ओ—ब्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षायामोति दक्षिणाम् ।  
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ ४ ॥

यजु० अ० १६ मन्त्र ३०

आर्थ—( यो दालकः कन्यका मनुष्यो पा ) जो दालक कन्या वा पुरुष [ ब्रतेन = सत्यभाषणशृङ्खलाचर्यादिगियमेन ] सत्यभाषण और वृक्षचर्यादि नियमों से ( दीक्षाम् = प्रस्तुत्यविद्यादिसुशिक्षाप्रशास्त्रम् ) वृक्षचर्य विद्या, सुशिक्षा आदि सत्कर्मों के आरम्भरूप दीक्षा को ( आप्नोति = प्राप्नोति प्राप्त होता है [ दीक्षा ] और दीक्षा से ( दक्षिणाम् आप्नोति प्रतिष्ठां अियं वा प्राप्नोति ) प्रतिष्ठा और धन को प्राप्त होता है [ दक्षिणा = दक्षिणाया ] ) अत्र विभक्तिलोपः ) उस प्रतिष्ठा वा धन लौ दक्षिणा से ( श्रद्धामाप्नोति = अत्सत्यं दधाति यदेव्युया ताम् श्रद्धां प्राप्नोति ) सत्य के धारण में प्रीतिरूप श्रद्धा को प्राप्त होता है ( श्रद्धाया ) उस श्रद्धा से ( सत्यम् = सत्त्व नित्येषु पदार्थेषु व्यवहारेषु वा साधुस्तं परमेश्वरं धर्मं दः आप्यते = प्राप्यते ) जो नित्य पदार्थों वा व्यवहारों में सब से उत्तम है उस परमेश्वर वा धर्मको प्राप्त करता है ( सः सुखः स्वति ), चह सुखी होता है ॥

भावर्थ—कोई भी मनुष्य विद्या, अच्छी शिक्षा और अद्वा के बिना सत्य व्यवहारों को प्राप्त होने और दुष्ट व्यवहारों के छोड़ने को समर्थ नहीं होता ॥

इस मन्त्र का अभिग्राय यह है कि जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा वरता है, तभी सत्य को जानता है। उसी सत्यमें मनुष्योंको अद्वा करनी चाहिये, असत्यमें कभी नहीं अर्थात् जो मनुष्य सत्य को छोड़ता से करता है तब दीक्षा ( उत्तम अधिकार ) के फल को प्राप्त होता है। उत्तम गुणों से युक्त होकर जब मनुष्य उत्तम अधिकार प्राप्त कर लेता है तब उस को दक्षिणा प्राप्त होती है, अर्थात् संब लोग लब प्रकार से उस धर्म निष्ठ उत्तमाधिकारी जन की सत्कीर्ति, प्रतिष्ठा और सत्कार करते हैं जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य ग्रन्तोंसे अपना और दुसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है, तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है, फिर सत्य के आचरण में लिंतनीर अद्वा वह ती जाती है उत्तमार्ह ही धर्म निष्ठानरूप सत्यमांगका गृहण और अधर्माचरण रूप असत्य का त्याग करने से मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के खुल को प्राप्त होते जाते हैं।

इस से सिद्ध हुआ कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन अद्वा और उत्तमार्ह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जांच, जिस से सत्य धर्म की वथावत् प्राप्ति हो और परिणाम में सत्य स्वरूप जो परमात्मा है, उस की प्राप्ति हारा सत्य मुख अर्थात् अवृत रूप मोक्षानन्द भी प्राप्त हो ॥ ४ ॥

**ब्रह्मविद्या का अधिकारी कौन है ?**

ब्रह्मविद्या का अधिकारी कौन हो सकता है अर्थात् कैसे मनुष्य को इस विषय का उपदेश करना चाहिये; यह विषय अंगली अनुति में कहा है ॥

ओं—ऊर्जोनपातथं सहिनायमस्पयुदर्शेमहव्यदातये ।

शुवद्राजेष्वविता भुक्तद्वृष्टउत त्रैता तनूनाम् ॥

अर्थ—( हे विद्यार्थी ! ) हे विद्यार्थी ! ( सः ) सा, आप ( ऊर्जा नपातम् हिन हितु वर्जय ) पराक्रम को और उन नष्ट करने हारे विद्या दोध की वृद्धि कीजिये ( यतः अवग् भवान् ) जिससे कि यह प्रत्यक्ष आप ( अस्मयुः वाजेयु अविता भुवत् ) हम को चाहने वाले और संत्रासों में रक्षा करने वाले होंचें, ( उत तनूना वृधे जाता भुवत् ) और शरीरों के बढ़ने के अर्थ पालन करने हारे होंचें [ ततः त्वाम् हव्यदातये वयम् दायेम ] इस से आप को देने योग्य पदार्थों के देने के लिये हम लोग स्वीकार करें ॥

भावार्थ—जो पराक्रम और चल को नष्ट न करे, शरीर और आत्मा की उन्नति करता हुआ रक्षक हो, उस के लिये आप उत विद्या देंचें । जो इस से विपरीत लम्पट दुष्टाचारी निन्दक हो वह विद्या अहण में अधिकारी नहीं होता, यह जानो । आप विद्वान् उपदेशकों को उचित है कि सदा सर्व प्रकार का उपदेश अद्वानी मनुष्यों को करते रहा करें सो आगे कहते हैं ॥

ओं—पाहि नो अग्न एक्या पहुत द्वितीयया ।

पाहि गीर्भिस्तस्तुभिरुर्जामृपते पाहि चतस्तुभिर्वसो ॥

यजु० थ० २७ म० ४३

अर्थ—[ हे वसो=अग्ने त्वम् ] हे सुन्दर वास देने हारे अग्नि के तुल्य तेजस्विन् । विद्वन् ! आप [ एक्या नः पाहि ] बचम शिक्षा से हमारी रक्षा कीजिये [ द्वितीयया पाहि ] हृसरी अध्यापन कियासे रक्षा कीजिये [ दिख्यमिः गीर्भिः पाहि ] कर्म, उपासना और ध्यान की जराने वाली तीन वा-

शिंगे से रक्षा कीजिये [ हे ऊर्जापते ] [ व्यं नः चतस्रभिः उत पाहि ] हे, बालों के रक्षक आप, हमारो धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन का विज्ञान कराने वाली चार प्रकार की वाणी से भी रक्षा कीजिये ॥

**भावार्थ—**सत्यवादी धर्मात्मा आप जन उपदेश करने और पढ़ानेसे भिज किसी साधनको मनुष्य का कल्याण कारक नहीं बनते, इस से नित्य प्रति अव्यानियों पर कृपा कर ददा उपदेश करते और पढ़ाते हैं ॥

## ब्रह्मविद्या का अधिकारी कौन है ।

(उपासनायोग) दुष्ट मनुष्यों को नहीं सिद्ध होता क्योंकि—  
नाविरतोदुश्चरितादाशान्तो नासमाहितः ।  
नाशान्तपानसोवापि प्रश्नानेनमाप्नुयात् ॥

कठोपनिः वल्ली २ मं० २४ ( स० प्र० समू०५ पृ० १२६ )

**अर्थ—**( यः, पुरुषः दुश्चरितात् अविरतः सः एनम् परमात्मानम्, न प्राप्नुयात् ) जो पुरुष दुराचार से पृथक् नहीं वह इस परमात्मा को नहीं प्राप्त होते ( अशान्तः न प्राप्नुयात् ) जिसको शांति नहीं वह भी नहीं पा सकता ( असमाहितः न प्राप्नुयात् ) जिसका आत्मा योगी नहीं वह भी नहीं अशान्त मानस अपि वा न प्राप्नुयात् ) अथवा जिसका मन शान्त नहीं वह भी इस परमात्मा को नहीं प्राप्त होता, किन्तु ( प्रश्नानेन एवम् परमात्मानम् आप्नुयात् ) प्रश्नान ( ब्रह्म विद्या और योगाभ्यास से प्राप्त किये विज्ञान वा आत्मज्ञान ) से इस परमात्मा को प्राप्त होता है । क्यों कि ( ज्ञाते ज्ञानान्त शुक्तिः ) इस वायव से भी सिद्ध है कि ज्ञानके बिना अन्य किसी प्रकार उपमात्मा वा मोक्ष प्राप्त नहीं होता । सो आगे कहा है ।

ओं-एता हि ये विमन्यवः पतन्ति ।  
वस्य इष्टये । ययो न दस्तीवय ॥

अ००७। अ०८। अ०९। अ०१०। स०१। अ०२। स०३। म०४॥

अर्थ—(हे जगदीश्वर ! त्यन्तकृपया ) हे जगदीश्वर ! क्राप की रुपा से (वनः चरनतो विद्यय युरस्थानानि उप उपन्ति न) दींसे पश्ची अपने रहने के स्थानों को छोड़ २ दूर वेश की उड़ जाते हैं वैंसे (मेरे =मध्य वासान् वस्य इष्टये) मेरे निवासस्थान से अत्यन्त धन होने के लिये (विमन्यवः) अनेक प्रकार के क्रोध फरने घाले तुष्टजन(परा यनन्ति हि)दूर हीचले जावें ।

भावार्थ—जैसे उड़ाये हुवे पत्ती दूर जाने वसने हैं वैंसे ही क्रोधी जीव लुभ से दूर गम्ये और मैं उनमे दूर वसूँ, जिस से एमारा उत्तरा सामाज और धनकी दानि कभी न होवे ।

ब्रह्मगाय दूरणों से युक्त पुरुषों को भी ब्रह्मदिवा तो पाया किन्तु अन्य कोई विद्या भी नहीं आती । अन. इन दोपाँ से भी पृथक् रहना ज्ञातीव उचित है । यथा चोक्तग्—

शोलर्यं मद्योहौ च चापलं गोष्ठिंव च ।

स्तवधता चाभिपानित्वं तथाऽत्यागित्यमेव च ॥

ऐते वे सप्त दोपाः स्युः सदा विद्यार्थिनां यताः॥१॥

सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम् ।

सुखार्थी चा त्यजेद्विद्या विद्यार्थी चा त्यजेन्सुखम् ॥

अर्थ—आलस्य अर्थात् शरीर और बुद्धि में जड़ता, नशा, माह नाम किसी वरतु में फंसावट, चपलता और इवर उधर की व्यर्थ कथा करना झुनना, विद्याग्रहण में रुकझाना, अभिमानी होना, अत्यागी होना, ये सात दोष विद्यार्थियों में होते हैं ॥१॥ जो ऐसे हैं, उनको विद्या भी नहीं आती । सुख भोगने

को इच्छा करने वाले को विद्या कहाँ ? और विद्या पढ़ने वाले को चुनौत कहाँ ? इसी लिये विवरनु ब्रह्मी विद्या को और विद्यार्थी विषयसुध की आगा ढाढ़ा ।

## आहार विषयक उपदेश ।

अथ योग जिद्धात्म के लिये आहारविषयक फुल संज्ञित नियम लिखते हैं ।

न त्यश्नतस्तु योगोऽर्थि न चैकान्नमनरनतः ।

न चातिस्त्रमशीलस्य जाग्रनो नैव चार्जुन ॥ ८ ॥

( भ० गी० अ० ६ श्लो० १६ )

अर्थ—हे अर्जुन ! न तो अधिक भोजन करने वाले को योग सिद्ध होता है और न एकाएकी कुछ भी न खाने वाले को, न अधिक सोने वाले पुरुष को और जहाने वाले पुरुष को भी योग सिद्ध कदापि नहों होता ।

इस लिये हठना भोजन करे कि जिस में सम्पूर्ण रस और ताड़ियाँ स्त्रीबंध कर अच्छ प्रकार पचा सके । जिससे बन्दी भक्तार वागन्दा अग्रानवायु न निकले अर्थात् अजीर्ण न होने पावे । यदि अजीर्ण हो तो, जब तक अभ अच्छे प्रकार पचा कर चुवा न लगे, तब तक न खाय, परन्तु थेषु वात तो यह है कि जिस दिन अजीर्ण हो उस दिन फुल न खाय, जब इच्छा हो तब थोड़ा दब्र पीले । कभी कभी केवल दूध पीकर द्रव भी कर लिया करे । विषय में भी भोजन थोड़ा करे, अथवा दूध पीकर ही रहे । भोजन करने से एक घण्टे पश्चात् खल पिये । जाने समय जल थोड़ा पीना चाहिये, सो भाँ

भोजन के मध्य में । यदि भोजन में जल पीने को अव्याप्त न किया जाय तो अच्छा है ।

[ ३६ ]

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तश्वमावद्वोधस्य योगो भवति दुःखदा ॥ २ ॥

भ० गी० अ० ६ श्लो० १७

अर्थ—जो पुरुष युक्तिसे प्रमाण का भोजन नियत समयपर करता है, तथा युक्ति और प्रमाण से ही आने जाने, मार्ग छलने आदि का नियम रखता है, कर्त्तव्य कामों में संयमादि यथोचित नियमों का पालन करता है और नियत समय में नियमानुसार सोता और जागता है, उस पुरुष का योग दुःखनाशक होता है ॥ २ ॥

ओं-प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा  
चक्षुपे स्वाहा शोत्राय स्वाहा वाचे स्वाहामनसे स्वाहा ॥

यजु० अ० २२ म० २३

अर्थ—( यैर्मनुष्यैः ) जिन मनुष्यों के ( प्राणाय ) जो पवन भीतर से बाहर निकलता है उसके लिये ( स्वाहा ) योग विद्यायुक्त किया ( अपानाय ) जो बाहर से भीतर का है उसे पवन के लिये ( स्वाहा ) वैद्यकविद्यायुक्त किया ( व्यानाय ) जो विधि प्रकार के अङ्गों में व्याप्त होता है उस पवन के लिये ( स्वाहा ) वैद्यकविद्यक युक्त वाणी ( चक्षुपे ) जिससे प्राणी देखता है उस नेत्र इन्द्रिय के लिये ( स्वाहा ) प्रत्यक्षप्रमाण युक्त वाणी ( शोत्राय ) जिससे सुनता है उस कर्णेन्द्रिय के लिये ( स्वाहा ) शास्त्रश विद्वान् के उपदेशयुक्त वाणी ( वाचे ) जिससे बोलता है उस वाणी के लिये ( स्वाहा ) सत्य भाषण आदि व्यवहारों से युक्त बोल चाल ( मनसे ) तथा विचार के निमित्त संकल्प और विकल्पदान् मन के लिये [ स्वाहा ] विचार से भरी वाणी [ प्रयुज्यते, ते विद्वासो जायन्ते ] प्रयोग

की जाती है अर्थात् भली भाँति उच्चारण की जाती है वे विद्वान् होते हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य—यष्टि में शुद्ध किये जल, औषधि, पश्चन, अन्न, पञ्च, पुष्प, फल रस, कन्द अर्थात् अरबी, आलू, कसेद्द इतालू और शक्करकन्द आदि एवार्थों का भोजन करते हैं वे नीरोग होकर बुद्धि, वल, आरोग्य और आशु वाले होते हैं।

इस मन्त्र में कई उपदेश हैं। यथा—योगाभ्यास, घैघक-विद्यालुसार स्वान पान का नियम, अवश्चतुष्ठय का अनुष्ठान प्राणाग्नि में हवन, इत्यादि।

## जठराहिन बढ़ाने का उपदेश ।

ओम्—अग्निमीर्द्धा दिवः कक्षत्पतिः पृथिव्या अयम्  
अपार्थं रेतांश्चसि जिन्वति ॥ यज्ञु० अ० १५ म० २०

अर्थ—(यथा) जैसे (हेमन्त ऋतौ) हेमन्त ऋतु में (अयम्)  
यह प्रसिद्ध अग्निः (दिवः) अग्नि (प्रकाश (पृथिव्याः—च—  
मध्ये) और भूमि के बीच (मूर्छा) शिर के तुल्य सूर्यरूप से  
वर्चमान (कक्षत्पतिः सन्) दिशाओं का रक्षक होके (अपार्थ)  
प्राणों के (रेतांश्च) पराक्रमों को (जिन्वति) पूर्णता से रक्षा  
करता है (तथेच) वैसे ही (मनुष्यैः) मनुष्यों को (वलिष्ठैः)  
यत्वान् (भवितव्यम्) होना चाहिये।

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि युक्ति से जठराग्नि को  
बढ़ा संयम से आहार विहार करके नित्यवल बढ़ाते रहें।

## योगभ्रष्ट मनुष्य पुनर्जन्म में भी योगरत होता है।

योगी, योग को यथावद् पूर्ण करने से पूर्व ही मृत्यु को

प्राप्त हो तो उसका योग निष्पत्त नहीं जाता, यह विषय आगे कहते हैं ।

पार्थ नैवेद नायुत्र विनायस्तस्य विचरते ।

नहि कल्याणकृत्कश्चिवदुर्गतिं तातगच्छति ॥ १ ॥

भ० गी० अ० ६ श्लोक ४०

**अर्थ—**अर्जुन ! उस योगभृष्ट पुरुष के कर्मफल का विनाश इस लोक(जन्म) तथा दरलोक (जन्म) में नहीं होता । हे तात शुभकर्म करने वाला कोई भी पुरुष हुनंति को नहीं प्राप्त होता, अर्थात् ममुप्योनि ही प्राप्त होती है । अधोनि [ नीच योनि] में नहीं जाता, अधिवा अनेक प्रकार के दुःसह दुःख भी नहीं सोन्तरा ॥ १ ॥

प्राप्य पुण्यकृत्वानुपित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभूषेऽभिजायते ॥ २ ॥

भ० गी० अ० ६ श्लोक ४१ ॥

**अर्थ—**वह योगभृष्ट पुरुष पुण्यात्मा लोगों के निवास करने वोग्य लोकों को प्राप्त नहर के बहुत वर्षों तक सुख पूर्वक वहाँ वास करके शुद्धात्मक योगी पुण्यशील पवित्र पुण्यात्मा जनों तथा भीमानों के घर में जन्म लेता है ॥ २ ॥

अधिवा योगिनामेन कुले भवति धीमताम् ।

एतद्वि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ३ ॥

भ० गी० अ० ६ श्लोक ४२

**अर्थ—**अधिवा द्विद्विमान योगियों के कुलमें ही जन्म पाना है । जगत् में योगियों के कुल में जो ऐसा जन्म मिलता है, सो अति दुर्लभ है ॥ ३ ॥

वत्र तं बुद्धि संयोगं लभने पौर्वदैहिकस् ।  
यतते च ततो भूरः संसिद्धौ दुरुनन्दन ॥ ४ ॥

भ० गी० अ० ६ श्लोक थ३

अर्थ—बहाँ अथात् अनाह्यों, राजायों वा योगियों के कुल में उस ही पूर्व देह सम्बन्धी बुद्धि संयोग को प्राप्त होता है, और फिर योग की सम्पद्यता सिद्धि के लिये अधिक अत्यन्त फरता है ॥ ४ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव द्विते ह्यवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मानिवत्ते ॥ ५ ॥

भ० गी० अ० ६ श्लोक थ४

अर्थ—विवश अथात् येश्वर्यादि भोगों में फंसा हुआ होने पर भी पूर्व जन्ममें किये योगाभ्यास के संस्कार से प्रेरित हो कर वह पुरुष अवश्यमेव योगाभ्यास करनेको आकर्षित होता है और योग का जिज्ञासु होने मात्र से भी शब्द ब्रह्म का उल्लङ्घन कर जाता है ॥ ५ ॥

शब्द ब्रह्म के उल्लङ्घन करने का अभिशाय यह है कि ब्रह्मका वाचक और शब्द स्पी महामन्त्र का जाप करते करते, सचिकल्प समाधियों को सिद्ध करता हुआ, उन के परे जो निर्दिकल्प समाधि है, वहाँ तक पहुँचकर मुक्ति को प्राप्त करता है

“ओ॒श्म्” यह शब्द, ब्रह्म का परम उत्कृष्ट नाम है । अतः शब्द ब्रह्म कहाँगा है क्यों कि इस से बढ़ कर उच्च काष्ठा का अन्य कोई शब्द नहीं । अतः यह शब्दों में सब से श्रेष्ठ वा बड़ा होने के कारण शब्द ब्रह्म है ॥

योग अस्ति पुरुष आगले जन्म में फिर योग के साथनों में ही तत्पर होता है, इस विषय का बेदोक प्रमाण आगे लिखा जाता है ।

थ्रो—विधेम ते परमे जन्यन्ननग्ने विधेम स्तोष्मैश्वरे  
सधस्थे । यस्मात्त्रोनेलहारिया यजे तं प्रत्वे हवीथंपि  
जुहुरे समिद्दे । य० अ० १७ ग० ७५ ॥

**अर्थ—**( हे अग्ने = योगिन् ) हे योग संस्कार से हुए कर्म  
को सूख करने वाले योगी । ( ते परमे जन्मन् = जन्मनि ) तेरे  
सब से अति उत्तम योग के संस्कार से उत्पन्न हुवे पूर्व जन्म  
में धा ( त्वे = त्वयि वर्त्तमाने अवरे = अर्धाच्चीने ) तेरे वर्त्तमान  
जन्ममें तथा आगे होने वाले जन्ममें ( सधस्ये वर्त्तमाना वयम् )  
एक साथ स्थान में वर्त्तमान हम लोग ( स्तोमः विधेम ) स्तु-  
तियों से संस्कार पूर्वक तेरो सेवा करें ( त्वम् अस्मान् ) तू हम  
लोगों को ( यस्मात् योने : उदारिथ ) जिस स्थान से अच्छे  
अच्छे साधनोंके सहित प्राप्त हो [ तम् ] उस [ योनिम् ] स्थान  
फा ( अहम् ) मैं ( प्रयजे ) अच्छे प्रकार ग्राप हौऊ और [ थथा  
होतारः समिद्दे ] जैसे हाँम करने धाले लोग अच्छे प्रकार  
जलते हुए [ अग्नौ ] अग्नि मैं [ हवींपि ] होम करने योग्य  
वस्तुओं को ( जुहुरे ) होमते हैं [ तथा योगाग्नौ हुःख समू-  
हस्य होमं ] वैसे योगाग्नि मैं हम लोग हुःख समूहों के होम  
फा ( विधेम ) विधान करें ॥

**भावार्थ—**इस संसार में योग के संस्कार से युक्त जिस  
जीव का पवित्र भाव से जन्म होता है, वह संस्कार की प्रब-  
ल्लता से योग ही को जानने की चाहना करने वाला होता है,  
और उस का जो सेवन करते हैं वे भी योग की चाहना करने  
वाले होते हैं । उक्त सब योगिजन जैसे अग्नि इन्धन को जला-  
ता है, वैसे समस्त हुःख अशुद्धि भाव को योग से जलाते हैं ॥

इस मन्त्र से पुनर्जन्म सिद्ध होता है ॥

स्तनि हितमरण पुरुष को प्राणश्रयाण समयमें किस प्रकार  
परमात्मा का स्परण करना चाहिये, सो आगे फहते हैं ।

## मरण समय का ध्यान

ओ—वायुरनिलममृतमयेदं भस्मान्तश्शरीरम् ।

ओऽम् क्रतो स्मर विलवे स्मर कृतश्चस्मर ॥

यजु० अ० ४० मन्त्र १५

अर्थ—[ हे क्रतो त्वं शरीर स्याग समये ) हे कर्म करने वाले जीव । तू शरीर कूटते समय [ ओऽम् ] ओऽम् इस नाम वाच्य ईश्वर का ( स्मर ) सरण कर [ कलीवे ] अपने सामर्थ्य के लिये [ स्मर=परमात्मनं स्वस्वरूपं च सर ] परमात्मा और अपने स्वरूप का स्मरण कर [ कृतं ] अपने किये का [ स्मर ] स्मरण कर अत्रस्थः ) इस संस्कार का [ वायुः ] धनद्यादिरूप वायु [ अनिलम् ] कारण रूप वायु को और [ अनिलः ] कारणरूप वायु ( अनृतं ) अविनाशी कारण को [ धरति ] धारण करता है [ अथ ] इस के अनन्तर [ इदम् शरीरम् ] यह नष्ट होने वाला सुखादि का आश्रय शरीर ( भस्मान्तं भवति ) अन्त में भस्म होने वाला होता है ( इति विवानीति ] ऐसा जानो ।

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि जैसी मृत्यु समयमें धित्र की वृत्ति होती है और शरीर से आत्मा का पृथक् होना होता है वैसे ही इस समय भी जानें । इस शरीर को जलाने पर्यन्त किया करें । जलाने के पश्चात् शरीर का कोई संस्कार न करें बर्चमान समयमें एक परमेश्वर ही की आङ्गाका पालन, उपासना और अपने सामर्थ्य को बढ़ाया करें । किया हुआ कर्म निष्पक्ष नहाँ होता ऐसा मान के धर्म में रचि और अधर्म में अप्रीति किया करें ॥

## मृहण रामय की प्रार्थना ।

ओ—पुनर्मनः पुनाराद्युर्प आगन् पुनः प्राणः पुन-  
रात्पा म आगन्पुनव्यज्ञुः पुनः श्रीचन्द्र आगन् । वैस्वा-  
नरोऽश्रद्धवस्तनूपा आंशन्नेः पातुदुरितादव्यात् ॥१५॥

यजु० अ० ४ मन्त्र १५ ख० प० २०३

अर्थ—( हे जगदीश्वर भवद्गुग्हेण सम्बन्धेन वा विद्या-  
दिष्टेष्ट शुण युक्तं चिक्षानसाधकम् मनः आयु च जागरण अर्थात्  
श्यनानन्तरं छिन्निये जन्मनि पुनर्जन्मनि वा पुनः पुनः मे आगन्  
प्राप्नुयात् ) हे जगदीश्वर ! आपकी हृषि वा सम्बन्ध से विद्या  
आदि श्रेष्ठ शुण युक्त तथा चिक्षान साधक मन और आयु जा-  
गने पर अर्थात् सोने के अन्त में दूसरे जन्म में वा उत्तर जन्म  
लेना पड़े तब उद्दैव मुझ को प्राप्त हो [ प्राणः = शरीर धा-  
रकः आत्म = अतति सर्वत्र व्याप्तोति इति सर्वान्तर्यामी पर-  
मात्मा स्वस्वभावो मवात्मा विचार शुद्धः सन् मे पुनः२ आ =  
समन्तात आगन् प्राप्नुयात् ) शरीर को आधार प्राण, सब में  
व्यापक सब के भीतर की सब वानों को जानने वाले परमात्मा  
का चिक्षान वा अपनी स्वभाव अर्थात् मेरे आत्मा का विचार  
शुद्ध होकर, मुझ हो वारंवार [ पुनर्जन्म में ] सब ओर से  
अच्छे प्रकार प्राप्त होवे [ चक्षः = चष्टे वेन तद्र प्राहकमिन्द्रि-  
यम् श्रोत्रम् = शृणोति शब्दानयेन तच्छब्दप्राहकाभन्द्रियम् पुनः  
पुनः मनुष्यदेहधारणानन्तरम् मे = महाम् श्रा आगन् आस्मिमु-  
ख्येन प्राप्नुयात् ] देखने के लिये नेत्र शब्द का ग्रहण करने  
वाला कान, मनुष्य देह धारण करने के पश्चात् मुझ को सब  
प्रकार प्राप्त हो ( अदब्धः = हसितुमनहे दम्भादि दोपरहितः  
तनूपाः = यः शरीरमात्मानं च रक्षात्, वैश्वानरः = शरीरनता

**जठराग्निः सर्वस्थ नता परमेश्वरा व सकल जगतानयनकर्त्ता]**  
 हिंसा करने के अवोग्य दर्शनादि होप रहित शरीर वा आत्मा  
 की रक्षा करने वाला. शरीर को प्राप्त होने वाला, जठराग्नि  
 वा सब विश्व को ग्रास होने वाला परमेश्वर सकल विश्व में  
 विराजमान ईश्वर [ अग्निः = अन्नस्था विज्ञानानन्दस्वरूपः  
 परमेश्वरः सर्वं पापं प्रणाशकः ] सब के हृदय में विराजमान  
 आनन्दस्वरूप और सब पापोंको नष्ट कर देने हारा [ श्वद्यात्  
 पापाचरणात् दुर्सितात् = पापजन्यात्यासव्याद् दुःखाद् दुष्कर्मणा  
 वा ) पाप कर्मों से उत्पन्न हुवे दुःख वा दुष्ट कर्मों से [ पातु =  
 रक्षा ] रक्षा करे।

**भावार्थ—** जब जीव मरण आदि व्यवहार को प्राप्त होते हैं  
 तब जो जो मन आदि इन्द्रिय नाश हुवे के समान होकर फिर  
 जगने पर वा जन्मान्तर में जिन कार्य करनेके साधनों को प्राप्त  
 होते हैं, वे इन्द्रिय विद्युत अग्नि आदि के सम्बन्ध परमेश्वर  
 की सत्ता वा व्यवहार से शरीर वाले होकर कार्य करने को  
 समर्थ होते हैं। मनुष्यों को योग्य है कि जो आच्छे प्रकार से-  
 धन किया हुआ जठराग्नि सब की रक्षा करत; और जो उपा-  
 सना किया हुआ परमेश्वर ( जगदीश्वर ) पापरूप कर्मों से  
 अलग कर, धर्म में प्रवृत्त कर, वारंवार मनुष्य जन्म को प्राप्त  
 करा कर, हुयाचार वा दुःखों से पृथक् कर के इस लोक धा-  
 परलोक के सुखोंको प्राप्त कराता है, उस जठराग्नि को उप-  
 युक्त करें और उस परमेश्वर ही की उपासना करें।

## योगी के उपयोगी नियम

जिज्ञासु योगी को किस प्रकार नित्यप्रति अपने आचरणों  
 को वर्तमान रखना चाहिये, सो आगे कहते हैं॥

यमान् सेवेत सतर्तं न नियमान् केवलान् बुधः ।

यमान् पतत्यकुर्वणो नियमान् केवलान् भजन् ॥

मनु० आ० ४ श्लो० २०४ ( स० प्र० समु० ३ प० ४७ )

अर्थ—बुद्धिमान् योगी को उचित है कि अहिंसादि यमों का निरन्तर सेवन करता रहे, किन्तु यमों को लाग कर केवल शौचादि नियमों का हो सेवन न करे, क्यों कि यम रहित केवल नियमों का सेवन करने से मनुष्य धर्म से परित नाम चयुत हो जाता है ॥

अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त यमनियमों द्वारा जो वाह्य और आभ्यन्तर शौच का विधान शास्त्रों में किया गया हैं। उस के प्रधानांश यमों द्वारा आभ्यन्तर शुद्धि करना छोड़ कर जो लोग दम्भ से स्नानादि बाह्यशुद्धिमात्र लोक दिखावे के ही लिये करते हैं, वे धार्मिक नहीं हो सकते। अतः यम नियम दोनों का यथावत् सेवन करना तो उत्तम धर्म है, परन्तु सामान्य पक्ष में यदि नियमों का कोई अंश छूट भी जाय तो वही यमों का परित्याग न करे। तथापि जो कभी नहा धोकर वास्तु शुद्धि भी नहीं करते, उग की अपेक्षा केवल बाह्यमेघ्य का आचरण करने वाले भी किसी अंश में अच्छे ही हैं ।

स्वाध्यायेन ब्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ॥

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते चनुः ॥

मनु० आ० २ श्लो० २८ ( स० प्र० समु० ३ प० ४८ )

अर्थ—( स्वाध्यायेन ) सकल विद्या पढ़ने पढ़ाने ( सन्ध्यो-पासन योगाभ्यास करने ) ( ब्रतैः ) ब्रह्मचर्य सत्यमाषणादि नियम पालने ( होमैः ) अग्निहोत्रादि होम, सत्य का अहंग अंसत्य का ल्याग और सत्यविद्याश्रों का दान देने ( ब्रैविद्येन ), वेदरूप—कर्म, उपासना और ज्ञान, इस तीन प्रकार की

विद्याप्रहण करने ( इज्ज्वया, सुतैः ) पर्हेष्यवादि करने, सुस्त-  
न्तानोत्पत्ति करने ( महवहैश्च ) ब्रह्मयह, देवयह, पितॄयह,  
कैश्वदेव और अतिथियह, इन पाँच महायज्ञों [ यज्ञैश्च ]  
अग्निष्टोमादि यज्ञों [ च ] तथा शिल्पविद्या विद्यानादि यज्ञों  
के सेवन से ब्रह्मी, इर्ण, कियते, रत्तुः ] इस शरीर को ब्रह्मी  
आर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधारकृप ब्राह्मण  
का शरीर करना उचित है । इतने साधनों के विना ब्राह्मण  
शरीर नहीं बन सकता और अपने आत्मरख्यों को सुधारे विना  
अधर्मी पुरुष का योग सिद्ध होना असम्भव है ॥ यथा कहा  
है— कि—

वेदास्त्वावश्य यज्ञाव नियमाव तपासि च ।

त विमदुष्टभावस्य सिद्धि गच्छन्ति कर्तिंचित् ॥

मनु० अ० २ श्लो० १७ ( स० प्र० समु० ३ पू० ४८ )

जो दुष्टाचारी, अजितेन्द्रिय पुरुष हैं, उस के वेद, त्याग  
[ वैराग्य ] यज्ञ, नियम और अच्छे धर्म तुल काम कभी सि-  
द्धि को प्राप्त नहीं होते ॥

इस लिये मनुष्यों को उचित है कि अपने योगाभ्यासादि  
नित्यकर्मों का अनुष्टान प्रतिदिन नियम पूर्वक आवश्यमेव कर  
से रहें, कभी अनध्याय न करें । अतएव महर्षिमनु जी उपदेश  
करते हैं कि—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैतिके ॥

नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥

मनु० अ० २ श्लो० १०५ [ स० प्र० समु० ३ पू० ४९ ]

वेद के पढ़ने पढ़ाने, सन्ध्योपासन, योगाभ्यास, पञ्चमहा-  
यज्ञादि के करने और होममन्त्रोंको पढ़ने में अनध्यायविषयक  
अनुरोध [ आग्रह ] नहीं है ॥

इस ही विषय में अत्यन्त आवश्यकता जताने के हेतु फिर दुर्वारा उक्त भद्रि आग्रहपूर्वक उपदेश करते हैं कि—

नैतिके नास्त्यनध्यायो द्रष्ट्वासत्रं डि रन्मृतम् ॥

ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवष्टुतम् ॥

मतु० अ० ६ श्लो० १०६ ( स० गः सम० ३ प० ८६ )

निल्य कर्म में अनध्याय नहीं होता, जैसे श्वास प्रश्वास सदा लिये जाते हैं वन्द नदी किये जासकते, वैसे योगाभ्यास आदि नित्य कर्म प्रतिदिन करना चाहिये, किसी भी दिन छोड़ना उचित नहीं क्यों कि अनध्याय में भी अग्रिहोआदि उत्तम कर्म किया लुग्रा पुण्यरूप होता है ।

जैसे भूंठ खोलने में सदा प्राप्त और सत्य खोलने में सदा पुण्य होता है, वैसे ही तुरे कर्म में सदा अनध्याय और सत्य कर्म में सदा स्वाध्याय ही होता है ।

अतएव सुदुक्षजनों को अत्यन्त आवश्यकतापूर्वक उचित है कि प्रतिदिन न्यून से न्यून दो घण्टे, अर्थात् १ घण्टे भर तक प्रातःकाल तथा १ घण्टे भर तक ही सार्वकाल में भी 'ध्यान-योग' द्वारा ध्योनावस्थित होकर योगाभ्यास किया करें ।

आरम्भ में धालकों की विद्या, दिक्षा और सुसङ्गति का सथा मुख्यतया वीर्य की रक्षा तथा मादक द्रव्यों से बचाव रखने आदि का प्रबन्ध सत्यार्थग्रकाश के द्वितिय तथा कृतीय समुल्लास में किये उपदेशों के अनुसार कराना चाहिये ॥

अब यह ग्रन्थ परमकारुणिक ईश्वर की कृपा से समाप्त हुआ, इस के अनुसार जो कोई सुभ से निष्कपट होकर जब कभी योग सीखा चाहेगा, उस को मैं भी निष्कपटपूर्वक बताने में किंचित् दुराव न करूँगा, और जो कुछ सिखाऊँगा,

उसको प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध करा कर पूर्ण विश्वास ही करा  
दूँगा ॥

ब्रह्मतिविस्तरेण

## अन्थसमाप्तिदिप्युक्त प्रार्थना ।

ओ—शन्नो मित्रः शंवदणः । शन्नो भवत्वर्यमा ।

शन्त इन्द्रो वृहस्पतिः । शन्नो विष्णुहस्तमः ॥ नमो

ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वयेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।

त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिपम् । शुतमवादिपम् ।

सत्यमवादिपम् । तन्मामाचीत् । तद्वक्तारमाचीत् ।

आवान्माम् । आचीद्वक्तारम् ॥ ओ—य शांतिः ३॥

अर्थ—हे परममित्र स्वीकार करने योग्य कमनीय न्याय-  
कारी सर्वाधिपति सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक और अनन्तवीर्य-  
परमात्मन् ! आप हमारे सर्वप्रकार से शान्तिकर्ता, पुष्टिकर्ता,  
तुष्टिकर्ता, मोक्षानन्दप्रद, न्यायकर्ता, सर्वैश्वर्यप्रद, पालक,  
पोपक और सर्वाधार हैं । आप सबसे बड़े और सर्वशक्तिमान्  
हैं, इस लिये आप हों को हमारा घारेवार प्रणान प्राप्त हो,  
क्योंकि प्रयत्न ब्रह्म केवल आप ही हैं । मैंने इस अन्थ में आप  
ही का होना प्रतिपादन किया है और जो छुछ मैंने कथन  
किया है सो वेदादि सत्य शास्त्रों के अनुज्ञल और निष्ठ खुद्र-  
खुद्यनुसार सत्य ही सत्य किया है । और मैं आप का परम  
उपकार मानता धन्यवाद देता और आपने ताहै कृतकृत्य  
जानता हुआ सुक्षकरण कहता है कि आपने मेरी सर्वदा भले  
प्रकार सब विघ्नों और तापत्रय से यथाचतुरक्षा की । और  
आशा करता है कि जो कोई इस पुस्तक के अनुसार योग्य-

भ्यास करेगा, उसकी भी आप इसी प्रकार सर्वदा सहायता करते रहेंगे ।

इति श्री-परमहंसपरिव्राजकाचार्याणांपरयोगिनां ।

श्रीमद्यानन्दसरवातीस्वामिनांशिष्टेण

लब्धयानन्दस्वामिनासुप्रणीते

ध्यानयोगपक्षाशाख्यग्रन्थे

उपासनायोगोनां

तृतीयोऽध्यायः

सप्तमः ॥

## निज लुकान्त ।

अब मैं इस अन्थ को समाप्त करने से पूर्व कुछ अपना बृच्छान्त बर्णा । करना हूँ, जिससे शात हो जायगा कि वर्तमान सत्य में सच्चे मार्ग के अन्वे रण और प्राप्त करने के निमित्त वया २ दुःख उठाने पड़ते हैं । कौसी २ आपत्तियों से बचना किस प्रकार दुस्तर होना है । अर्थात् धनक्षय, आयुक्षय, वृथाकालक्षय, अपकीर्ति, अनादर, लोकापचाद, स्वजनवन्युतिरस्कार आदि हानियाँ सहन करने पर भी यदि किसी को सांगोपांग, सम्पूर्णक्रियासहित यथार्थ योगविद्या का विद्वान् मिल जायतो अहोभाग्य जानो । इतने पर भी ईश्वर का अत्यन्त अनुग्रह नया उस पुरुष को अपना बड़ा ही सौभाग्य समझा जाहिये कि जिसको ऐसे दारुण समय में कोई विद्वान् उपदेश देने को सन्नद्ध भी हो जाय । क्योंकि प्रथम तो सत्य योग के जानने वा उपदेश करने वाले आप विद्वान् आज कल सर्वत्र प्राप्त नहीं होते दुसरे योग के सीखने की अज्ञा वा

जत्करण्ठा वाले नी बहुन कम लोग होते हैं। तीसरे जिज्ञासुओं को विश्वास हानासी इस समय कठिन इस लिये है कि इत्स्ततः भ्रमण करते हुवे यागदम्भक जन योग की शिक्षा के स्थान में जिज्ञासुओं तथा उनके कुटुम्बिण्डों को अधिक दुःखमें फँसा देते हैं। चौथे योग का कोई अधिकारी जिज्ञासु भी मिलना दुर्लभ है। मैंने भी पूर्वोक्त विधिध आपत्तियाँ भेली हैं, अतः मुझको अत्यन्त आवश्यक और उचित है कि लोगों को अच्छे प्रकार कान खोल कर साधान करदूँ।

**मेरा जन्म सम्बन्ध :** ८८७ विक्रमी में पंजाब देशान्तर्गत अमृनसर नगर निवासी एक क्षत्रिय कुल में हुआ था। मेरे पिता का देहान्त तो तब ही होगया था, जब मैं केवल दो ही वर्ष का था। मेरी विधवा माता ने जिस कठिनाई से मेरा पालन पोषण करके मुझे बड़ा किया, उसका सब लोग अनुमान कर सकते हैं। घर में माता सब प्रकार लाड़ चाब रक्षा वा ताङ्ना तथा धार्यनादि प्रबन्ध भारतदेश की स्त्रियों की योग्यनानुसार रखनी ही थी, परन्तु घर से बाहर जाने पर पहां पिता के समान हित वा आतंक करने वाला कोई न था। यदि इस प्रकार का हित चाहने वाला कोई होता तो कदाचित् मेरा अहित होना सम्भव था। चौदह वर्ष की अवस्था से मैं साधु संन्यासी योगी यति आदि जनों में जाने जाने लगा था। धीरे धीरे उस सत्संग का व्यसन पड़ गया। और मेरा अधिक समय इसी प्रकार के लोगों के साथ व्यतीत होता था।

माता मेरी इस जात से कुछ अप्रसन्न थी रहती थी और लघ मैं घर आता था, तब मुझको इन वादा जी आदि लोगों

मैं आने जाने से वर्जती रहती थी, क्योंकि मेरा पिता कूँड़ा पन्धियों से योग सीखने के नाम से प्रसिद्ध था कि उन्हें उसने प्रबुरतर धन भी गंवाया था और मेरी माता इस बात से कुछा करती थी ।

मैं जब कुछ अधिक बड़ा हुआ तो ईश्वर की लृपा से आजीविका का योग भला चंगा हो गया और माता भी अब अप्रसन्न भहीं रहने लगी क्योंकि धनागम आवश्यकता से अधिक था । दूसरे मा को यह भी पूर्ण चिन्हास था कि मैं दुर्ज्यसनी पुरुषों के संग में फहीं नहीं जाता वा नहता था, तथापि संन्यासी हो जाने का मेरी और से उसको भय भी रहता था परन्तु मैंने अच्छे प्रकार आश्वासन कर दिया था कि जब तक माना जी ! आप जीवित हैं तब तक ऐसा विचार मेरा सर्वथा असम्भव जानो । अन्य लब प्रकार की उसकी सेवा शुश्रुपा मैं करता ही रहना था और यह भी मेरे इस स्वभाव से दुल मानती थी । और मेरा विवाह कर देने के उपाय में रहनी थी । मेरा प्रारब्ध वा सौभाग्य वा परमेश्वर की लृपा वा विरागियों का संग वा पूर्वजन्म के संस्कार, कुछ भी समझलो, ज्यों ज्यों मेरी माता अपने विचार को दृढ़करणे विवाह का प्रथत्न करती जाती थी, त्यों त्यों उक्तरोक्तर मेरा विचार गुहस्थाश्रम धारण करने से हटता जाता था । परिणाम में मैंने विवाह नहीं होने दिया क्यों कि परमात्मा जब सहायक होता है तो अच्छे ही बानक बना देता है । इस प्रकार अनेक मतमतान्तरवादियों, पन्थप्रचारकों से चार्त्तलाप के विवाद और अनेक दम्भी पाखण्डी जनों से मेल मिलाप करते करते अनेक विपक्षियाँ सहते २ अव मैं २६वर्ष का होने आया अहुत धन इतने समय में खोया । भाँति भाँति के मञ्जुष्यों से

मिलते रहने और सब के होंग देखते रहने से मैं अथ पक्का भी हो गया और एकाएकी किसी की वातमें नहीं आने पाता था । मैं वाचाल भी अधिक था अतएव अस्तप्यथानुयायी मिश्यादेषधारी नामगात्र के साथुओं की पोल भी खोलता रहना था उनकी वात देरे सामने नहीं चलने पाती थी, इस लिये वे लोग मुझ से घरराया करते थे ।

प्रतिमा पूजन, तीर्थयात्रा, एकादश्यादि ब्रत आदि वातों में मुझ को प्रथम ही से विश्वास नहीं रहा था इस कारण नास्तिक नाम से मैं प्रसिद्ध हो गया था । यद्यपि साँड़ु, सन्यासी चैरानी दद्दाने वाले लोगों के स्थानपान सन्मान में धनव्यय करने में ग्रीष्म की तीव्र धारा हेमन्त और शिशिर का शीत, वर्षा का वृष्टिजल, हिम, उपल, वायु वेगोत्पन्न आधी, भक्तकड़ आदि सब अपने शिर पर फैले । तभी भूत आनंदकारमय अर्ध रात्र आदि भयंकर हुसमयादि में उनके पास दूर दूर निर्जन बन ( जंगल आदि ) में भूबः प्यास, शीतोष्ण, मानापमान आदि अनेक द्वन्द्वरूप संकट सहन करके उनका सत्संग करने में भी कभी आलस्य न किया, क्योंकि ऐसे जनों से मिलने की अख्ता दत्तनी थी कि मिले विना रहा नहीं जाता था—मानो यही मेरा स्वाभाविक व्यसन हो गया क्योंकि यह निष्ठ्य भी मन में था कि एरमात्मा जब कृपाकटाक्ष मेरी ओर करेंगे, तब इन कठोरों के उठाने के फल में किसी अच्छे साथु योगिजन से भेट ग्रवश्य होगी ।

योगमाग की चर्चा भी बहुधा रहा करती थी और जिस प्रकार के योग के ढकोसलों का सम्प्रति जगत् में प्रचार है उनको सद्या योगमार्ग जान कर बहुत प्रकार की हठयोग क्रियाओं को भी साधन किया, परन्तु मनको वशमें करने का उपाय कोई न पाया ।

कंडापन्थ एक वाममार्ग की शाखा है। ये लोग योगी अस्तित्व हैं जुस गुफा में इनकी कार्यवाही हुआ करती है और वाममार्गियों के समान मांसादि पदार्थों के विचित्र गुप्त नाम इन लोगों दे भी रख लीज़े हैं। यथा—मदिरा को तीर्थ, मांस फो घटन्दि, हुक्के को मुरला, भंग को अमीरस आदि। जो लोग इनसे पृथक्कमार्ग के होते हैं उन को भी कण्ठक कहते हैं इनमें से कुछ गुप्त्यों ने यह फह कर मेरा पीछा किया कि तुम्हारे पिता ने भी हम लोगों से योग सीखा था और वह योगी था, वही योग हम लोग तुम को भी सिखायेंगे, ऐसा विश्वास दिलाते थे और आग्रह करके मुझका गुप्त स्थान में लैजा कर कहने लगे कि—योगी बनने से पूर्व कान फड़वाने पड़ेंगे, उन की यह धात सुन कर मैंने जय कुछ प्रश्नोच्चर किये तो वोले कान फाड़े नहीं जायेंगे, फैबल कहने मात्र को पकड़ कर खींचे जायेंगे। और आटे की मुद्रा बनाकर मेरे कानों में चांध दी और कहा कि तुम इन को कढ़ाई में तलकर आलेना और यहाँ का हाल किसी से न कहना। परन्तु मैंने धाहर आकर उनको लमस्त व्यवस्था प्रकाशित करदी।

कंडापन्थियों के विषय में इतना वर्णन सूक्ष्मता से इसलिये कर दिया गया है। कि लोगों को स्पष्ट द्वात होजाय कि इन लोगों में योग का कोई लक्षण नहीं दर्शता; किन्तु वाममार्गियों का सा दुष्टाचार, अनाचार, अत्याचार, व्यभिचार प्रचलित है। इन लोगों में कुछ भी भद्याभद्य का विचार नहीं है; किन्तु मांस मदिरा का अधिक प्रचार है।

रोशनी देखने, शब्द सुनने वालों या भी सङ्ग मैंने किया। जेती धोती वस्ति आदि पट्टकर्म का भी अभ्यास किया दातौन भी सटका करता था, परन्तु इनमें से किसी किया में चित्त के प्रशान्त था। एकाश दिव्य होने का कोई उपाय न मिला।

मैं सदा दक्षित होनेर शुद्धान्तःकरण तथां सत्यसंकल्पपूर्वक अपने कल्याण के हेतु ईश्वर से यही प्रार्थना किया करता था कि हे परमात्मन् ! किसी सत्यवादी उपदेशक से मेरा संयोग कृपया करा दीजिये तो मेरा कल्याण हो । सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ने मेरी देर छुनी और अनुग्रहपूर्वक जय कि मैं २७ वर्ष की अवस्था को प्राप्त हुआ तब ( ३ ) तीन सालु अकस्मात् मुझे दीख पड़े । मैंने अपने स्वाभाविक नियमपूर्वक जान पानादि से उनका सम्मान करना चाहा, परन्तु उन्होंने यह कहकर नकार किया कि जुधा नहीं है, फिर मैंने आग्रहपूर्वक कहा कि और कुछ नहीं तो थोड़ा २ दूध ही ग्रहण कीजिये । मेरे बहुत कहने पर दुग्ध पान करना स्वीकृत किया । पछात् जब उनको हलवाई की दुकान पर दुग्ध पान करा के मैंने योगविषयक चर्चा छेड़ी तो वार्तालाप से जाना गया कि उन में से एक सालु इस विषय को कुछ समझता है, तो मैंने अपना अभिलाप उससे उपदेश ग्रहण करने का प्रकट किया मेरी तीव्र उत्तरणा जानकर वह सालु बोला कि जो कुछ मैंने अब तक जाना है उसके बता देने में मुझे कुछ भी दुराव-नहीं है । यह कह कर एक स्थान पर जाकर मुझको मनके ठहराने की क्रिया बतलाई और कहा कि नित्य नियम से निरालस्य निरन्तर अभ्यास किया करो । इस विधि के करने से मुझको कुछ काल उपरान्त बड़े परिश्रम से मन कुछ एकाग्र होता जान पड़ा, तब उस क्रियामें श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न हुआ भिर कमशः उत्तरोत्तर चित्त की स्वस्थता की वृद्धि होने लगी और कुछ अकथनीय आनन्द भी प्राप्त हुआ । चिरकाल इस प्रकार व्यतीत होने पर वह सालु फिर मिला और उससे आगे की विधि मैंने जब पूँछी तो उत्तर यह मिला कि एक

वावा जी यहाँ कमीर आते रहते हैं अधिक और कुछ जानना चाहो तो उनसे पूँछना, मैं तुम्हारा उनसे मेल करा दूँगा ।

दैवयोग से दो ही मास के अन्तर्गत वे वावाजी पधारे । मेरा सब बृत्त पूर्वोक्त लाखु ने उन से कह लुनाया और वावा जी ने तब से मेरे ऊपर प्रेम भाव का चर्त्तर्व रक्खा और जो कुछ उन्होंने जब कभी उपदेश किया उस विधि से मैं अभ्यास करता रहता था और वावाजी कदाकोल अर्थात् बहुत कम बहाँ आते थे । जब कभी वे महात्मा बहाँ कुछ दिनों निवास करते थे, मैं यथा शक्ति उनकी सेवा शुश्रूपा भी भक्ति से करता था । उन की टहल के नियत समयों पर चूकता न था, घरन दिवका अधिक भाग उन के पास ही व्यतीत करता था अति परिचय होने के कारण वे मेरे शील स्वभाव आचरण भक्ति आदि से अधिक प्रसन्न हुवे और अधिक प्रेम से योग की युक्तियाँ बताया करते थे । अतएव चीस वाइस वर्ष के समय मैं मैंने तीन प्राणायामों की सम्पूर्ण क्रिया सीख कर पूर्णतो से परिपक अभ्यास कर लिया और वावाजी के सत्संग से योग विषय की और भी अनेक बातें सीखीं, जो गुरु लक्ष्य विषय बिना सत्संग किये पुस्तकों से भी किसी को नहीं प्राप्त हो सकते । और केवल अभ्यास अनुभव तथा श्रवण मनन निदिध्यासन से ही जाने जाते हैं । तदनन्तर वावाजी का स्वर्गवास हो जाने के कारण आगे कुछ उन से न सीख सका ।

वावाजी का अन्त समय जब अति सुन्निहित जान पड़ा तब मैंने शोक युक्त अश्रुपात सहित विह्ल होकर दीनता का वचन कहा “महाराज, मैं आप से बहुत कुछ अधिक सीखने का अभिलाप रखता था मेरी आशा पूर्ण होती नहीं जान पड़ती”

धावाजी ने मेरा आश्वासन करके आशीर्वाद की रीति से कहा कि “वधा । तेरा मनोरथ सिद्ध होगा” यह कहकर थोड़ी देर में उन्होंने यमालय की राह ली ॥

सत्यवादी महात्माओं की वाच्चा सत्य ही होती है । उन का आशीर्वचन मुझ को फलीभूत हुआ, अर्थात् उन का देव लोक हो जानेके दो वर्ष पश्चात् श्री१०० स्वामी दयानन्द सर्वस्वती जी महाराज अमृतसर पधारे और मेरी मनःकामनां पूर्ण हुई, अर्थात् प्राणायाम कि जिस की व्यवस्था किसी से नहीं लगती थी, स्वामी जी ने बात में अति सुगमता से मुझे बताए और मैंने शीघ्र ही उस का भी आश्वास परिपक्व फरलिया । तदनन्तर स्वामीजी महाराज अमृतसर आते रहा करते थे, उन आदर्शों में समाधियों की अनेक क्रिया तथा योग विषयक अन्य उपयोगी वातें स्वामीजीने बहुत सी सिखलाई परन्तु मुझ से भेट होने पश्चात् अधिक से अधिक चार वर्ष ही हुवे होंगे कि स्वामी जी ने भी इस आसार संसार को तज दिया ।

मेरे मन में बहुत दिनों से सन्यासाध्म ग्रहण करने की हच्छा थी, सो उसका अवसर भी अब इस समय निकट आ गया अर्थात् अपनी हृद्धा माता को दिरालभवन विलयती हुई छोड़ कर सन्यास लेना मुझ को अंगीकार न था किन्तु जब अचिरात् उस ने भी अपना जीवन समाप्त कर के मुझको स्वतन्त्र किया, उस समय अमृतसर में आई समाज मधीन ही स्थापित हुआ था और स्वामीजी के सिद्धान्त और मन्तव्य मेरे मन में अच्छे प्रकार बस गये थे । नई वाच्चाओं में उत्साह भी मनुष्यों को अधिक हुआ करता है और स्वा० द० सर्वस्वती प्रणीत संस्कार विधि सम्पादित संस्कार अभी अच्छे प्रकार प्रचलित नहीं हुवे थे और मुझे अपनी माताका संस्कार

विधि पूर्वक फरने एवं उत्कण्ठा भी थी, अतः अमृतसर में प्रथम ही मृतक संस्कार था कि यथायोग्य विधिवत् धूमधाम के साथ किया गया ॥

मेरी माता के इस मृतक संस्कार में जो सुगन्धित पदार्थ होमने से सुगन्धित वायु मण्डल में फैली और वहाँ पर वेद-मन्त्रों की ध्वनी से जो वेदी में हवन हुआ, उस को देख कर कोरा घड़े चकित और विस्मित हुए। यब तब आश्वर्यके साथ आर्यसमाज के संस्कारों की चर्चा होने लगी और समाज का गौरव और प्रशंसा भी लोग करने लगे। माता के शाह कर्म से उत्तरण, निश्चिन्त और स्वतन्त्र हो कर शीघ्र अमृतसर के समाज में ही मैंने संन्यास आश्रम भी उक्त संस्कारविधि संपादित विधि से ग्रहण किया था। इस प्रकार संन्यास आश्रम धारण करने का मेरा संस्कार भी उस समाज में प्रथम ही हुआ। उस वार्ता को अब १५ वर्ष से अधिक समय हुआ और नव से मैं इतस्ततः इस वेषमें भ्रमण करता हूँ। संन्यास धारण करने के पश्चात् दो वर्ष पर्यन्त मैं एकान्त में ध्यान-वस्थित होकर निरन्तर योगाभ्यास करना रहा। इस अधिष्ठित के बीतने पर मेरा मनोरथ पूर्णतया सिद्ध हुआ और जैसा आनन्द इन दो वर्ष में मुझ को प्राप्त हुआ वैसा इस से पूर्व कभी नहीं मिला था। अतः मेरी पूर्ण सन्तुष्टि भी इश्वर की कृपा से मुझ को उपदेश करने की योग्यता भी प्राप्त हुई, तब ही से इस योग मार्ग को उपदेश करना अङ्गीकार किया है। अब मैं वृद्ध अर्थात् ७२ वर्ष की आवस्था को प्राप्त हो चुका हूँ। अतः अधिक भ्रमण करने का कष्ट सहन नहीं होता। आतपव एकत्र स्थायी होकर निवास करने का विचार मैंने अब किया है। यह जो अपना वृत्तान्त सूक्ष्मता से सुख्यता वाच्चाओं से सुगुणिकृत मैंने वर्णन किया है, इस से सब को

( ३४७ )

भली भाँति प्रकाशित होगा कि अनेकर कठिनाई, परिक्षम्, प्रयत्न, उच्चम्, कष्ट सहन करने पर भी इस योग विषय का पता वर्तमान में दुष्पाप्य है। इस ही देश में किसी समय नित्य कर्म के समान इसका अभ्यास किया जाता था। उक्त प्रकार की कठिनता को हूर करके पुनः इस सत्य व्रह्म विद्या के प्रचलित करने के अभिप्राय से तथा परोपकार क्षण बुद्धि से मैंने इस पुस्तक का बनाना स्वीकार किया ॥

जोर कुछ मैंने अपने पूर्वोक्त दो सद्गुरओं श्रीयुत याया जी तथा स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ( ) से सीखा है वह २ सब वयातंश्य इस पुस्तक में प्रकाशित किया है। वे सब क्रियाएँ मैंने अपने अभ्यास रूप पुढ़पार्थ द्वारा सिद्ध की हैं और उन को सर्वथा सच्ची जानता और मानता हूँ और योग्य जिहामु को सिखा भी सकता हूँ। अतएव जो कोई इस पुस्तक के अनुसार मुझ से निष्कपट होकर जब कभी सीखा चाहेगा उस को मैं भी निष्कपट होकर बताने मैं किञ्चित तुराष म कहूँगा और जोर कुछ जितनार सिखलाऊँगा, उसको प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध करा कर पूर्ण विश्वास भी करा दूँगा ॥

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्रसज्जनेषु

समाप्तोयं ग्रन्थः



# महात्मा तथा वीर पुरुषों के जीवन चरित्र ।

क्षेत्रपति शिवाजी ।

आज भारत वर्ष में शिवाजी महाराज को कौन नहीं जानता जिन के प्रयत्नसे ही आज हिन्दू-जाति जीवित है। उन्हीं महात्मा का यह बढ़िया कागड़ पर छपा हुआ जीवन चरित्र है इसके लेखक देश भक्त श्री० लाला लाजपत राय हैं पुस्तक अति ओजस्वनीय है। चौथी घार छपी है। ज्यादा प्रशंसा करनी व्यर्थ है पढ़ कर देखिये मू० ॥=)

क्षेत्रपति श्रीकृष्ण का जीवन चरित्र ।

श्रीकृष्ण के जीवन में जो अनेक प्रकार के कलंक लोग चौर ज्ञात आदि के लगाते थे। लेखक ने वडे प्रमाणों से सब आक्षेपों को सिद्ध किया है। लेखक हैं श्री देश भक्त लाला लाजपतराय। मू० ॥=)

\*वैजयिन—फ्रैंकिलन ।

यह वही देशभक्त है जिस ने अमेरिका की मनुष्यत्व प्राप्त कराया और स्वतंत्र कर विद्वानादि की शिक्षा प्राप्त करा कर समस्त भूमि पर अमेरिका के कौशल रूपों सुर्य को चमकाया। प्रत्येक को इस पुस्तक से शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये ॥)

\*भीष्म पितामाह ।

भारत वर्ष में पेसा कौन मनुष्य है जो वालवहाचारी हृषि प्रतिष्ठ रणवीर भीष्म के नाम से अनभिज्ञ है। आज समस्त भारत वर्ष को उन के नाम पर अभिमान है। इस पुस्तक में उन के जीवन स्वरूपी समस्त घटनाएँ रोचक भाषा में लिखी गई हैं और शरस्वत्या समय का संदृ उपदेश भी अत्यन्त उच्चम लिखा गया है ॥=)



# पढ़ने योग्य अपूर्व पुस्तकें ।

स्वामी दर्शनानन्द जी कृत	भीष्म पितामह	।=)
भाद्र न्यायदर्शन	स्वामी विरजानन्द जी	=)
यैश्वरिक दर्शन	सरस्वती	=)
सांख्य दर्शन	मुहम्मद साहब	॥=)
पाताङ्जलि योगदर्शन भोज	पृथिवी राजचौहान	॥।)
दृती सहित	तांत्रिया भील	॥।)
स्वर्ग में भासभा	दलुमानजी का प्र०भा० ॥॥=)	
स्वर्ग में सबजेष्ट कमेटी =)	" द्वि०भा० ॥=)	
पुराण परीक्षा	स्वामीदयानन्द सरस्वती ॥।)	
भौद्वाला डाक्टर पावरी	हिमतसिंह	=)
का मुवाहिसा	शुद्धधाल मनुस्मृति	।=)
विवाह आदर्श	सन्तान शिक्षा	॥)
स्मृति विज्ञान	शिष्टाचार सोपान	=)
जीवन	बालसत्यार्थग्रन्थ	॥=)
हितोपदेश भाषा काव्य	चालाचोर्घनी प्र० भा०	=)
जीवन चरित्र ।	द्वि० भा०	।=)
छन्दपति शिवा जी	सृ० भा०	।=)
धोगीराज म० श्रीकृष्ण	च० भा०	॥)
हकीकतराय धर्मी	पतिव्रतधर्म	=)
बैज्ञिन फैंकलिन	घरेलुचिकित्सा	।=)
	हषान्त समुच्चय	॥।)

सब प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—

**अध्यक्ष-वैदिक पुस्तकालय**

मुरादाबाद यू. पी.



## COLLECTION OF VARIOUS

- > HINDUISM SCRIPTURES
- > HINDU COMICS
- > AYURVEDA
- > MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

I creator of  
hinduism  
server!



## COLLECTION OF VARIOUS

- > HINDUISM SCRIPTURES
- > HINDU COMICS
- > AYURVEDA
- > MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

I creator of  
hinduism  
server!

